कृष्णदास संस्कृत सीरीज
१३

****

श्रीभट्टोजिदीक्षितविरचिता

# वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी

'इन्दुमती' संस्कृत-हिन्दी-व्याख्या-टिप्पणी (नोट्स) सहित-

लिङ्गानुशासन-पञ्चसन्धि-सुबन्त-स्त्रीप्रत्यय-कारक-विमर्शाख्य-
सरल-सुबोध-विविधपरिशिष्टादिसमलङ्कृता

व्याख्याकारः—

पण्डित रामचन्द्रझा व्याकरणाचार्यः

( कारकान्तो भागः १ )




कृष्णदास अकादमी, वाराणसी-२२१००१

१९७९

प्रकाशक : कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०३६
मूल्य : ८-००



Oriental Publishers & Book-Sellers
Post Box No. 118
K. 37/118, Gopal Mandir Lane,
Varanasi-221001 ( INDIA )

अपरं च प्राप्तिस्थानम्
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० ८, वाराणसी-२२१००१ ( भारत )
फोन : ६३१४५

# सम्पादकीय

## ( द्वितीय संस्करण की मौलिकता )

बहुत ही आमोद-प्रमोद का विषय है कि 'इन्दुमती' संस्कृत टीका सहित प्र० संस्करण छपते ही हाथों-हाथ बिक गया। 'इन्दुमती' टीका की ओर छात्रों की विशेष अभिरुचि को देख कर ही इस बार प्रस्तुत संस्करण की संस्कृत टीका को भी पुनः आद्यन्त संशोधित परिवर्धित करके 'इन्दुमती' हिन्दी टीका, नोट्स तथा छात्रोपयोगी नवीनतम सुबोध परिशिष्टचतुष्टय से भी इस द्वि० संस्करण को अलंकृत कर दिया गया है। तथा स्थलविशेष पर अभ्यास पाठ भी दिये गये हैं और अभ्यास में शुद्धाऽशुद्धि का ज्ञान भी कराया गया है, जिससे उस प्रकरण का पूरा ज्ञान होने पर ही छात्र अग्रिम प्रकरण का अध्ययन आरंभ करेंगे। ध्रुव सत्य है कि इस संस्करण के व्युत्पत्तिवर्धक विविध परिशिष्टों के सम्यक् अध्ययन से सुबोध छात्र संस्कृत व्याकरण के मर्मज्ञ विद्वान् बन सकेंगे।

प्र० परिशिष्ट में उदाहरण-प्रत्युदाहरण पूर्वक पञ्चसन्धियों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया गया है। द्वि० परिशिष्ट में सुबन्त का सम्यक् विवेचन करते हुए—स्त्रीप्रत्यय के व्यावहारिक—आबन्त, ईबन्त तथा नान्त स्त्रीलिंग शब्दस्वरूपों का संग्रह करके छहों कारकों का अलग-अलग सर्वबोधगम्य विवेचन करते हुए प्रत्येक कारक के निर्दिष्ट लक्षणों को यथास्थान कारिकाबद्ध कर दिया गया है। तृ० परिशिष्ट के 'लिंगानुशासन' विमर्श में विशुद्ध लिंगज्ञान के लिये अकारादि क्रम से नित्य पुंल्लिङ्ग, नित्य स्त्रीलिंग, नित्य नपुंसकलिंग तथा उभयलिंगी शब्दों का शब्दकोश भी

दिया गया है–जिससे छात्रों को—'इयं विधिः' इयं सन्धिः, आदि का भ्रमात्मक ज्ञान अब हो ही नहीं सकेगा। अन्तिम च० परिशिष्ट में प्रश्न-पत्रादि का उल्लेख है। आशा है यह सर्वाङ्गपूर्ण संस्करण छात्रों के लिये अतिश्रेयस्कर होगा।

संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार के शुभेच्छु विद्वानों ने इन्दुमती टीका परिशिष्ट सहित इस संस्करण के प्रति हार्दिक उद्‌गार प्रकट करते हुए अपनी बरद लेखनी द्वारा मुक्तकण्ठ से इसकी प्रशंसा की है। जम्मू-कश्मीर के संस्कृत शिक्षा-संस्थान ने तो नामोल्लेखपूर्वक इस संस्करण को ही परीक्षापाठ्य स्वीकृत कर लिया है। तदर्थ उन सभी विद्वानों और संस्थानों का संपादक तथा प्रकाशक दोनों सावनत आभारी हैं।

श्रीबलदेव-जयमंगलाभवन
डी. २/९ धर्मकूप, वाराणसी
वि० सं० २०३६

सम्पादकः
—रामचन्द्र झा

# प्रस्तावना

'संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः' ( काव्यादर्श )

संस्कृत भाषा का ही दूसरा नाम देववाणी है। विश्व की विविध भाषाओं में यही एक भाषा है जो वस्तुतः स्वर्ग से अवतीर्ण हुई है, क्योंकि विश्ववाङ्मय के सब से पुराने अनादि ग्रन्थ वेद का सृजन भगवान् ने सर्वप्रथम इसी भाषा में किया है—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥ (कु० द्वै० भाष्य)

तत्पश्चात् आर्षयुग के साक्षात्कृतधर्मा महर्षियों के अपरोक्ष अनुभव से लेकर आधुनिक काल के बड़े-बड़े भारतीय मनीषियों के सद्विचारों से ओत-प्रोत होने के कारण संस्कृतवाङ्मय का महत्त्व लोकोत्तर हो गया है। भारतीय पुरातत्त्व के विषय में पूर्ण और यथार्थ ज्ञान के लिए संस्कृत ही एकमात्र अनन्यसाधारण साधन है।

## व्याकरण

व्याक्रियन्ते=व्युत्पाद्यन्ते, शब्दा अनेनेति-शब्दज्ञानजनकं 'व्याकरणम्'। जिससे साधु शब्द का ज्ञान हो उसी का नाम व्याकरण है। व्याकरण का ही दूसरा नाम महाभाष्यकार ने 'शब्दानुशासन' रखा है ( अनुशिष्यन्ते=अपशब्देभ्यो विविच्य कथ्यन्ते, साधु शब्दा अनेनेत्यनुशासनं नाम—सूत्र[1]-वार्तिक-भाष्य-व्याख्यानादिस्वरूपं शास्त्रम् )। संस्कृत-वाङ्मय में व्याकरण शास्त्र का स्थान सब से ऊँचा है, क्योंकि व्याकरण शास्त्र

---

१. ( क ) अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

( ख ) संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्॥

( १ ) संज्ञासूत्रं — 'वृद्धिरादैच्' 'अदेङ्गुणः' इत्यादि।

के ज्ञान के बिना वेदार्थ या स्मृति, पुराण, इतिहास, काव्य, कोश आदि किसी भी शास्त्रान्तर का ज्ञान हो ही नहीं सकता। भास्कराचार्य ने कहा भी है—

यो वेद वेदवदनं सदनं हि सम्यग्
ब्राह्म्याः स वेदमपि वेद किमन्यशास्त्रम्।
यस्मादतः प्रथममेतदधीत्य विद्वान्
शास्त्रान्तरस्य भवति श्रवणेऽधिकारी॥

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष इन षडङ्गों में व्याकरण वेद का मुखरूप प्रधान अङ्ग है, जैसा कि कहा है—

मुखं व्याकरणं तस्य ज्यौतिषं नेत्रमुच्यते।
निरुक्तं श्रोत्रमुद्दिष्टं छन्दसां विचितिः पदे॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य हस्तौ कल्पान् प्रचक्षते।

किं बहुना, 'ब्राह्मणेन हि [1]निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इस आगमोक्त वचन का उद्धरण देते हुए भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—

'षट्स्वङ्गेषु प्रधानं व्याकरणं, प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति।

इत्यादि उक्ति से भी सिद्ध होता है कि संस्कृतसाहित्य मात्र के लिए मुख्यतः व्याकरणशास्त्र का ज्ञान सर्वप्रथम नितान्त आवश्यक है।

## व्याकरण का प्रथम प्रवक्ता

व्याकरणवाङ्मय में ऐन्द्र तन्त्र सब से पुराना है। बृहस्पति ने सर्वप्रथम एक हजार वर्ष तक निरन्तर भगवान् इन्द्र को प्रतिपदपाठ द्वारा शब्दोपदेश किया था, जैसा कि महाभाष्य में लिखा है—'बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच'।

---

( २ ) परिभाषासूत्रं—कुव्यवस्थायां सुव्यवस्थासम्पादकम्। यथा—
'आदेः परस्य' 'इको गुणवृद्धी', 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य'। इत्यादि।

( ३ ) विधिसूत्रं—'कृत्तद्धितसमासाश्च' 'रात् सस्य'। इत्यादि।

( ४ ) अतिदेशसूत्रं—'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ', 'तृज्वत्क्रोष्टुः'; इत्यादि।

( ५ ) अधिकारसूत्रं—'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' 'आर्धधातुके'। इत्यादि।

१. इस वचन से सिद्ध होता है कि ब्राह्मणातिरिक्त क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री, शूद्रादि भी सकारण षडङ्ग वेद पढ़ने के अधिकारी हैं (दे० पृ० २३३ का नोट)

वोपदेव ने भी निम्न आठ शाब्दिकों में सबसे पहले इन्द्र का ही नाम लिया है—

इन्द्रश्चान्द्रः काशकृत्स्नाऽऽपिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥

## पाणिनीय व्याकरण

संस्कृतवाङ्मय के व्याकरणों में सम्प्रति पाणिनीय व्याकरण ही एकमात्र सांगोपांग उपलब्ध होता है। इसकी सुन्दर और सुबुद्ध रचना की प्रशंसा विश्व का प्रत्येक विद्वान् मुक्तकण्ठ से करता है। यह प्राचीन आर्ष वाङ्मय की निधि है और भारत की अनुपम देन है। विश्व में अभीतक किसी भी भाषा का व्याकरण इतना सरल और सुपरिष्कृत नहीं बन सका है। यह व्याकरण **'त्रिमुनि-व्याकरण'** नाम से प्रसिद्ध है और इन त्रिमुनियों में पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि यथाक्रम हुए हैं।

## ( १ ) महामुनि पाणिनि

पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'श्रमण' और 'यवन' शब्दों को देखकर पाणिनि को कोई बुद्ध से और कोई यवन से उत्तरवर्ती मानते हैं। इसका समुचित समाधान व्याकरण शास्त्र के मनोनीत इतिहासकार युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने व्या० इतिहास (पृ० १३६) में किया है। मीमांसकजी ने महामुनि पाणिनि को विक्रम से लगभग २८०० सौ वर्ष प्राचीन सिद्ध किया है गणतन्त्रमहोदधि में **शालातुरो नाम ग्रामः सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयः तत्र भवान् पाणिनिः'** इस व्युत्पत्ति से शालातुर नामक ग्राम पाणिनि का जन्म-स्थान लिखा है—जो अधुना पाकिस्तान में 'लाहौर' नाम से प्रसिद्ध है। पाणिनि के पिता का नाम महर्षि पाणि और माता का नाम दाक्षी था। भगवान् पतञ्जलिने भी लिखा है–**दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः'** पाणिनि के गुरु का नाम 'उपवर्षाचार्य था जो नन्दराज के राज्यकाल में 'नालन्दा विश्वविद्यालय' ( बिहार–राज्य ) के सुप्रसिद्ध आचार्य कहे जाते हैं। पाणिनि ने अपनी घोर तपस्या से आशुतोष भगवान् शङ्कर को प्रसन्न[१] कर उनके उपदेश और आदेश

---

१. चित्रपट देखें लेखक के संस्कृतव्याकरण'म् में।

के ज्ञान के बिना वेदार्थ या स्मृति, पुराण, इतिहास, काव्य, कोश आदि किसी भी शास्त्रान्तर का ज्ञान हो ही नहीं सकता। भास्कराचार्य ने कहा भी है—

यो वेद वेदवदनं सदनं हि सम्यग्
ब्राह्म्याः स वेदमपि वेद किमन्यशास्त्रम्।
यस्मादतः प्रथममेतदधीत्य विद्वान्
शास्त्रान्तरस्य भवति श्रवणेऽधिकारी॥

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष इन षडङ्गों में व्याकरण वेद का मुखरूप प्रधान अङ्ग है, जैसा कि कहा है—

मुखं व्याकरणं तस्य ज्यौतिषं नेत्रमुच्यते।
निरुक्तं श्रोत्रमुद्दिष्टं छन्दसां विचितिः पदे॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य हस्तौ कल्पान् प्रचक्षते।

किं बहुना, 'ब्राह्मणेन हि [1]निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इस आगमोक्त वचन का उद्धरण देते हुए भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—**'षट्स्वङ्गेषु प्रधानं व्याकरणं, प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति।'** इत्यादि उक्ति से भी सिद्ध होता है कि संस्कृतसाहित्य मात्र के लिए मुख्यतः व्याकरणशास्त्र का ज्ञान सर्वप्रथम नितान्त आवश्यक है।

## व्याकरण का प्रथम प्रवक्ता

व्याकरणवाङ्मय में ऐन्द्र तन्त्र सब से पुराना है। बृहस्पति ने सर्वप्रथम एक हजार वर्ष तक निरन्तर भगवान् इन्द्र को प्रतिपदपाठ द्वारा शब्दोपदेश किया था, जैसा कि महाभाष्य में लिखा है—**'बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच'।**

---

(२) परिभाषासूत्रं—कुव्यवस्थायां सुव्यवस्थासम्पादकम्। यथा—
'आदेः परस्य' 'इको गुणवृद्धी', 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य'। इत्यादि।

(३) विधिसूत्रं—'कृत्तद्धितसमासाश्च' 'रात् सस्य'। इत्यादि।

(४) अतिदेशसूत्रं—'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ', 'तृज्वत्क्रोष्टुः'; इत्यादि।

(५) अधिकारसूत्रं—'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' 'आर्धधातुके'। इत्यादि।

१. इस वचन से सिद्ध होता है कि ब्राह्मणातिरिक्त क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री, शूद्रादि भी सकारण षडङ्ग वेद पढ़ने के अधिकारी हैं (दे० पृ० २३३ का नोट)

वोपदेव ने भी निम्न आठ शाब्दिकों में सबसे पहले इन्द्र का ही नाम लिया है—

इन्द्रश्चान्द्रः काशकृत्स्नाऽऽपिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ॥

## पाणिनीय व्याकरण

संस्कृतवाङ्मय के व्याकरणों में सम्प्रति पाणिनीय व्याकरण ही एकमात्र सांगोपांग उपलब्ध होता है। इसकी सुन्दर और सुबुद्ध रचना की प्रशंसा विश्व का प्रत्येक विद्वान् मुक्तकण्ठ से करता है। यह प्राचीन आर्ष वाङ्मय की निधि है और भारत की अनुपम देन है। विश्व में अभीतक किसी भी भाषा का व्याकरण इतना सरल और सुपरिष्कृत नहीं बन सका है। यह व्याकरण **'त्रिमुनि-व्याकरण'** नाम से प्रसिद्ध है और इन त्रिमुनियों में पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि यथाक्रम हुए हैं।

## ( १ ) महामुनि पाणिनि

पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'श्रमण' और 'यवन' शब्दों को देखकर पाणिनि को कोई बुद्ध से और कोई यवन से उत्तरवर्ती मानते हैं। इसका समुचित समाधान व्याकरण शास्त्र के मनोनीत इतिहासकार युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने व्या० इतिहास (पृ० १३६) में किया है। मीमांसकजी ने महामुनि पाणिनि को विक्रम से लगभग २८०० सौ वर्ष प्राचीन सिद्ध किया है गणतन्त्रमहोदधि में **शालातुरो नाम ग्रामः सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयः तत्र भवान् पाणिनिः'** इस व्युत्पत्ति से शालातुर नामक ग्राम पाणिनि का जन्म-स्थान लिखा है—जो अधुना पाकिस्तान में 'लाहौर' नाम से प्रसिद्ध है। पाणिनि के पिता का नाम महर्षि पाणि और माता का नाम दाक्षी था। भगवान् पतञ्जलिने भी लिखा है–**दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः'** पाणिनि के गुरु का नाम 'उपवर्षाचार्य था जो नन्दराज के राज्यकाल में 'नालन्दा विश्वविद्यालय' ( बिहार–राज्य ) के सुप्रसिद्ध आचार्य कहे जाते हैं। पाणिनि ने अपनी घोर तपस्या से आशुतोष भगवान् शङ्कर को प्रसन्न[1] कर उनके उपदेश और आदेश

१. चित्रपट देखें लेखक के संस्कृतव्याकरण'म् में।

से गुरु के आश्रम ( बिहार-राज्य ) में ही अष्टाध्यायी-सूत्रपाठ, धातुपाठ, गण-पाठ, लिङ्गानुशासन आदि की रचना की थी। प्रा० आचार्य[१] ने कहा भी है—

**येनाऽक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।**
**कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः॥** ( अ० मंगल )

## अक्षरसमाम्नाया=माहेश्वरसूत्राणि

आधुनिक व्याकरण शास्त्र का इतिहासकार तथा तदनुयायी सि० कौमुदी के एक हिन्दी टीकाकार का मत है कि सि० कौमुदी का 'इति माहेश्वराणि सूत्राणि' अप्रमापक वचन है। उनका कहना है कि आचार्य नन्दिकेश्वर के **'नृत्तावसाने'** ( पृ० ११ का ) श्लोक भी आर्ष ग्रन्थों में नहीं है। पता नहीं इन विद्वान् के मत में आर्ष ग्रन्थ किसे कहा जाता है। अति प्राचीन **'रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरणम्'** नामक ग्रन्थ[२] तथा आचार्य नन्दिकेश्वर की **'काशिका'** को प्रायः सभी विद्वान् आर्ष मानते हैं। अस्तु, सप्तशताधिक वर्षों से विश्वमान्य दीक्षित रचित सिद्धान्त-कौमुदी का 'इति माहेश्वराणि सूत्राणि' को सि० कौमुदी की टीका में ही अनार्ष कहना श्रद्धास्पद प्रतीत नहीं होता।

विद्वान् टीकाकार यह युक्ति भी प्रस्तुत करते हैं कि—'आपिशलि-गार्ग्य-शाकल्य-भारद्वाज—आदि वैयाकरणों के मतों का भी जब पाणिनि वर्णनकरते हैं तो किसी प्रसंग में वे यह भी लिखते कि-मुझे शंकर—प्रसाद से १४ सूत्र प्राप्त हैं।

विद्वान् टीकाकार भी प्रायः यह जानते और मानते ही होंगे कि लोक-परम्परागत यह देखा और सुना जा रहा है कि महापुरुष किसी भी प्रसङ्ग में अपनी तपःसिद्धि के इतिवृत्त का उल्लेख नहीं करते।

महाकवि श्रीहर्ष के बारे में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि उन्होंने मिथिला-मही के महादार्शनिक विद्वच्छिरोमणि उदयनाचार्य को ( जिन्होंने श्रीहर्ष के दिवंगत पिता को शास्त्र-चर्चा में बहुवार अपदस्थ कर दिया था ) शास्त्रार्थ में पराजित करने के उद्देश्य से भागीरथी के तटपर वर्ष भर

---

१. आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयं चाचरते यस्मात् तस्मादाचार्य उच्यते॥

२. अत्यन्त प्राचीन हस्तलिखित दुष्प्राप्य संगीत का मापक यह ग्रन्थ सरस्वतीभवन, वाराणसी में सुरक्षित है।

'चिन्तामणि' नामक महामन्त्र का जप किया और जपान्त में भगवती त्रिपुरा ने प्रत्यक्ष होकर उन्हें अप्रतिम पाण्डित्य का वरदान दिया था। किन्तु महाकवियों में एकमात्र महात्मश्लाघी[१] श्रीहर्ष ने भी अपने उपर्युक्त वरदानसिद्धि के इतिवृत्त का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है।

इसी प्रकार महाकवि कालिदास के बारे में भी जनश्रुति प्रसिद्ध है कि– उन्होंने महाकाली के चरणों पर अपनी[२] जीभ को काट कर चढ़ा दिया और उनके वरदान से सर्वशास्त्र-पारंगत हो गये।

ऐसे ही महाकवि विद्यापति के बारे में भी कहा जाता है कि–भगवान् शंकर[३] विद्यापति का 'उगना' के रूप में आजीवन सेवक बने रहे। महाभाष्य-कार भगवान् पतञ्जलि भी शेषावतार थे ( दे० आगे पृ० १० ) किन्तु इन महामनीषियों ने अपने-अपने ग्रन्थों में उपर्युक्त तपःसिद्धि के बारे में कहीं भी उल्लेख नहीं किया है।

दूसरी युक्ति यह भी दी गयी है कि—'ताण्डव नृत्य' क्रोधावेश में ही होता है, अतः महर्षि पाणिनि की तपश्चर्या के समय शंकर का ताण्डव नृत्य करना असामयिक है'। पर यह युक्ति भी मान्य प्रतीत नहीं होती, इसलिये कि जैसे भगवान् कृष्ण के शंख का ही नाम 'पाञ्चजन्य' है वैसे आशुतोष महेश्वर के नृत्य का नाम ही 'ताण्डव' है। उनका नृत्य चाहे क्रोधावेश का हो या हर्षोद्रेक का हो, उनके नृत्य में ढक्का और डमरु का महानिनाद ही प्रधान रहता है। अत एव महेश्वर के नृत्य का नाम ही 'ताण्डव नृत्य' पड़ा है। दे० रावणरचित 'शिवताण्डवस्तोत्र' में रावणोक्त ताण्डवनृत्यसंबन्धी आनन्दोत्तुंग-तरंग का मधुर प्रसंग।

## ( २ ) महामुनि कात्यायन

कात्यायन और पाणिनि दोनों समकालिक सतीर्थ्य थे। पूर्वाचार्यों ने कात्यायन को महर्षि याज्ञवल्क्य का आत्मज माना है। उनके मत से स्मृतिकार और

---

१. दे० नैषध, सर्ग २२ के अन्तिम कविप्रशस्ति श्लोक १–४

२. दे० 'कालिदास–जीवनवृत्त' लेखक के रघुवंश–इन्दुमती टीका की भूमिका का पर्यालोचन। ३. दे० 'विद्यापति–उगना' का इतिवृत्त, लेखक के 'वर्षकृत्य-प्रथम भाग' का आत्म-निवेदन।

वार्तिककार दोनों एक ही कात्यायन हैं। 'प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः' इस महाभाष्य से सिद्ध होता है कि कात्यायन दाक्षिणात्य थे। पर उसकी पुष्टि निम्नोक्तरीति से स्कन्दपुराण के वचन का समन्वय करने पर ही हो सकती है।

स्कन्दपुराण में लिखा है—'मिथिला के ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्य का एक आश्रम ( पीठ ) आनर्त ( गुजरात ) प्रदेश में भी था।' संभव है उसी प्रकार महामुनि कात्यायन का भी कोई आश्रम महाराष्ट्र प्रदेश में रहा होगा और वहीं पर उनका समय व्यतीत होने से लोक में वे दाक्षिणात्येन व्यवहृत हो गये होंगे।

वार्तिककारों में महामुनि कात्यायन सब से श्रेष्ठ हुए। उनके वार्तिक निम्नोक्त लक्षणों से सर्वथा पूर्ण हैं—

**उक्ताऽनुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।**
**तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः॥**

कात्यायन का वार्तिकपाठ पाणिनिव्याकरण का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इसके बिना पाणिनीय व्याकरण अपूर्ण ही रह जाता और यही कारण है कि अब पाणिनीय व्याकरण के आलोक में अन्य कोई भी व्याकरण पनप नहीं सका है।

महामुनि कात्यायन का ही दूसरा नाम 'वररुचि' है। ये स्मृतिकार और वार्तिककार ही नहीं, अपितु महाकवि भी थे। इनके 'स्वर्गारोहण' नामक काव्य की प्रशंसा अनेक ग्रन्थों में की गयी है, जैसा कि लिखा है—

**यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि।**
**काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः॥**
**न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षीसुतस्येरितवार्तिकैर्यः।**
**काव्येऽपि भूयोऽनुचकार तं वै कात्यायनोऽसौ कविकर्मदक्षः॥**

## ( ६ ) शेषावतार भगवान् पतञ्जलि

शेषावतार भगवान् पतञ्जलि का महाभाष्य[1] व्याकरण का सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है सभी वैयाकरण इसके सामने नतमस्तक हो जाते हैं

---

१. सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥

वस्तुतः यह ग्रन्थ न केवल व्याकरणशास्त्र का ही प्रामाणिक ग्रन्थ है, अपितु समस्त संस्कृतवाङ्मय का आकर ग्रन्थ माना जाता है। भर्तृहरिने अपने वाक्यपदीय में लिखा है—

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥

भगवान् पतञ्जलिने मनोवाक्कायदोषनिरसनार्थ पातञ्जलयोगसूत्र, पाणिनीय महाभाष्य और चरकसंहिता—इन तीनों ग्रन्थों की रचना की, जैसा कि कैयट ने अपनी महाभाष्य की टीका के मङ्गलाचरण में लिखा है—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
येनाऽकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोस्मि॥

भगवान् पतञ्जलि के विषय में निम्नोक्त इतिवृत्त प्रसिद्ध है—

आचार्यों का कहना है कि पाणिनि और कात्यायन दोनों उपवर्षाचार्य नामक एक ही गुरु के शिष्य थे। अध्ययन के समय कात्यायन की प्रखर बुद्धि के सामने बहुधा पाणिनि को हतप्रभ हो जाना पड़ता था। अतः पाणिनि तीर्थराज प्रयाग में अक्षयवट के नीचे—जहाँ सनकादि ऋषिगण तप कर रहे थे, वहीं जाकर घोर तपस्या करने लगे। कुछ दिनों के पश्चात् उन लोगों की विकट तपश्चर्या से प्रसन्न होकर आशुतोष भगवान् शंकर ने ताण्डवनृत्य करते हुए उन लोगों को दर्शन दिया और १४ बार अपना डमरु बजाकर उन तपस्वियों का अभीष्ट सिद्ध किया, जैसा कि नन्दिकेश्वरविरचित काशिका में लिखा है—

नृत्ताऽवसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥

पाणिनि को उसी डमरु के शब्दों से चतुर्दश माहेश्वरसूत्र उपलब्ध हुए और उन्हीं सूत्रों के आधार पर पाणिनि ने सुबुद्ध अष्टाध्यायी की रचना की, जिसे देखकर कात्यायन चकित हो उठे और तत्क्षण ही उन्होंने अष्टाध्यायी में दोष निकालने की प्रतिज्ञा साध ली। भगवान् महेश्वर की तपश्चर्या से उन्होंने भी अष्टाध्यायी के अनुक्त-पुनरुक्तादि दोषों के उद्धरणस्वरूप पाणिनीय व्याकरण पर वार्तिक का एक विशाल ग्रन्थ ही रच डाला। पाणिनि को कात्यायन का यह द्वेष असह्य हो उठा। उन्होंने आवेश में आकर कात्यान को तत्क्षण दिवङ्गत

हो जाने का शाप दे दिया। कात्यायन भी इसे सह न सके। उन्होंने भी तमक कर आचार्य पाणिनि को सूर्योदय से पहले सिंहद्वारा ग्रसित हो जाने का महाशाप दे दिया। फलस्वरूप दोनों आचार्य उसी दिन त्रयोदशी को शिवलोक प्रस्थान कर गये[1] (इसीलिए वैयाकरण लोग त्रयोदशी को भी अनाध्याय मानते हैं।)

महामुनि पाणिनि और कात्यायन के निधन के पश्चात् शनैः-शनैः पाणिनीय व्याकरण लुप्तप्राय होने लगा और उसकी जगह मुकुटाचार्य पाणिनीय व्याकरण के आधार पर ही अपने एक नये व्याकरण का सृजन करने लगे।

आशुतोष भगवान् शंकर को अपना अक्षरसमाम्नाय अत्यन्त प्रिय है (अभी भी प्राचीन आचार्य चतुर्दश सूत्रों से भगवान् शंकर का स्नपन करते हैं)। उन्होंने पाणिनि के शब्दानुशासन को नष्ट होते हुये देख शेषशायी भगवान् से प्रार्थना की कि पाणिनि-व्याकरण पर महाभाष्य रचने के लिये शेषनाग भूतल-पर 'चिदम्बरम्' में अवतार ग्रहण करें।

उस समय चिदम्बरं प्रदेश में 'गोणिका' नाम की महासती प्राज्ञ पुत्र की कामना से महेश्वर की आराधना कर रही थी। एक दिन (आज से ३२०० वर्ष पूर्व) तपस्विनी माता गोणिका भगवान् सूर्य को अर्घ्य दे रही थी कि गोणिका की अञ्जलि में भगवान् शेष अवतीर्ण (प्रकट) हो गये। सर्प के रूप में उन्हें देखते ही घबड़ाकर माता गोणिका ने पूछा—

१. गोणिका—**कोर्भवान्** ?

२. शेषः—**सप्पोऽहम्** ,

३. गोणिका—**रेफः क गतः** ?

४. शेषः—**त्वयाऽपहृतः** ।

यह सुनते ही माता गोणिका आनन्द से विभोर हो उठी। अनन्तर ही उसने अपनी अंजलि में शेष को हँसते हुए बालक के रूप में पाया और उसी दिन उसका नाम 'पतञ्जलि' रख दिया। कुछ ही दिनों में वे पतञ्जलि महेश्वर

---

१. पञ्चतन्त्र में लिखा है—

सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः,
मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम्।
छन्दोज्ञाननिधिं जघानमकरोद् वेलातटे पिङ्गलम्,
अज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गणैः॥

अनुग्रह से व्याकरण शास्त्र में पारङ्गत होकर विश्व की विभूति बन बैठे। दिन-प्रतिदिन हजारों की संख्या में आ-आकर शिष्यगण उनसे पाणिनीय व्याकरण पढ़ने लगे।

एक दिन पतञ्जलि ने अपने शिष्यों से कहा—'आज (य) जवनिका के भीतर से मैं पाणिनि की अष्टाध्यायी और कात्यायन के वार्तिकों के ऊपर एक साथ ही महाभाष्य की रचना करूँगा, आपलोग ध्यान से सुनें और लिखते जायँ। पर यह बात स्मरण रहे कि 'आप में से कोई भी व्यक्ति प्रवचन के समय जवनिका के भीतर मुझे देखने का दुःसाहस न करें, अन्यथा महान् अनिष्ट होगा। इतना कहकर पतञ्जलि ने जवनिका के भीतर शेष का रूप धारण कर सहस्र-मुखों (फणों) से एक ही साथ **'तर्हि वक्तव्यम्, न वक्तव्यम्'** इत्यादिरूपेण महाभाष्य का प्रवचन आरम्भ कर दिया और उनके शिष्यगण लिखने लगे। 'कृदतिङ्' सूत्र का महाभाष्य पूर्ण हो ही रहा था कि एक शिष्य कौतूहल से भगवान् पतञ्जलि को जवनिका के अन्दर झाँकने का दुःसाहस कर बैठा और त्वरित् ही सहस्र-फणामण्डल मण्डित भगवान् शेषावतार के अत्युग्र विष की ज्वाला से सभी शिष्यगण एक ही साथ भस्मसात् हो गये।

भाग्यवश उस बिप्लव के समय से कुछ ही पूर्व एक शिष्य अत्यन्त तृषार्त होकर जल पीने के लिए आश्रम से बाहर नदी तटपर चला गया था, अतः विप्लव के पश्चात् वह पुनः उपस्थित हुआ। उसे देख पतञ्जलि ने अपूर्ण पाठ के मध्य से उठ जाने के अपराध में उसे ब्रह्मपिशाच होने का शाप दे दिया। पतञ्जलि के शाप से वह शिष्य अत्यन्त घबड़ा उठा और गुरु के चरणो पर गिर कर क्षमाप्रार्थना करने लगा। अन्त में पतञ्जलि ने कहा—घबड़ाओ मत, देखो, इस वट-वृक्ष पर तुम निवास करना और इस वृक्ष के नीचे से जो चले उससे **'पचेर्निष्ठायां किं रूपम् ?'** ऐसा प्रश्न करना। इसके उत्तर में जो व्यक्ति **'पक्वम्'** ऐसा कहे, उसको मेरा महाभाष्य पढ़ा देना। बस उसी दिन तुम इस शाप से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लोगे। इतना कहकर भगवान् पतञ्जलि वहीं पर अन्तर्हित हो गये और वह ब्रह्मपिशाच उसी वट-वृक्ष पर रहने लगा।

एकाएक भगवान् पतञ्जलि के अन्तर्हित हो जाने पर पाणिनीय व्याकरण शास्त्र पुन: ऐसा लुप्त हुआ कि सभी लोग उस ब्रह्मपिशाच के प्रश्न के उत्तर में **'पक्तम्'** ( अशुद्ध ) कहने लगे ।

बहुत दिनों के पश्चात् पाणिनीय व्याकरण का एकमात्र जिज्ञासु चन्द्रगुप्त नाम का पण्डित इतस्तत: भगवान् पतञ्जलि का अन्वेषण करता हुआ उस वट-वृक्ष के नीचे आ पहुँचा और उसने ब्रह्मपिशाच के प्रश्न का सटीक उत्तर ( पक्वम् ) दे दिया । उसका उत्तर सुनते ही ब्रह्मपिशाच अपने गुरु भगवान् पतञ्जलि का वचन स्मरण कर बोल उठा—'अहो ! तुम तो पाणिनीय वैयाकरण जान पड़ते हो, क्या तुम्हें पातञ्जलमहाभाष्य पढ़ने की इच्छा है ?' यह सुन पण्डित चन्द्रगुप्त अतिप्रसन्न हुआ और आसन लगाकर उस वृक्ष के नीचे बैठ गया । तदनन्तर वह ब्रह्मपिशाच वट-पत्र के ऊपर अपने नखाग्र से महाभाष्य लिख-लिख कर गिराने लगा और चन्द्रगुप्त उठ कर उसे बटोरने लगा । इतने में एक बकरी आई और इधर-उधर बिखरे हुए कुछ वट-पत्रों को खा गयी । इसीलिये महाभाष्य में यत्र-तत्र **'अजाभक्षितमेतत्'** ऐसा लिखा है ।

महाकवि श्रीहर्ष ने भी महाभाष्य के विषय में निम्न पद्य गाया है—

**परिखावलयच्छलेन यः न परेषां ग्रहणस्य गोचरा ।**
**'फणिभाषितभाष्यफक्किका' विषमा कुण्डलनामवापिता ।।**

## अष्टाध्यायी के [1]व्याख्याकार

पाणिनीय अष्टाध्यायी के ऊपर आचार्य कुणि, आचार्य व्याडि आदि कतिपय प्राचीनाचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार की व्याख्या आदि की रचना की है, परन्तु **'त्रिमुनिव्याकरणम्'** सिद्ध हो जाने के पश्चात् सर्वप्रथम महापण्डित जयादित्य और वामन ने वि० सं० ६५०–७०० के मध्य 'काशिकावृत्ति' लिखी । परन्तु उससे बालकों को व्याकरण का परिज्ञान सरलतया नहीं हो पाता था, अत: वि० सं० १४०० में आठों व्याकरण के पं० रामचन्द्राचार्य ने 'प्रक्रिया-कौमुदी' की रचना की । किन्तु इसमें भी अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों का

१. पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना ।
आक्षेपश्च समाधानं व्याख्यानं षड्विधं मतम् ।।

सन्निवेश नहीं था। इस न्यूनता को पूर्ण करने के लिए वि० सं० १५१०–१५७५ के मध्यवर्ती महावैयाकरण भट्टोजिदीक्षित ने ३९७५ प्रक्रियोपयोगी अष्टाध्यायी सूत्रों के सहित उणादिसूत्र, फिट्सूत्र, लिङ्गानुशासन, गणपाठ और धातुपाठ से सर्वाङ्गपूर्ण 'सिद्धान्तकौमुदी' नामक प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की। इसकी सुललित और सुबुद्ध रचनाशैली को देखकर समस्त आर्यावर्त मुग्ध हो उठा और कुछ लोग इस ग्रन्थ की स्तुति इस प्रकार करने लगे—

**कौमुदी यदि नायाति वृथा भाष्ये परिश्रमः।**
**कौमुदी यदि चायाति वृथा भाष्ये परिश्रमः॥**

## आत्मनिवेदन

विगत कई वर्षों के प्रश्नपत्रों का संकलन करके व्याख्या के प्रारम्भ में तत्तत् ई० का निर्देश कर दिया गया है। वाराणसी, बिहार तथा पंजाब की परीक्षा में पूछे गये प्रश्नों के उत्तर भी इस व्याख्या में सम्मिलित हैं। अब प्राय: वाराणसी की परीक्षा में फक्किकांशवर्जित ही प्रश्न पूछे जाते हैं। परन्तु सभी प्रान्तों में ऐसा नहीं है, अत: यथास्थल फक्किकाओं का भी संक्षिप्त विवेचन किया गया है। प्राचीन परिपाटी के पिपठिषु छात्रों को इससे अधिक लाभ होगा।

प्रस्तुत टीका, परिशिष्ट आदि के विषय में गुण-दोषों की विवेचना करना मैं पाठक तथा आचार्यों के ऊपर ही छोड़ता हूँ। क्षीर-नीर-विवेकी पाठक स्वयं इसका अनुभव करेंगे तथा आचार्य गण अपनी आशीर्वादात्मक 'सम्मतियाँ प्रदान कर मुझे अनुगृहीत करेंगे। दृष्टिदोषाशुद्धि तथा प्रमाद के लिये सावनत संपादक क्षम्य है।

इन्दुमती स्मृतिदिवस
आ० शु० ११, २०३३ वि०

विनयावनत—
**—रामचन्द्र झा**

# शिवसूत्र-प्रत्याहाराः

स्यादेको ञ्म्यणवटैः, पेण द्वौ, त्रय इह कणसैश्च ।
चत्वारश्च चयाभ्यां, पञ्च रेफेण, शलाभ्यां षट् ॥

अक्—अ, इ, उ, ऋ, लृ, ।

अच्—अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ ।

अण्—अ, इ, उ ।

अट्—अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र ।

अण्—अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ औ, ह, य, व, र, ल ।

अम्—अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न ।

अल्—अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च ट, त, क, प, श, ष, स, ह ।

अश्—अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द ।

इक्—इ, उ, ऋ, लृ ।

इच्—इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ,

इण्—इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ । ह, य, व, र, ल ।

उक्—उ, ऋ, लृ ।

एङ्—ए, ओ ।

एच्—ए, ओ, ऐ, औ ।

ऐच्—ऐ, औ ।

खय्—ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प ।

खर्—ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स ।

ङम्—ङ, ण, न ।

चय्—च, ट, त, क, प ।

चर्—च, ट, त, क, प, श, ष, स ।

छव्—छ, ठ, थ, च, ट, त ।

जश्—ज, ब, ग, ड, द ।

झय्—झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प ।

झर्—झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स ।

झल्—झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह ।

झश्—झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द ।

झष्—झ, भ, घ, ढ, ध ।

बश्—ब, ग, ड, द ।

भष्—भ, घ, ढ, ध ।

मय्—म, ङ, ण, न, झ, भ, ख, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प ।

यञ्—य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ ।

यण्—य, व, र, ल ।

यम्—य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न ।

यर्—य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स ।

रल्—र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ड, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह ।

वल्—व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह ।

वश्—व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द ।

शर्—श, ष, स ।

शल्—श, ष, स, ह ।

हल्—ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह ।

हश्—ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, ध, ढ, घ, ज, ब, ग, ड, द ।

## स्वरों का अष्टादश भेदज्ञापक चक्र

| अ इ उ ऋ ऌ | अ इ उ ऋ ए ओ ऐ औ | अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ |
|---|---|---|
| ह्रस्वभेद | दीर्घभेद | प्लुतभेद |
| १ ह्रस्व उदात्तानुनासिक | ७ दीर्घ उदात्तानुनासिक | १३ प्लुत उदात्तानुनासिक |
| २ ,, उदात्ताननुनासिक | ८ ,, उदात्ताननुनासिक | १४ ,, उदात्ताननुनासिक |
| ३ ,, अनुदात्तानुनासिक | ९ ,, अनुदात्तानुनासिक | १५ ,, अनुदात्तानुनासिक |
| ४ ,, अनुदात्ताननुनासिक | १० ,, अनुदात्ताननुनासिक | १६ ,, अनुदात्ताननुनासिक |
| ५ ,, स्वरितानुनासिक | ११ ,, स्वरितानुनासिक | १७ ,, स्वरितानुनासिक |
| ६ ,, स्वरिताननुनासिक | १२ ,, स्वरिताननुनासिक | १८ ,, स्वरिताननुनासिक |

## वर्णोद्भवस्थानज्ञापक चक्र

| कंठ | तालु | मूर्धा | दन्त | ओष्ठ | नासिका | कं. ता. | कं. ओ. | दं. ओ. | जि. मू. | नासिका |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अ | इ | ऋ | ऌ | उ | ञ | | | | | |
| क | च | ट | त | प | म | ए | | | ≍क | |
| ख | छ | ठ | थ | फ | ङ | ऐ | ओ | व | | |
| ग | ज | ड | द | ब | ण | | औ | | ≍ख | |
| घ | झ | ढ | ध | भ | न | | | | | अनुस्वार |
| ङ | ञ | ण | न | म | | | | | | |
| ह | य | र | ल | ≍प | | | | | | |
| : | श | ष | स | ≍फ | | | | | | |

जीभ के चार भाग हैं—मूल, मध्य, उपाग्र और अग्र। ये चार और नीचे का ओष्ठ मिलकर जो पाँच अवयव होते हैं, उनका अनुक्रम से कंठ, तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ इनका परस्पर सम्बन्ध होता है। इन अवयवों का जो एक दूसरे से परस्पर पूर्ण स्पर्श है वही 'स्पृष्ट-प्रयत्न' है और थोड़ा स्पर्श हो तो ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न और उनका एक दूसरे से दूर होना 'विवृत-प्रयत्न' और उनका एक दूसरे के समीप आना संवृत प्रयत्न है।

## आभ्यन्तर और बाह्यप्रयत्नज्ञापक चक्र

| आभ्यन्तर प्रयत्न | स्पृष्ट | | | ईषत्स्पृष्ट | ईषद्विवृत | | विवृत | संवृत |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| संज्ञा | स्पर्श | | | अन्तःस्थ | उष्मा | | स्वर<br>उदात्त अनु-<br>दात्त, स्वरित | |
| व्यञ्जन, स्वर | क ख<br>प फ<br>च छ<br>ठ ट<br>म त | ग ङ<br>ब म<br>ज ञ<br>ड ण<br>द न | घ<br>भ<br>झ<br>ढ<br>घ | य<br>व<br>र<br>ल | श<br>ष<br>स | ह | अ इ ए<br>उ ओ<br>ऋ ऐ<br>ऌ औ | प्रयोगमें ह्रस्व ऌ |
| बाह्यप्रयत्न | अ.प्रा.म.प्रा<br>विवार<br>श्वास<br>अघोष | अल्प.प्रा.<br>संवार<br>नाद<br>घोष | म.प्रा.<br>संवार<br>नाद<br>घोष | अल्प<br>संवार<br>नाद<br>घोष | म. प्रा.<br>विवार<br>श्वास<br>अघोष | म. प्रा.<br>सं.<br>ना.<br>घो. | अल्पप्राण<br>संवार<br>नाद<br>घोष | अल्प॰<br>संवार<br>नाद<br>घोष |

# विषय-प्रवेशः

प्रकरण—

# परिशिष्ट-सूची

॥ श्रीः ॥

# वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

## सपरिशिष्ट—'इन्दुमती' संस्कृत-हिन्दी-व्याख्योपेता

## अथ संज्ञाप्रकरणम्

**मुनित्रयं नमस्कृत्य तदुक्तीः परिभाव्य च ।**
**वैयाकरण-सिद्धान्त-कौमुदीयं विरच्यते ॥ १ ॥**

---

श्रीजानकीचरणकञ्जमरन्दभृङ्गः श्रीरामचन्द्रसुकृतीन्दुमतीं समाख्याम् ।
टीकान्तनोति मतिदां सरलातिरम्यां स्वर्गश्रिताञ्च मनसीन्दुमतीं दधानः ॥

व्याकरणम् अधीते वेत्ति वा वैयाकरणः = तदधीते तद्वेद (४।२।५९) इत्यण्, आदिवृद्धिः । सिद्धः = सम्पन्नः, अन्तः=निर्णयः यस्मिन् स 'सिद्धान्तः' वैयाकरणस्य सिद्धान्तः 'वैयाकरणसिद्धान्तः', तस्य कौमुदी 'वैयाकरणसिद्धान्त-कौमुदी' । ( कौ = पृथिव्यां, मोदयति = हर्षयति, इति कुमुदः = चन्द्रः तस्य इयं कौमुदी = चन्द्रिका । यथा चन्द्रिका हि भास्करकिरणसम्पर्कजनितं सन्ताप-मपगमयति एवमियमपि ग्रन्थरूपकौमुदी अज्ञानात्मकं तमो निरस्यतीति भावः ) ।

मुनित्रयं—त्रयः अवयवाः अस्य समुदायस्य त्रयं, मुनीनां = पाणिनि-कात्यायन-पतञ्जलीनां, त्रयं मुनित्रयम्, नमस्कृत्य = करशिरःसंयोगादिव्यापारेण प्रणम्य, तदुक्तीः = तेषामुक्तयः—सूत्र-वार्तिक-भाष्यात्मकग्रन्थरूपवाक्यावलयः, ताः, परिभाव्य च = सम्यगालोच्य च, इयं = वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, विरच्यते = क्रियते । ( मुनित्रयमिति कर्मणि द्वितीया । 'नमःस्वस्ति' (सू.५८४)

---

अथ संज्ञा—सर्वप्रथम सन्धिकार्योपयोगिनी संज्ञाओं ( प्रत्याहारों ) का प्रकरण प्रारंभ होता है । भसंज्ञा, पदसंज्ञा, टिसंज्ञा आदि आगे कही जाएँगी ।

मुनित्रयं—पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि—इन मुनित्रयों को प्रणाम

१ अइउण्। २ ऋलृक्। ३ एओङ्। ४ ऐऔच्। ५ हयवरट्। ६ लण्। ७ ञमङणनम्। ८ झभञ्। ९ घढधष्। १० जबगडदश्। ११ खफछठथचटतव्। १२ कपय्। १३ शषसर्। १४ हल्॥

इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसञ्ज्ञार्थानि। एषामन्त्या इतः। लण्सूत्रे

---

इति चतुर्थी तु न, उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसीति राद्धान्तात्। (दे० 'नमः स्वस्ति' का नोट। कारक प्रकरण में)

माहेश्वराणीति* (ई. ६०)—महेश्वरेण उपज्ञाता माहेश्वरा अनुबन्धाः, ते सन्ति येषु तानि माहेश्वराणि। महेश्वरोपज्ञातानुबन्धयुतानि सूत्राणीति, सूत्रेष्वनुबन्धयोगो महेश्वरकृतः, सूत्राणि तु वेदवदनादिसिद्धानीति तात्पर्यार्थः।

लण्सूत्रेऽकारश्चेति—अयं भावः—लण्सूत्रे लकारोत्तरवर्तिह्रस्वाकारस्यानुनासिकत्वप्रतिज्ञया 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इति सूत्रेणेत्संज्ञायां कृतायाम् 'आदिरन्त्येन सहेता' इत्यनेन अकारेण सहोच्चार्यमाणरेफस्य 'उरण् रपरः' इत्येतत्सूत्रघटकस्य 'हयवरट्'सूत्रस्थोऽयम् इति तत्त्वप्रत्यभिज्ञया मध्यपठितलकारस्वपदग्राह्यरेफयोर्बोधक इति रप्रत्याहारसिद्धिः। तेन तत्र सूत्रे रपरत्वविधानवत् लपरत्वविधानं, तेन च 'तवल्कारः' इति रूपसिद्धिर्भवति। ननु रलयोरिति न्यूनं, टकारस्यापि मध्यगतत्वेन रप्रत्याहारे तद्ग्रहणस्यापि युक्तत्वादिति चेत्? न, अनुनासिकः' इति ककारपरक—इकारघटितनिर्देशेन प्रत्याहारेषु इत्सञ्ज्ञकवर्णाग्रहणज्ञापनात्। अन्यथा प्रत्याहारेष्वित्सञ्ज्ञकवर्णानामपि ग्रहणे अच्प्रत्याहारे 'ऋलृक्-सूत्रस्य ककारस्यापि ग्रहणापत्त्या तत्परकेकारस्य 'इको यणचि' इत्यनेन यणि 'अनुनासिक' इति निर्देशानुपपत्तेः

---

करके तथा उनकी उक्तियों (सूत्र, वार्तिक, भाष्य) को सम्यक् अध्ययन करके मैं यह 'वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी' नामक ग्रन्थ की रचना करता हूँ॥

अ इ उ ण्—इन्हीं १४ सूत्रों के आधार पर महर्षि पाणिनि ने समस्त व्याकरण की सभी बातें सरल रूप से संक्षेप में कही हैं।

इति माहेश्वराणि—ये चतुर्दश माहेश्वर सूत्र (द्र० प्रस्तावना) अण्, अक्, अच् इत्यादि संज्ञा (प्रत्याहार) सिद्धि के लिए हैं।

एषाम्—यह प्रतिज्ञावाक्य है। इन चतुर्दश सूत्रों के अन्तिम (ण्, क्, च्

---

*नोट—जो जो प्रश्न जिन जिन ई० की परीक्षा में पूछे गये हैं, उन उन ई० संख्याओं का निर्देश ( ) में किया गया है।

अकारश्च । हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः ॥४

१ हलन्त्यम् १।३।३। 'हल्' ( म. सू. १४ ) इति सूत्रेऽन्त्यमित् स्यात् ।

२ आदिरन्त्येन सहेता । १।१।७१। अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च सञ्ज्ञा स्यात् । इति हल्सञ्ज्ञायाम् । हलन्त्यम् १।३।३। उपदेशे-

---

हकारादिष्वति ( ई० ६९ )—'लण्'सूत्रे एव अकारस्य इत्संज्ञकत्वे 'हयवरट्—'इत्यादौ पुनः अकारोच्चारणस्य किं प्रयोजनमिति प्रश्नाशयः। उच्चारणार्थत्वे मानन्तु 'नान्तरेणाचं व्यञ्जनस्योच्चारणं भवति' इति 'उच्चैरुदात्तः' इति सूत्रस्थभाष्यमेव । अत एव 'वर्णात् कारः' इति कारप्रत्यये सति 'ककार' इत्यादि सिध्यति ।

हलन्त्यम् ( ई. ७३,७५ )—ननु अष्टाध्याय्यामेकमेव 'हलन्त्यम्' इति सूत्रं पाणिनिना पठितं, तत्कथं कौमुद्यां तदावृत्तिरिति चेन्न, 'न विभक्तौ तुस्माः' इत्यादिसूत्राणां साफल्याय 'हलन्त्यम्' इति सूत्रस्य उपदेशेऽन्त्यं हल इत्स्यादित्यर्थोऽवश्यं वाच्यः । तथा च 'आदिरन्त्येन सहेता' इति सूत्रार्थं विना 'हलन्त्यम्' इति सूत्रार्थो न स्यात् । 'हलन्त्यम्' इति सूत्रार्थं विना च 'आदिरन्त्येन सहेता' इति सूत्रार्थो न स्यादिति द्वयोः परस्परापेक्षत्वेन अन्योन्याश्रयदोषात् 'हलन्त्यम्' इति सूत्रस्य उपदेशेऽन्त्यं हल् इत्स्यादित्यर्थासिद्धेः । तस्मात्तत्सूत्रावृत्त्या एकस्य हल्-सूत्रान्त्यमित् स्यादित्यर्थो भवति, द्वितीयस्य च, उपदेशेऽन्त्यं हलित् स्यादित्यर्थो भवतीति ।

आदिरन्त्येन ( ई. ६४,७१ )—आदिः अन्त्येन सह इता, इति पद-विभागः । अत्र सूत्रे आद्यन्तशब्दाभ्यां मध्यगाः आक्षिप्यन्ते । 'स्वं रूपम्' इति सूत्रात् 'स्वम्' इत्यनुवर्तते । ततश्च—अन्त्येन इता सह उच्चार्यमाणः आदिः

---

आदि ) वर्ण इत्संज्ञा वाले हैं—वक्ष्यमाण 'हलन्त्यम्' सूत्र से इनकी इत्संज्ञा ( लोप = दर्शनाभाव ) हो जाती है । हकारादि—'ह य व र ट्' सूत्र के 'ह' से लेकर 'हल्' सूत्रस्थ हकारपर्यन्त जो अजन्त वर्ण हैं, उनमें जो अकार वर्ण है, वह केवल स्पष्ट उच्चारण के लिए ही है—इत्संज्ञा के लिए नहीं । लण्—'लण्' सूत्र के मध्य में ( लकारोत्तरवर्ती ) जो अकार है वह इत्संज्ञक है—उच्चारण-मात्र के लिए नहीं, क्योंकि उससे 'र' प्रत्याहार की सिद्धि होती है ।

हलन्त्यम्—'हल्' सूत्र में विद्यमान अन्त्य 'ल्' इत्संज्ञक है ।

आदिरन्त्येन—अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण के साथ उच्चारित आदिवर्ण अपने

ऽन्त्यं हल् इत् स्यात् । उपदेश आद्योच्चारणम् । ततः 'अण्' 'अच्' इत्यादिसञ्ज्ञासिद्धौ । ३ उपदेशेऽजनुनासिक इत् । १ । ३ । २ । उपदेशेऽनुनासिकोऽजित्सञ्ज्ञः स्यात् । प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः । 'लण्' ( म. सू. ६ ) सूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः सञ्ज्ञा । प्रत्याहारेष्वितां न ग्रहणम् । 'अनुनासिक' इत्यादिनिर्देशात् । न ह्यत्र ककारे परेऽच्कार्यं दृश्यते ।

---

( अण्, अच् इत्यादिरूपः ) मध्यगानां स्वस्य च प्रत्याहारसंज्ञेति सूत्रार्थो लभ्यते उदाहरणं यथा—'अइउण्' इति सूत्रघटकः 'अण्' इति । तत्र अन्त्येत्संज्ञकवर्णः 'ण्' इति, तेन सह उच्चार्य्यमाणः आदिवर्णः 'अ ण्' स च ( अ-ण्, ) मध्यगानाम् ( इ, उ इत्यनयोः ) स्वस्य ( 'अ' इत्यस्य ) च बोधको भवति ।

'लण्' ( ई. ६५, ७० )—'लण्' सूत्रे तिष्ठतीति लण्सूत्रस्थः स च असौ अवर्णश्च लण्सूत्रस्थावर्णः तेन सह उच्चार्य्यमाणो रेफः 'र इत्येवंरूपः रेफलकारयोः संज्ञेत्यर्थः । तेन 'र' प्रत्याहारसिद्धिः । अत एव 'उरण्रपरः' इति सूत्रेण रपरत्वविधानवत् लपरत्वविधानेन 'तवल्कारः' इत्यादिसिद्धिर्भवतीति दिक् ।

प्रत्याहारेष्वितां ( ई. ६९, ७२ )—प्रत्याह्रियन्ते संक्षिप्यन्ते वर्णाः यत्र स प्रत्याहारः, तेषु इत्संज्ञकानां वर्णानां न ग्रहणम्, 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इति सूत्रे 'अनुनासिक' इति निर्देशात् । अन्यथा 'अच्' प्रत्याहारे 'ऋऌक्' इति सूत्रस्थककारस्यापि ग्रहणापत्त्या तत्परके परे इकारस्य 'इको यणचि' इत्यनेन यणि 'अनुनासिक' इति निर्देशानुपपत्तेः ।

---

तथा मध्यवर्ती वर्णों का भी बोधक है ( यह-प्रत्याहारसंज्ञा-विधायक सूत्र है )

नोट—'अ इ उ ण्' सूत्रघटक 'अण्' प्रत्याहार में अन्त्य इत्संज्ञक 'ण्' के सहित उच्चारित आदि वर्ण है 'अ–ण्' वह ( अ–ण् ) अपने बीच के इ, उ, का तथा अपना अर्थात् 'अ' का भी बोधक होता है । ( एवमन्यत्राऽपि ज्ञेयम् )

हलन्त्यम्—उपदेशावस्था में जो अन्त्य हल् ( व्यंजन वर्ण ) उसकी इत्संज्ञा होती है ।

उपदेशः-आद्य (प्रथम) उच्चारण को 'उपदेश' कहते हैं । उपदेश का लक्षण—

धातु-सूत्र-गणोणादि-वाक्य-लिङ्गानुशासनम् ।<br>
आगम-प्रत्यया-ऽऽदेशा उपदेशाः-प्रकीर्तिताः ॥

उपदेशे—उपदेशावस्था में विद्यमान अनुनासिक वर्ण की इत्संज्ञा होती है ।

प्रतिज्ञा—पाणिनि के कहे हुए वर्णों का अनुनासिक होना, उनकी प्रतिज्ञा ( सूत्रनिर्देश ) से जानना चाहिए ।

'आदिरन्त्येन–' ( सू. २ ) इत्येतत्सूत्रेण कृताः सञ्ज्ञाः प्रत्याहारशब्देन व्यवह्रियन्ते ४। ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः ।१।१।२७। उश्च ऊश्च ऊ३श्च वः। वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद्ध्रस्वदीर्घप्लुतसञ्ज्ञः स्यात्। स प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा। ५ उच्चैरुदात्तः ।१।२।२९। ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागे निष्पन्नोऽजुदात्तसंज्ञः स्यात्। आ ये। ६ नीचैरनुदात्तः। १।२।३०। स्पष्टम्। अर्वाङ्। ७ समाहारः स्वरितः।१।२।३१। उदात्तत्वानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसञ्ज्ञः स्यात्।

---

ऊकालो ( ई. ७०, ७४ )—उश्च ऊश्च ऊ३श्च वः, वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमात् ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञः स्यादित्यर्थः। ननु हलामर्धमात्रिकत्वेन वां काल इव कालाऽभावाद् व्यावर्त्याभावेन 'ऊकाले'ति सूत्रे 'अच्' ग्रहणं किमर्थमिति चेन्न, अज्ग्रहणाभावे 'प्रतक्ष्य, प्ररक्ष्य, इत्यादौ 'क्-ष' इति द्वाभ्यां मिलितस्य 'क्ष' इत्यस्य एकमात्रिकत्वेन प्रकृतसूत्रेण तस्य ह्रस्वसंज्ञायां 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इत्यनेन तुगागमापत्तेः।

---

ऊकालो—उ ऊ ऊ३ इन तीनों उकारों का बहुवचन 'वः' है। इन ( एकमात्रिक, द्विमात्रिक, त्रिमातृक ) के समान उच्चारण काल के बराबर उच्चारण काल हो जिसका वह 'अच्' क्रम से ह्रस्व, दीर्घ प्लुतसंज्ञक होता है।

नोट—मात्रा काल को कहते हैं। मुर्गा का शब्द 'कु, कू, कू ३' में एक, दो, तीन मात्राओं का उपचय क्रमिक स्पष्ट प्रतीत होता है, अतः उकार ही दृष्टान्त रूप से लिया गया है। ह्रस्वादि का लक्षण—

एकमात्रो भवेद् ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं चार्धमात्रिकम्॥

स प्रत्येकम्—वह ( ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत संज्ञक ) प्रत्येक अच् ( स्वर ) उदात्त, स्वरित धर्मविशेष से तीन-तीन प्रकार का है।

उच्चैरुदात्तः—तालु आदि स्थानों के ऊर्ध्वभाग से उच्चारित जो स्वर वह उदात्त, कहलाता है।

नीचैरनुदात्तः - तालु आदि स्थानों के अधोभाग से उच्चारित जो 'अच्' वह अनुदात्त कहलाता है।

समाहारः—उदात्त और अनुदात्त जिस स्वर में सम्मिलित हों उसे स्वरित कहते हैं।

८ तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् ।१।२।३२। ह्रस्वग्रहणमतन्त्रम् । स्वरितस्यादितोऽर्धमुदात्तं बोध्यम् । उत्तरार्धं तु परिशेषादनुदात्तम् । तस्य चोदात्तस्वरितपरत्वे श्रवणं स्पष्टम् । अन्यत्र तूदात्तश्रुतिः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धा । 'क्व १ वोऽश्वाः' 'रथानां न ये २ ऽराः' 'शतचक्रं यो ३ ऽह्यः' इत्यादिष्वनुदात्तः । 'अग्निमीळे' इत्यादावुदात्तश्रुतिः । स नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकाऽननुनासिकत्वाभ्यां द्विधा । ९ मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः ।१।१।८। मुखसहितनासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकसञ्ज्ञः स्यात् । तदित्थम्—अ इ उ ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादश भेदाः । ऌवर्णस्य द्वादश, तस्य

---

लृवर्णस्य ( ई. ४३,७३ )—अत एव 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति सूत्रे 'होतृ + ऌकारः इति स्थिते सवर्णदीर्घे कृते 'होतॄकार.' इत्येवोदाहृतं भाष्ये । नचैवं ऌवर्णस्य दीर्घाऽभावे 'ऋति ऋ वा' 'ऌति ऌ वा' इत्युभयत्रापि विधेयं वर्णद्वयं द्विमात्रमिति ग्रन्थासङ्गतिरिति वाच्यम्, ताभ्याम् पूर्वद्विमात्रिकऋऌविधानस्य तत्रैव प्रतिपादितत्वात् ।

तथा हि - तत्र आद्यस्य = ऋकारस्य, मध्ये द्वौ रेफौ तस्य एका मात्रा ( 'व्यञ्जनं चार्धमात्रिकम्' इति स्मरणात् ), अभितः = रेफद्वयस्य पुरस्तादुपरिष्टाच्च विद्यमानयोर्ह्रस्वऋकारांशयोरन्या मात्रा, एवं द्वितीयस्य विधेयस्य ऋकारस्य मध्ये द्वौ लकारौ तयोः, = लकारयोः, एका मात्रा, तावभितो विद्य-

---

तस्यादित—स्वरित का पूर्वार्ध उदात्त और उत्तरार्ध अनुदात्त है । ( सूत्र में ह्रस्व शब्द को छोड़कर अर्थ करना चाहिए क्योंकि उसका प्रस्तुत विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह बात वैदिक व्याकरण में प्रसिद्ध है )

स नवविधोऽपि—वह ( उदात्त, अनुदात्त, स्वरित भेद से ) नौ प्रकार का ह्रस्व, दीर्घ, प्लुतसंज्ञक 'स्वर' पुनः अनुनासिक और अननुनासिक भेद से दो-दो प्रकार का होता है ।

मुखनासिका—मुख और नासिका ( दोनों ) से जिस वर्ण का उच्चारण हो वह अनुनासिक वर्ण कहलाता है ।

तदित्थम्—तस्मात् ( इस प्रकार ) अ, इ, उ, ऋ' इन वर्णों में प्रत्येक के १८ भेद होते हैं ( द्र० प्रस्तावना ) । लृवर्णस्य—दीर्घ वर्ण न होने के कारण ) 'ऌ' वर्ण के ( १८ भेद न होकर १२ भेद ही होते हैं । एचामपि—

दीर्घाभावात्। एचामपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात्। १० तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् ।१।१।९। ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद्द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसञ्ज्ञं स्यात्। अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। इचुयशानां तालु। ऋटुरषाणां मूर्धा। ऌतुलसानां दन्ताः। उपूपध्मानीयानामोष्ठौ। ञमङणनानां

---

मानयोर्ऌकारांशयोरन्या मात्रेत्युभयत्र अपूर्वं द्विमात्रिकं विधानेन न ग्रन्थाऽसङ्गतिरिति दिक्।

तुल्यास्यप्रयत्नं (ई. ७५, ६०, ६४)—तालुनः आदिस्ताल्वादिः (कण्ठ इति यावत्)। तालु आदिर्येषां तानि ताल्वादीनि, ताल्वादिश्च ताल्वादीनि च ताल्वादि, 'नपुंसकमनपुंसकेन०' इत्येकशेषः। तेन कण्ठस्थानस्याप्यत्र संग्रहः। ततश्च—तत्ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद्द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यादित्यर्थः सम्पद्यते।

आस्ये भवमास्यं ताल्वादिस्थानम्। प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नः। आस्यं च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नौ, तुल्यौ आस्यप्रयत्नौ यस्य (वर्णजालस्य) तत् तुल्यास्यप्रयत्नं परस्परं सवर्णसंज्ञकं स्यादिति भावार्थः। दैत्यारिः, श्रीशः, इत्याद्युदाहरणानि।

---

एवं (ह्रस्व न होने से) 'एच्' वर्णों के भी प्रत्येक के १२ भेद होते हैं।

तुल्यास्य—जिस वर्ण का तालु आदि स्थान और आभ्यन्तर-प्रयत्न एक हो वह वर्ण परस्पर सवर्णसंज्ञा वाला होता है। (ऋ-ऌ वर्णों की (भिन्न स्थान होने पर भी) परस्पर सवर्णसंज्ञा होती है)।

अकुह—अ = अकार, कु = कवर्ग, 'ह' और विसर्ग (:) का उच्चारण स्थान कण्ठ है, अतः इनको कण्ठ्य वर्ण कहते हैं। इचु—इ = इकार, चु=चवर्ग 'य' और 'श' का उच्चारण स्थान तालु है, अतः इनको तालव्य वर्ण कहते हैं। ऋटु—ऋ = ऋकार, टु = टवर्ग 'र' और 'ष' का उच्चारण स्थान मूर्धा है, अतः इनको मूर्धन्य वर्ण कहते हैं। ऌतु—ऌ = ऌकार, तु = तवर्ग, 'ल' और 'स' का उच्चारण स्थान 'दन्त' है, अतः इनको दन्त्य वर्ण कहते हैं। उपु—उ = उकार, पु = पवर्ग और उपध्मानीय (⌣प⌣फ) का उच्चारण स्थान 'ओष्ठ' है, अतः इनको ओष्ठ्य वर्ण कहते हैं। ञ-म-ङ-ण-न—ञ, म, ङ, ण, न का उच्चारण स्थान नासिका तथा 'कण्ठ-तालु-मूर्धा-दन्त-ओष्ठ' भी है, अतः इनको नासिक्य तथा कण्ठ्य, तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य और ओष्ठ्य वर्ण भी कहते हैं।

नासिका च । एदैतोः कण्ठतालु । आदौतोः कण्ठोष्ठम् । वकारस्य दन्तोष्ठम् । जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम् । नासिकानुस्वारस्य । इति स्थानानि । यत्नो द्विधा—आभ्यन्तरो बाह्यश्च । आद्यश्चतुर्धा—स्पृष्टेषत्स्पृष्ट-विवृत-संवृत-भेदात् ।

( स्थान-प्रयत्नविवेकस्तु ग्रन्थादौ चक्रे सुस्पष्ट इति तत्रैव द्रष्टव्यः )

अचां के प्रयत्नाः—आभ्यन्तरप्रयत्ने अचां विवृतप्रयत्नम्, तत्रापि ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे ( साधनिकादशायाम् ) संवृतप्रयत्नम् इति विशेषः । शास्त्रीय-प्रक्रियाभिः परिनिष्ठितानां रामः, कृष्णः, इत्यादिशब्दानां प्रयोगे क्रियमाणे एव ह्रस्वस्यावर्णस्य संवृतमित्यर्थः । अत एव 'दण्ड + आढकम्' इति स्थिते अकाराऽऽकारयोः प्रयत्नसाम्यात् दीर्घत्वं सिद्धम् । बाह्यप्रयत्ने-अचां तु अल्पप्राणः, संवारः, नादः, घोषः इति चत्वारः प्रयत्नाः भवन्तीति तत्त्वविदः (ई. ७०,७२)॥

एदैतोः—एकार-ऐकार का उच्चारण स्थान कण्ठ और तालु है, अतः इनको कण्ठ्य, तथा तालव्य दोनों कहते हैं । ओ-दौ-तोः—ओकार तथा औकार का उच्चारण स्थान कण्ठ तथा ओष्ठ भी है, अतः इनको कण्ठ्योष्ठ वर्ण कहते हैं । वकारस्य—वकार का उच्चारण स्थान दन्त तथा ओष्ठ है, अतः इसको दन्त्योष्ठ वर्ण कहते हैं । जिह्वामूलीयस्य—जिह्वामूलीय ( ≍क≍ख ) का उच्चारण-स्थान जीभ का मूल भाग है, अतः इनको जिह्वामूलीय कहते हैं । नासिका—अनुस्वार ( ं ) का उच्चारण स्थान नासिका है ।

यत्नो द्विधा—प्रयत्न दो प्रकार का है—(१) आभ्यन्तर और (२) बाह्य ।

नोट—( १ ) 'आभ्यन्तर प्रयत्न' = 'प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नः' अर्थात् वर्णोच्चारण के पूर्व जो हृदय में यत्न करना पड़ता है उसी प्रयत्न को 'आभ्यन्तर-प्रयत्न' कहते हैं । इसका अनुभव उच्चारण करने वाले को ही होता है ।

( २ ) बाह्यप्रयत्न—मुख से वर्ण निकलते समय जो प्रयत्न होता है, इसका अनुभव सुनने वाले को भी होता है अतः उसे 'बाह्यप्रयत्न' कहते हैं । इसका उपयोग सवर्णसंज्ञा में नहीं होता, किन्तु आन्तरतम्यपरीक्षा अर्थात् कई वर्णों में परस्पर अत्यन्त समानता का अन्वेषण करने के समय इसकी आवश्यकता पड़ती है ।

तत्राद्यश्चतुर्धा—उन दोनों में पहला आभ्यन्तर प्रयत्न के चार भेद हैं—१. स्पृष्ट, २. ईषत्स्पृष्ट, ३. विवृत, ४. संवृत ।

तत्र 'स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम् । ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम् । विवृतमूष्मणाँ स्वराणां च' । ह्रस्वस्याऽवर्णस्य प्रयोगे संवृतम् । प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव । एतच्च सूत्रकारेण ज्ञापितम् । तथाहि—११ अ अ । ८।४।६८। ( इति ) विवृतमनूद्य संवृतोऽनेन विधीयते । अस्य चाष्टाध्यायीं सम्पूर्णां प्रत्यसिद्धत्वाच्छास्त्रदृष्ट्या विवृतत्वमस्त्येव । तथाच सूत्रम्–१२ पूर्वत्रासिद्धम् । ८।२।१। अधिकारोऽयम् । तेन सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा । त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धं स्यात् ।

---

प्रक्रियादशायां ( ई. ६३, ६६,६८ )—अयम्भावः—दण्ड + आढकम् इति स्थिते अकारस्य आकारस्य च विवृतसंवृतप्रयत्नभेदेन सावर्ण्याभावात् सवर्णदीर्घो न स्यात् इति चेन्न, 'ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्, प्रक्रियादशायां ( शास्त्रीयकार्यप्रवृत्तिसमये ) तु ( ह्रस्वस्यावर्णस्य ) विवृतमेव, इत्यइउण् इति सूत्रे भाष्ये उक्तत्वात् । अयं च पक्षः सूत्रकारस्यापि सम्मत इत्यत आह मूले 'अ अ' इत्यादि ।

---

तत्र ( इन पांचों में )—स्पृष्ट-प्रयत्न स्पर्श ( क से 'म' पर्यन्त ) वर्णों का है । ईषत्स्पृष्ट-प्रयत्न अन्तस्थ ( य र ल व ) वर्णों का, है । विवृत-प्रयत्न-ऊष्मा ( श, ष, स, ह ) तथा स्वर ( अच् ) वर्णों का है । संवृत-प्रयत्न-ह्रस्व 'अ' वर्ण का प्रयोगावस्था ( वाक्ययोजना ) में–परिनिष्ठित सिद्ध रूप में-होता है, किन्तु प्रक्रिया-दशा ( साधनिकावस्था ) में विवृत ही रहता है । ( अत एव 'दण्ड + आढकम्' में दीर्घ की सिद्धि होगी क्योंकि दीर्घ की दृष्टि में दोनों ( अ आ ) विवृत ही है ) ।

अ अ—विवृत सिद्ध अ का संवृत विधान इस सूत्र से होता है । यह सूत्र अष्टाध्यायी के अन्तिम सूत्र होने से वक्ष्यमाण 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र से असिद्ध है ।

पूर्वत्रा—( यह अधिकार सूत्र है–इसका अधिकार अष्टाध्यायी की समाप्ति तक रहता है । इसका अर्थ है—) सपादसप्ताध्यायीस्थ सूत्रों के प्रति त्रिपादीस्थ सूत्र असिद्ध है और त्रिपादी में भी पूर्व के प्रति पर सूत्र असिद्ध है ।

नोट—प्रथम से अष्टम अध्याय के प्रथम पाद तक सपादसप्ताध्यायी और अष्टम अध्याय के द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ पादमात्र त्रिपादी है ।

बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा-विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति ।

खयां यमाः खयः ᳲक ᳲपौ विसर्गः शर एव च ।
एते श्वासानुप्रदाना अघोषाश्च विवृण्वते ॥ १ ॥
कण्ठमन्ये तु घोषाः स्युः संवृता नादभागिनः ।
अयुग्मा वर्गयमगा यणश्चाल्पासवः स्मृताः ॥ २ ॥

वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धः । पलिक्क्नीः, चख्ख्नतुः, अग्ग्निः, घ्घ्नन्तीत्यत्र क्रमेण कखगघेभ्यः परे तत्सदृशा एव यमाः । तत्र वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः, खयः, तथा तेषामेव यमाः, जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ विसर्गः शषसाश्चेत्येतेषां विवारः, श्वासोऽघोषश्च । अन्येषां तु संवारो नादो घोषश्च । वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमाः प्रथमतृतीययमौ

---

बाह्यप्रयत्नस्तु—बाह्यप्रयत्न तो ग्यारह प्रकार के होते हैं—१. विवार, २. संवार, ३. श्वास, ४. नाद, ५. घोष, ६. अघोष, ७. अल्पप्राण, ८. महाप्राण, ९. उदात्त, १०. अनुदात्त, ११. स्वरित ।

नोट—जिन वर्णों का उच्चारण करते समय कण्ठ का विकास हो उनको 'विवार', तदतिरिक्त को संवार एवं जिन वर्णों का उच्चारण करते समय श्वास चलता हो उनको 'श्वास', जिनका उच्चारण नाद से हो उनको 'नाद' तथा जिन वर्णों का उच्चारण करने पर गूंज होती हो उनको 'घोष' तदतिरिक्त को 'अघोष' एवं जिनके उच्चारण करने में प्राणवायु का अल्प उपयोग हो उन्हें 'अल्पप्राण' और अधिक उपयोग वालों को 'महाप्राण' कहते हैं ।

वर्गेष्वाद्यानां—वर्गों में प्रथम चार वर्णों के आगे किसी भी वर्ग (कवर्गादि) का पञ्चम वर्ण रहे तो दोनों के बीच में एक समान वर्ण अवश्य आता है, उसे वैदिक व्याकरण में 'यम' कहते हैं । यथा—'पलिक्क् क्ग्नीः' इत्यादि । इन शब्दों में क, ख, ग, घ इन वर्णों के आगे वही-वही वर्ण जो पुनः आए है उन्हीं को 'यम' कहते हैं । वर्गाणां—वर्गों के पहला, दूसरा, एवं खल्, खय तथा उन्हीं के यम, जिह्वामूलीय उपध्मानीय, विसर्ग, श ष स, इन सबों के विवार, श्वास तथा अघोष प्रयत्न हैं । अन्येषां—खय् आदि से भिन्न हश् तथा हश्-संबन्धी यम, अनुस्वार ( ं ) एवं स्वर (अच्) का संवार, नाद, घोष प्रयत्न है ।

वर्गाणां—वर्गों के प्रथम, तृतीय, पञ्चम तथा प्रथम तृतीय के यम तथा

यरलवाश्चाल्पप्राणाः। अन्ये महाप्राणा इत्यर्थः बाह्यप्रयत्नाश्च यद्यपि सवर्ण-सञ्ज्ञायामनुपयुक्ताः तथाप्यान्तरतम्यपरीक्षायामुपयोक्ष्यन्त इति बोध्यम्। कादयो मावसानाः स्पर्शाः। यरलवा अन्तःस्थाः। शषसहा ऊष्माणः। अचः स्वराः। ⌣क ⌣प इति कपाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशौ जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ। अं अः इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ। इति स्थानप्रयत्नविवेकः।

---

य, र, ल, व का अल्पप्राण प्रयत्न है और इनके अतिरिक्त—ख, छ, ठ, थ, फ वर्णों का तथा इनके यमों का और अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उप-ध्मानीय एवं शल् वर्णों का महाप्राण प्रयत्न है।

बाह्यप्रयत्नास्तु—बाह्यप्रयत्न तो यद्यपि सवर्णसंज्ञा में उपयोगी नहीं है फिर भी अतिशय सादृश्य जानने के लिए इनका उपयोग आवश्यक होता है—यह ध्यान रखना चाहिए।

कादयो—'क' से 'म' पर्यन्त अर्थात् कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग वर्ण स्पर्श कहलाते हैं।

नोट—जीभ के अग्र ( चोटी ), उपाग्र ( अग्र के समीपस्थ प्रदेश ), मध्य ( बीच ) और मूल भाग द्वारा कण्ठ, तालु प्रभृति स्थानों को स्पर्श करके कवर्गादि वर्णों का उच्चारण होता है, अतः इनका नाम स्पर्श वर्ण है।

य, र, ल, व—अन्तस्थ ( बीच वाले ) वर्ण कहलाते हैं। ( स्पर्श और ऊष्मा वर्णों के मध्य में रहने से यह अन्तस्थ वर्ण कहलाते हैं)। श, ष, स, ह—ऊष्मा कहलाते हैं-जिन वर्णों के उच्चारण में गर्म वायु का प्राधान्य हो, उसे ऊष्म वर्ण कहते हैं।

अच् ( अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ऐ, ओ, औ ) स्वर कहलाते हैं।

⌣क एवं ⌣प—से पूर्व विसर्गार्ध ( ⌣ ) के समान जो ध्वनि है वह क्रमशः जिह्वामूलीय और उपध्मानीय है।

अं अः—यहाँ अकार से पर जो ( ं : ) ध्वनि है, वह क्रम से अनुस्वार और विसर्ग का वाचक है।

नोट—न् और म् के स्थानों में अनुस्वार तथा रेफ के स्थान में विसर्ग होता है, अतः अनुस्वार और विसर्ग पृथक् वर्णों में नहीं गिने जाते हैं।

इति—इस प्रकार ( मूल में ) स्थान-प्रयत्न का विवेचन समाप्त हुआ ( सुस्पष्ट ज्ञान के लिए ग्रन्थारम्भ में टेबिल देखें )

'ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्' ( वा १०५ ) अकारहकारयो-रिकार-शकारयोर्ऋकारषकारयोर्ऌकारसकारयोश्च मिथः सावर्ण्ये प्राप्ते ।

१३ नाऽऽज्झलौ १।१।१०। आकारसहितोऽच्, आच् स च हल् चेत्येतौ मिथः सवर्णौ न स्तः। तेन दधीत्यस्य हरति शीतलं षष्ठं सान्द्रमित्येतेषु परेषु यणादिकं न। अन्यथा दीर्घादीनामिव हकारादीनामपि ग्रहणकशास्त्रबलादच्त्वं स्यात्। तथा हि—

१४ अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः १।१।६९। प्रतीयते विधीयते इति

---

नाज्झलौ ( ई. ७४ ) - आकारसहितोऽच्, आच् स च हल् चेत्येतौ मिथः सवर्णसंज्ञौ न स्तः, इत्यर्थः। तेन 'दधि + हरति, दधि + षष्टम्, दधि + सान्द्रम्' इत्यादौ 'इको यणचि' इति यणादेशः, 'दधि + शीतलम्' इत्यादौ सवर्णदीर्घश्च न भवति। अन्यथा तेषां सावर्ण्याभ्युपगमे दीर्घादीनामिव हकारादीनामपि 'अणुदि-त्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' इति सूत्रबलाद् अच्त्वं स्यादिति दिक्।

अणुदित्स ( ई. ६१, ७३ )—प्रतीयते विधीयते इति प्रत्ययः। उत् इत् यस्य स 'उदित्' ( कु चु टु तु पु इत्यादिः )। चकारात् स्वं रूपमित्यतः स्वमित्यनुवर्तते, तच्च षष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते। ततश्च—अविधीयमानोऽण् उदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यादित्यर्थो भवति। अत्र सूत्रे एव 'अण्' प्रत्याहारः परेण णकारेणेति भाष्याशयः।

अणुदित्सवर्णस्येति किं विधीयते ( ई. ६८ )—अणमुद्दिश्य सवर्ण-ग्राहकता अनेन विधीयते। 'वृद्धिरादैच्' इतिवदस्य संज्ञासंज्ञिभावबोधकत्वं तु न, समानाधिकरणपदोपादानाभावात्। एवं च 'येन विधिस्तदन्तस्य' इत्यत्र समाना-

---

ऋ-लृ—ऋ-ऌ वर्ण की ( भिन्न स्थान होने पर भी ) परस्पर सवर्णसंज्ञा होती है—ऐसा कहना चाहिए। अकार, हकार की, इकार शकार की, ऋकार षकार की तथा ऌकार सकार की 'तुल्यास्य०' सूत्र से सवर्ण संज्ञा प्राप्त हुई—( किन्तु अग्रिम सूत्र से निषेध हो जायगा—)

नाऽऽज्झलौ—सूत्र में दीर्घ 'आ' और प्लुत 'आ ३' दोनों का प्रश्लेष है, समाहार द्वन्द्व करके दीर्घ सन्धि से 'अच्' बनता है, तब सूत्रार्थ हुआ—दीर्घ आकार, प्लुत आकार तथा स्वर और हल् की परस्पर सवर्णसंज्ञा नहीं हो।

अणुदित्—जो विधान किया जाय वह प्रत्यय और तद्भिन्न अप्रत्यय कहलाता है। एवं सूत्रार्थ यह हुआ—जिसका विधान न किया गया हो ऐसा

प्रत्ययः । अविधीयमानोऽण् उदिच्च सवर्णस्य सञ्ज्ञा स्यात् । अत्राण् परेण णकारेण । कु चु टु तु पु एते उदितः । तदेवम्—अ इत्यष्टादशानां सञ्ज्ञा । तथेकारोकारौ । ऋकारस्त्रिंशतः । एवम् ऌकारोऽपि । एचो द्वादशानाम् ।

---

धिकरणपदोपादानाभावात् तदन्तस्य स्वस्य च बोधकतैव विधीयते न तु संज्ञेति ।

अत्राण् परेण—अत्र मानन्तु 'उरृत्' इति सूत्रे तकारोच्चारणम् । पूर्वेण णकारेणात्र 'अण्' प्रत्याहारे तु ऋकारस्य अण्प्रत्याहारे पाठाभावेन दीर्घऋकारादेरप्रसक्तौ तपरकरणं व्यर्थमेव स्यादिति तदेव व्यर्थं सत् 'अणुदित्–' सूत्रे अण्प्रत्याहारः परणकारेणेति बोधयति । तपरकरणाभावे तु 'अणुदित्–' सूत्रप्रवृत्त्या दीर्घऋकारोऽपि स्यादिति स्वांशे चरितार्थम् ।

ऋ-इत्यष्टादशभेदाः ? टु इति टवर्गः । आ च, टुश्च, रश्च षश्चेति–ऋटुरषास्तेषाम्—'ऋटुरषाणाम्' । 'कु चु टु तु पु' एते उदितः, तेन 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' इत्यनेन सवर्णग्राहकतायां सत्यां—'कु' इत्यनेन कवर्गस्य 'चु' इत्यनेन चवर्गस्य, 'टु' इत्यनेन टवर्गस्य, 'पु' इत्यनेन पवर्गस्य च ग्रहणं भवति ।

घि-टीति ( ई. ६७ )—प्रकृतिभागस्य घिसंज्ञा, प्रत्ययमात्रस्य टिसंज्ञा, प्रकृतिप्रत्यययोः वृद्धिसंज्ञा, प्रकृतिमात्रस्य सम्बुद्धिसंज्ञा, प्रत्ययमात्रस्य भसंज्ञा

---

'अण्' ( प्रत्याहार ) और उदित् ( कु चु तु पु ) अपने सवर्ण के बोधक हों ।

फल यह हुआ कि 'अस्य च्वौ' ( ७।४।३२ ) सूत्र में ह्रस्व अकार से दीर्घ आकार का भी ग्रहण हुआ और उससे 'गाङ्गी भवति' में गङ्गा के आकार का ईत्वविधान सफल हुआ ।

अत्रैव—केवल इसी ( अणुदित् ) सूत्र में 'अण्' प्रत्याहार पर ( लण् ) सूत्रस्थ णकार से समझना चाहिए । तथा च हरिकारिका—

परेणैवेण्ग्रहाः सर्वे पूर्वेणैवाण्ग्रहा मताः ।
ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु ॥

कु-चु-टु—'कु चु टु तु पु' ये उदित वर्ण हैं । तदेवं—इस प्रकार जैसे 'अ' १८ की संज्ञा का बोधक है । तथा इकार, उकार भी १८ प्रकार की संज्ञा का बोधक है । ऋकार—ऋकार ( ऌकार के सवर्ण होने से ) ३० की संज्ञा का बोधक है । एवं ऌकार भी (ऋकार के सवर्ण होने से) ३० की संज्ञा का बोधक है । एचो—एच् ( ए ओ ऐ औ, ह्रस्व न होने से ) १२ प्रकार की संज्ञा का बोधक है ।

एदैतोरोदौतोश्च न मिथः सावर्ण्यम्, 'ऐऔच्' ( म० सू० ४ ) इति सूत्रारम्भसामर्थ्यात् । तेनैचश्चतुर्विंशतेः सञ्ज्ञाः स्युरिति नापादनीयम् । 'नाज्झलौ' ( सू० १३ ) इति सावर्ण्यनिषेधो यद्यप्यक्षरसमाम्नायिकानामेव, तथापि हकारस्याकारो न सवर्णः, तत्राप्याकारस्य प्रश्लिष्टत्वात् । तेन 'विश्वपाभिः, इत्यत्र 'हो ढः' ( सू ३२४ ) इति ढत्वं न भवति । अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला

---

अपृक्तसंज्ञा च, प्रकृतेरन्त्यालः पूर्ववर्णस्य उपधासंज्ञा, प्रत्ययमात्रस्य विभक्तिसंज्ञा सर्वनामस्थानसंज्ञा च । प्रकृतिप्रत्यययोः प्रगृह्यसंज्ञा भवति ।

एदैतोरोदौतोश्च ( ई. ६८,७१ )—अयम्भावः, ययोर्वर्णयोः स्थानप्रयत्नसाम्यं तयोः परस्परं 'तुल्यास्य–' इति सूत्रेण सवर्णसंज्ञा विधीयते । तथा च एकारस्य इकारस्य च उभयोः कण्ठतालुस्थानं विवृतप्रयत्नश्चेति तयोः, एवम् ओकारस्य औकारस्य च कण्ठोष्ठस्थानं विवृतप्रयत्नश्चेति तयोश्च परस्परं सवर्णसंज्ञा प्राप्नोति । तथा च ऋकारेण स्वसवर्णानां त्रिंशद् ऋकारऌकाराणां यथा ग्रहणं तथा एज्भिः स्वसवर्णचतुर्विंशतेर्ग्रहणमिति नापादनीयम्, तथा सति एकारेण ऐकारस्य औकारेण ओकारस्य च ग्रहणसिद्धेः 'ऐऔच्' इति सूत्रं व्यर्थमिति तयोः परस्परमसावर्ण्यज्ञापनात् ।

विश्वपाभिः ( ई. ७०, ७२, ७३, ७५ )—अयम्भावः, 'पूर्वं वर्णानामुपदेशस्तदुत्तरकालेत्संज्ञा, इत्संज्ञोत्तरकालाप्रत्याहारसिद्धिः, तदुत्तरकाला सवर्णसंज्ञा, तदुत्तरं नाज्झलाविति निषेधः, तदुत्तरं ग्राहकताशक्तिः, एतेन सर्वेण समुदितेन अन्यत्र सवर्णानां ग्रहणं भवति न स्वस्मिन्नापि स्वाङ्ग' इति भाष्योक्तरीत्या 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' 'नाज्झलौ' इत्येताभ्यां प्राक् ग्रहणकशास्त्रस्य असिद्धया 'नाज्झलौ' इत्यस्य वाक्यार्थबोधावसरे अच्पदेन वर्णसमाम्नायस्थानां ह्रस्वानामेव ग्रहणात् तेषामेव सवर्णसंज्ञानिषेधेन 'विश्वपाभिः' इत्यत्र हकारेण आकारस्य ग्रहणात् 'हो ढः' इति ढत्वं कुतो नेति चेन्न, 'नाज्झला'विति सूत्रे 'आसहितोऽच् इत्याच्' इत्याकारस्यापि सवर्णदीर्घेण प्रश्लिष्टत्वात् । अत्र प्रश्लेषे 'कालसमयवेलासु तुमुन्' इति सूत्रमेव मानम् । अन्यथा 'वेलासु' इत्यत्र हलवस्य संयोगान्तलोपस्य वाऽऽपत्तौ लकारादाकारस्य निर्देशासङ्गतिः स्यादिति ।

---

एदैतोः—ए ऐ तथा ओ औ को परस्पर सवर्ण संज्ञा नहीं होती है चतुर्दश माहेश्वर सूत्रों में 'ऐ औच्' ऐसा सूत्र करने से । अत एव—'ए ओ ऐ औ' इन प्रत्येक के २४ भेद हैं—यह शंका निरस्त हुई ।

द्विधा । तेनाननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः सञ्ज्ञा । १५ तपरस्तत्कालस्य १।१।७० तः परो यस्मात् स च तात्परश्चोच्चार्यमाणः समकालस्यैव सञ्ज्ञा स्यात् । तेन 'अत्' 'इत्' 'उत्' इत्यादयः षण्णां षण्णां सञ्ज्ञा । 'ऋत्' इति द्वादशानाम् । १६ वृद्धिरादैच् १।१।१। आदैच्च वृद्धिसञ्ज्ञः स्यात् । १७ अदेङ् गुणः १।१।१। अदेङ् च गुणसञ्ज्ञः स्यात् । १८ भूवादयो धातवः १।३।१। क्रियावाचिनो भ्वादयो धातुसञ्ज्ञाः स्युः । १९ प्राग्रीश्वरान्निपाताः १।४।५६। इत्यधिकृत्य । २० चादयोऽसत्त्वे १।४।५७। अद्रव्यार्थाश्चादयो निपातसञ्ज्ञाः स्युः । २१ प्रादयः १।४।५८। अद्रव्यार्थाः प्रादयस्तथा । २२ उपसर्गाः क्रियायोगे

---

तपरः ( ई. ६५,७० )—अत्र 'तपर' इत्यावर्तते । प्रथमस्तावत्, तपर-शब्दः तः परः यस्मादिति बहुव्रीहिः । द्वितीयस्तु तात्परः इति पञ्चमीसमासः । ग्रहणकशास्त्राद् 'अण्' इत्यनुवर्तते । तस्य तपरत्वेन उच्चार्यमाणवर्णस्य काल इव कालो यस्येति बहुव्रीहिः । एवं च—'अत्' 'इत्' इत्याद्यात्मकः अण् तपरत्वेन उच्चार्यमाणः स्वीयकालसदृशकालस्य संज्ञा स्यात्' इति सूत्रार्थः ।

---

तपरः—तकार रहे पर में जिसके अथवा तकार से पर में जो रहे वह अपने समकाल की संज्ञा का बोधक होता है ।

नोट—सूत्र में 'तपरः' से 'तः परो यस्मात् तपरः और 'तात्परः तपरः ये दो अर्थ निकलते हैं, दोनों का उदाहरण 'अदेङ्गुणः' सूत्र में 'अत्, एङ्' है । यहाँ अकार से पर तकार है, अतः ह्रस्व 'अ' की तथा तकार से पर 'एङ्' है, अतः 'एङ्' से ए-ओ मात्र की गुणसंज्ञा होती है ।

वृद्धि—आत् ( आ ), ऐच् ( ऐ, औ ) की वृद्धि संज्ञा हो । अदेङ्—ह्रस्व अकार तथा ए-ओ की वृद्धिसंज्ञा हो । भुवा—क्रियावाचक 'भू' आदि की धातुसंज्ञा होती है । प्राग्री—यह अधिकार सूत्र है । 'अधिरीश्वरे' (१।४।९७) सूत्र के 'ईश्वर' शब्द से पहले जो शब्द कहे गये हैं उनकी प्रथम निपातसंज्ञा होती है । चादयो—( जिन से किसी वस्तु विशेष का ज्ञान नहीं हो, वह 'अद्रव्यवाची है, उन अद्र-व्यवाची अव्ययगणपठित — ) च, वा आदि ७२ शब्दों की निपातसंज्ञा है—उन शब्दों में लिंग एवं संख्या का भान नहीं होता है । प्रादयः—द्रव्यभिन्नार्थवाचक प्रादि गणपठित प्र, परा आदि २२ शब्दों की भी उसी प्रकार निपातसंज्ञा है ।

उपसर्गाः—प्रादि उपसर्ग यदि क्रिया में जोड़े गए हों तो उनकी उपसर्ग-संज्ञा और गतिसंज्ञा भी होती है ।

१।४।५९। २३ गतिश्च १।४।६० प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसञ्ज्ञा गतिसंज्ञाश्च स्युः। प्र परा अप सम् अनु अव निस् निर् दुस् दुर् वि आङ् नि अधि अपि अति सु उत् अभि प्रति परि उप —एते प्रादयः। २४ न वेति विभाषा १।१।४४। निषेधविकल्पयोर्विभाषा सञ्ज्ञा स्यात्। २५ स्वं रूपं शब्दस्याशब्द-सञ्ज्ञा १।१।६८। शब्दस्य स्वं रूपं सञ्ज्ञि शब्दशास्त्रे या सञ्ज्ञा तां विना। २६ येन विधिस्तदन्तस्य १।१।७४। विशेषणं तदन्तस्य सञ्ज्ञा स्यात् स्वस्य

स्वं रूपं (ई. ६७,७१,७२)—शब्दस्य स्वं रूपं संज्ञि, शब्दशास्त्रे या संज्ञा तां विनेति सूत्रार्थः। 'शब्दस्य स्वं रूपं संज्ञि, इत्येतावन्मात्रार्थस्योदाहरणं तु 'अग्नेर्ढक्' इति। अत्र अग्निशब्देन अग्निशब्दार्थस्य तत्पर्यायस्य=वह्निशब्दस्य वा ग्रहणं न भवति। शब्दशास्त्रे या संज्ञा तां विनेत्यर्थस्योदाहरणं तु वृद्धिगुणादि-संज्ञेति। अत्र वृद्धिगुणादिशब्दस्वरूपस्य ग्रहणं न भवति। किं च 'उपसर्गे घोः किः' इत्यत्र 'घु' इत्यनेन घुधातोर्ग्रहणं न भवतीति दिक्।

येन विधिः (ई. ७४) 'येन' इति करणे तृतीया, करणस्य व्यापार-वत्त्वनियमात्, अन्येषां च व्यापाराभावात्, विशेषणमेवात्र करणतृतीयान्तेन उच्यते। तस्य च इतरव्यावृत्तिकरणमेव व्यापारः, तच्च शब्दोपस्थितिविशेषस्य तादृशं विशेषणमेव तदन्तग्राहकम्। क्वचित् सति गमके अतादृशं शब्दरूपं विशेष्यमादाय अपि तदन्तविधिः। अत एव 'इन्हन्—' इत्यत्र तदन्तविधिः।

न वेति—'न' (निषेध) एवं 'वा' (विकल्प) की 'विभाषा' संज्ञा होती है।

स्वं रूपं—यह संज्ञाविधायक सूत्र है। शब्दोच्चारण के पश्चात् लोक में जो अर्थ का ज्ञान होता है, वह अर्थ विशेष्य और तद्वाचक शब्द विशेषण प्रतीत होता है। शास्त्र में अर्थ का प्राधान्य वाधित है, अतः अर्थ विशेषण होकर शब्द ही विशेष्य (प्रधान) होता है।

नोट—सूत्र में 'अशब्दसंज्ञा' कहा गया है, अतः व्याकरण शास्त्र की संज्ञा-विधायक सूत्रों में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होने से वे गुणादि संज्ञा में अपने-अपने अर्थ को ही बोधित करेंगी। यथा—गुणसंज्ञा 'अदेङ्' का, वृद्धिसंज्ञा 'आदेच्' का बोधक है।

येन—(यह सूत्र विशेषण संज्ञा करता है) जिस विशेषण से किसी कार्य का विधान होता है, वह तदन्त (विशेषणान्त) समुदाय तथा स्वरूप का ग्राहक होता है।

च रूपस्य । २ समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः* । ३ उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्* । २७ विरामोऽवसानम् १।४।११०। वर्णानामभावोऽवसानसञ्ज्ञः स्यात् । २८ परः सन्निकर्षः संहिता १।४।१०९। वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासञ्ज्ञः स्यात् । २९ सुप्तिङन्तं पदम् १।४।१४। सुबन्तं तिङन्तं च पदसञ्ज्ञं स्यात् । ३० हलोऽनन्तराः संयोगः १।१।७। अज्भिरव्यवहिता हलः संयोगसञ्ज्ञाः स्युः । ३१ ह्रस्वं लघु १।४।१०। ३२ संयोगे गुरु १।४।११। संयोगे परे ह्रस्वं गुरुसञ्ज्ञं स्यात् । ३३ दीर्घं च १।४।१२॥ दीर्घं च गुरुसञ्ज्ञं स्यात् ।

इति सञ्ज्ञाप्रकरणम् ।

---

विरामो ( ई. ६३ )—विरम्यतेऽस्मिन्निति विरामः । यस्मिन् वर्णे उच्चारिते सति अव्यवहितोत्तरकाले वर्णान्तराणामुच्चारणाभाव सः अन्त्यवर्णः अवसानसंज्ञकः इत्यर्थः ।

परः सन्निकर्षः ( ई. ६५,७० )—परः = अतिशयितः, सन्निकर्षः = अर्धमात्राधिककालव्यवधानाभावरूपसामीप्यम् । तदाह मूले—वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यादिति । उदाहरणं तु 'सुध्युपास्यः' इत्यादि बोध्यम् ।

सुप्तिङन्तं ( ई. ६६,७० )—'सुप्' इति 'स्वौजसमौट्–' इति सूत्रे 'सु' इत्यारभ्य सुपः पकारेण प्रत्याहारः । सुप् च तिङ् च इति सुप्तिङौ तौ अन्ते यस्य तत् सुप्तिङन्तम् । अन्तशब्दश्च प्रत्येकं सम्बध्यते, तदाह मूले—सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यादिति । उदाहरणं तु 'रामः' इत्यादि बोध्यम् ।

सुप्तिङन्तं पदमिति सूत्रेऽन्तग्रहणं किमर्थम्—अयम्भावः, प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः, इति परिभाषया सुप्तिङोः प्रत्ययत्वेन तदन्तग्रहणे सिद्धे अन्तग्रहणं

---

विरामो—वर्णों का अभाव ( विराम ) 'अवसान' संज्ञक होता है, अर्थात् जिस वर्ण के आगे कोई दूसरा वर्ण नहीं हो वह अवसान वर्ण कहलाता है ।

परः सन्निकर्षः—वर्णों की अत्यन्त सन्निधि की संहिता संज्ञा होती है ।

सुप्ति—सुबन्त और तिङन्त की पदसंज्ञा होती है ।

हलो—'अच्' वर्णव्यवधान से रहित व्यञ्जन वर्णों की संयोगसंज्ञा होती है ।

ह्रस्वं—ह्रस्व वर्ण की लघुसंज्ञा होती है । संयोगे—संयुक्त वर्ण के परे ह्रस्व वर्ण की गुरुसंज्ञा होती है । दीर्घ—दीर्घ अक्षर की गुरुसंज्ञा होती है ।

# अथ परिभाषाप्रकरणम्

३४ इको गुणवृद्धी १।१।३। गुणवृद्धिशब्दाभ्यां यत्र गुणवृद्धी विधीयेते तत्र 'इकः' इति षष्ठ्यन्तं पदमुपतिष्ठते। ३५ अचश्च १।२।२८। ह्रस्व-

---

व्यर्थं सत् ज्ञापयति—'संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति' इति। तेन घसंज्ञा तरप्तमपयोरेव न तदन्तस्य। अतः 'गौरी ब्राह्मणितरा' इत्यत्र न ह्रस्वः।

दीर्घं च (ई. ६४)—अत्र सूत्रे 'संयोगे' इति नानुवर्तते। दीर्घमपि गुरु-संज्ञकमित्यर्थः। छन्दःशास्त्रे एवास्य विशिष्टोपयोगः।

इति 'इन्दुमती' टीकायां संज्ञाप्रकरणम्।

इको गुणवृद्धी (ई. ६६)—'इकः' 'इति षष्ठ्यन्तशब्दः स्वरूपपरः। उप-तिष्ठति इति शेषः। वृद्धिरादैच्, अदेङ्गुणः इत्यतो वृद्धिरिति गुण इति चानु-वर्तते। इतिशब्दोऽध्याहार्यः। यत्र विधीयते तत्रेत्यप्यध्याहार्यम्। ततश्च—'गुणो वृद्धिरित्युच्चार्य्य यत्र गुणवृद्धी विधीयेते तत्र इकः इति षष्ठ्यन्तं पदमुपतिष्ठते' इत्यर्थो भवति। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः, मिदेर्गुणः, इत्याद्युदाहरणम्।

अचश्च (ई. ६३, ६६)—'अचः' इति षष्ठ्यन्तशब्दः स्वरूपपरः।

---

नोट—'प्र-ह्रे वा' = 'प्र' अथवा 'ह्र' (संयुक्त वर्ण) के परे पूर्व के ह्रस्व वर्ण की विकल्प से गुरुसंज्ञा होती है। (श्लोक-रचना में इसका विशेष प्रयोग देखा जाता है।)

इस प्रकार 'इन्दुमती' हिन्दी टीका में संज्ञाप्रकरण समाप्त।

इको—'गुण' तथा 'वृद्धि' को उच्चारण कर गुण या वृद्धि का जहाँ विधान हो वहाँ 'इक्' षष्ठ्यन्त पद की उपस्थिति होती है अर्थात् गुण या वृद्धि 'इक्' के ही स्थानापन्न होते हैं।

अचश्च—जहाँ ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत का विधान हो, वहाँ 'अच्' के स्थान में

दीर्घप्लुतशब्दैर्यत्राज्विधीयते तत्र 'अचः' इति षष्ठ्यन्तं पदमुपतिष्ठते २६ आद्यन्तौ टकितौ १।१।४६। टित्कितौ यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः। ३७ मिदचोऽन्त्यात् परः। १।१।४७। 'अचः' इति निर्धारणे षष्ठी। अचां मध्ये योऽन्त्यस्तस्मात् परस्तस्यैवान्तावयवो मित् स्यात्। ३८ षष्ठी स्थानेयोगा १।१।४९। अनिर्धारितसम्बन्धविशेषा षष्ठी स्थानेयोगा बोध्या। स्थानं च प्रसङ्गः। ३९ स्थानेऽन्तरतमः १।१।५०। प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः

---

'ऊकालोऽच्'—इत्यतः 'अच्ह्रस्वदीर्घप्लुतः' इत्यनुवर्तते। इति यत्र विधीयते इत्यध्याहार्यम्। तदाह मूले—'ह्रस्वदीर्घप्लुतशब्दैर्यत्राज्विधीयते तत्र 'अचः' इति षष्ठ्यन्तं पदमुपतिष्ठते' इति। 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इत्याद्युदाहरणम्।

स्थानेन्तरतमः ( ई. ६३ )—स्थानं प्रसङ्गः। अन्तरशब्दोऽत्र सदृशपर्यायः। अतिशयितोऽन्तरः अन्तरतमः। तदाह मूले—'प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात्' इति। एकस्य स्थानिनः अनेकादेशप्रसङ्गे सति यः स्थानार्थगुणप्रमाणतः स्थानिना सदृशतमः स एव आदेशो भवतीत्यर्थः। अत्र स्थानशब्देन ताल्वादिस्थानं विवक्षितम्। गुणशब्देन प्रयत्नः। प्रमाणशब्देन एकद्विमात्रादिपरिमाणम्। तत्र स्थानतो यथा—दध्यत्र। अर्थतो यथा—तृज्वत्क्रोष्टुः। गुणतो यथा—वाग्घरिः। प्रमाणतो यथा—'अदसोऽसेर्दादुदो मः' इति।

---

ही वह कार्य होता है अर्थात् ह्रस्व, दीर्घ, तथा प्लुत संज्ञायें ह्रस्व की ही होती हैं।

आद्यन्तौ—षष्ठी-निर्दिष्ट के स्थान में विहित 'टित्' तथा 'कित्' आगम क्रमशः उस स्थानी के आदि तथा अन्त में आते हैं।

मिदचो—षष्ठी-निर्दिष्ट के स्थान में विहित 'मित्' कार्य अचों के बीच अन्त्य अच् के बाद आता है।

षष्ठी स्थाने—जिस षष्ठी का किसी से सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता हो ऐसी षष्ठी स्थानपदार्थानुयौगिक सम्बन्धप्रतिपादक है अर्थात् वहाँ स्थानपदार्थ की विशेषतया उपस्थिति होती है।

स्थाने—प्रसंग रहने पर सदृशतम आदेश हो, अर्थात् एकस्थानी के स्थान पर एक ही साथ कई आदेशों की प्राप्ति होने पर उनमें जो सबसे अधिक स्थानी के सदृश हो, वही आदेश हो।

स्यात् । 'यत्राऽनेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः' (प. १३)
४० तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य १।१।६६। सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम् । ४१ तस्मादित्युत्तरस्य १।१।६७। पञ्चमीनिर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम् । ४२

---

यत्राऽनेक (ई. ६६, ७१)—अस्याः परिभाषायाः किं प्रयोजनमिति चेच्छृणु—चेता, स्तोता, इत्यत्र 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति इकारोकारयोः स्थानत आन्तर्याद् एकारौकाररूपे गुणे प्राप्ते प्रमाणत आन्तर्याच्च अकाररूपे गुणे प्राप्ते 'यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः' इति परिभाषया स्थानत आन्तर्यस्य बलवत्वात् एकारौकारौ स्त एवेति ।

आन्तर्यभेदाः के, कानि च तेषामुदाहरणानि (ई. ६६)—स्थानार्थगुणप्रमाणतश्चेति चत्वारः आन्तर्यभेदाः शब्दशास्त्रे प्रसिद्धाः । तत्र स्थानतो यथा—'दध्यत्र' इति । अत्र तालुस्थानस्य इकारस्य स्थाने तालुस्थानीयः यकारो जातः । अर्थतो यथा—'पद्दन्नोमास–' इति । अत्र पादशब्दस्य पदादेशः । गुणतो यथा—'वाग्घरिः' इति । अत्र संवारस्य नादस्य घोषस्य महाप्राणस्य हस्य तादृश एव घकारः । प्रमाणतो यथा—अमुम्, अमू, अमून्, इत्यादि । अत्र 'अदसोऽसेर्दादुदो मः' इत्यनेन ह्रस्वः, दीर्घस्य च दीर्घं ऊकारः । इति ।

तस्मादित्युत्तरस्य (ई. ६४)—'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' इत्यादिसूत्रगतपञ्चम्यन्तस्यानुकरणं तस्मादिति । इतिशब्दानन्तरं गम्येऽर्थे इति शेषः । निर्दिष्टे इत्यनुवर्तते । तदाह मूले—'पञ्चमीनिर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम्' इति । 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' इत्याद्युदाहरणम् ।

---

तस्मिन्निति—सप्तम्यन्त पद का उच्चारण करके विधीयमान जो कार्य वह वर्णान्तर से अव्यवहित पूर्व के स्थान में हो ।

तस्मा—पञ्चम्यन्त पद का उच्चारण कर जिस कार्य का विधान किया गया हो वह कार्य उस पञ्चम्यन्त से बोधित वर्णान्तर से अव्यवहित पर वर्ण के स्थान में हो अर्थात् निमित्त और स्थानी के बीच में अन्य वर्ण को नहीं आना चाहिए ।

यथा—'उदस्थास्तम्भोः पूर्वस्य' इस सूत्र में 'उदः' इस पञ्चम्यन्त पद का उच्चारण कर पूर्वसवर्ण आदेश का विधान किया गया है, अतः यह सूत्र 'उद्' तथा 'स्था' और 'स्तम्भ' के बीच में अन्य कोई वर्ण नहीं होगा तब ही पूर्वसवर्ण कर सकेगा ।

अलोऽन्त्यस्य १।१।५२। षष्ठीनिर्दिष्टस्यान्त्यस्याल आदेशः स्यात्। ४३ ङिच्च १।१।५३। अयमप्यन्त्यस्यैव स्यात्। 'सर्वस्य' (सू ४५) इत्यस्यापवादः। ४४ आदेः परस्य १।१।५४। परस्य यद्विहितं तत्तस्यादेर्बोध्यम्; 'अलोऽन्त्यस्य' (सू. ४२) इत्यस्यापवादः। ४५ अनेकाल्शित् सर्वस्य १।१।५५। स्पष्टम्। 'अलोन्त्य' (सू. ४२) सूत्रापवादः। 'अष्टाभ्य औश्' (सू. ३७२) इत्यादौ 'आदेः परस्य' (सू. ४४) इत्येतदपि परत्वादनेन बाध्यते। ४६ स्वरितेनाधिकारः १।३।११। स्वरितत्वयुक्तं शब्दस्वरूपमधिकृतं बोध्यम्। 'परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः' (प. ३९)।

---

'अष्टाभ्य औश्' इत्यादौ (ई. ६०)— अष्टा जस्' इति स्थिते 'अष्टाभ्य औश्' इति औश् प्राप्तः। स च 'तस्मादित्युत्तरस्य' इति परिभाषया अष्टन्-शब्दाव्यवहितपरस्य प्राप्तः। तत्र अनेकाल्त्वात् सर्वादेशे प्राप्ते 'आदेः परस्य' इति आदेरेव प्राप्ते, तत्र 'तुल्यबलविरोधे परं कार्यम्' इति परस्य प्राबल्येन 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' इति सर्वादेशः।

स्वरितेनाधिकारः (ई. ५५)—स्वरितत्वप्रयुक्तं शब्दस्वरूपमधिकृतं बोध्यमित्यर्थः। यत् पदं शास्त्रकृता स्वरिताख्यस्वरविशेषविशिष्टमुच्चारितं तदुत्तरसूत्रेष्वनुवर्तनीयमिति यावत्। एतत्सूत्रप्रयोजनं तु बहुधा भाष्ये प्रपञ्चितम्।

परनित्येति—परादीनां मध्ये पूर्वपूर्वापेक्षया उत्तरमुत्तरं शास्त्रं बलवत्तरमित्यर्थः। परापेक्षया नित्यान्तरङ्गापवादाः, नित्यापेक्षयापि अन्तरङ्गापवादौ अन्तरङ्गापेक्षयापि अपवादः, इत्येवं क्रमेण पूर्वपूर्वापेक्षया उत्तरोत्तर-

---

अलो— षष्ठीनिर्देशेन विधीयमान जो कार्य वह अन्त्य 'अल्' के स्थान में हो, अर्थात् षष्ठ्यन्त का निर्देश कर जहाँ (जिस उदाहरण में) आदेश का विधान किया गया हो वहाँ अन्त्य वर्ण को ही आदेश हो।

ङिच्च—ङित् आदेश यदि अनेकाल् भी हो तो अन्त्य के स्थान में ही हो।

आदेः—पर के स्थान में विधीयमान (कहा गया) जो कार्य वह पर के आदि वर्ण के स्थान में ही हो—ऐसा समझना चाहिए।

अनेकाल्—अनेकाल् आदेश और शित् (शकारेत्संज्ञक) आदेश संपूर्ण स्थानों के स्थान में होता है। (जिसमें एक से अधिक वर्ण रहे उसे 'अनेकाल्' कहते हैं)। स्वरिते—स्वरितस्वरात्मक चिह्न अधिकार का मापक है।

'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' ( प ५१ ) 'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः' ( प ५७ )। निमित्तं विनाशोन्मुखं दृष्ट्वा तत्प्रयुक्तं कार्यं न कुर्वन्तीत्यर्थः।

इति परिभाषाप्रकरणम्।

---

बलवत्त्वमिति फलितोऽर्थः। परान्नित्यं यथा—'तुदति' इति। अत्र परमपि लघूपधगुणं बाधित्वा नित्यत्वाद् 'तुदादिभ्यः शः' इति शः। परादन्तरङ्गं यथा—'उभये देवमनुष्याः' इति। अत्र 'प्रथमचरम—' इति परामपि विकल्पेन प्राप्तां सर्वनामसंज्ञां बाधित्वा विभक्तिनिरपेक्षत्वेन अन्तरङ्गत्वात् 'सर्वादीनि—' इति सर्वनामसंज्ञा भवति। परादपवादो यथा—'दध्ना' इति। अत्र 'अस्थिदधि–' इत्यनङ् परमपि अनेकालिति सर्वादेशं बाधित्वा 'ङिच्च' इत्यपवादेन अन्तादेशः। नित्यादन्तरङ्गं यथा—'ग्रामणिनि कुले' इति। अत्र नित्यमपि 'इकोऽचि–' इति नुमं बाधित्वा 'ह्रस्वो नपुंसके–' इति अन्तरङ्गत्वाद्ध्रस्वः, प्रथमतः नुमि कृते तु अनजन्तत्वात् ह्रस्वो न स्यात्। अन्तरङ्गादपवादो यथा—'दैत्यारिः' इति। परमपि सवर्णदीर्घं बाधित्वा अन्तरङ्गत्वाद् 'आद्गुणः' इति गुणे प्राप्ते अपवादत्वात् सवर्णदीर्घः।

अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः ( ई. ५१ )—न कृतः अकृतः व्यूहः प्रकृतिप्रत्ययविवेचनं यैः ते अकृतव्यूहाः पाणिनिशिष्या इत्यक्षरार्थः। निमित्तं विनाशोन्मुखं दृष्ट्वा तत्प्रयुक्तं कार्यं न कुर्वन्तीत्यर्थः। 'सेदुषः' इत्याद्युदाहरणम्।

इति 'इन्दुमती' टीकायां परिभाषाप्रकरणम्।

---

परनित्येति—पर से नित्य, नित्य से अन्तरंग और अन्तरंग से अपवाद शास्त्र ( सूत्र ) बलवान होता है।

इस प्रकार 'इन्दुमती' हिन्दी टीका में परिभाषाप्रकरण समाप्त।

# अथ अच्सन्धिप्रकरणम्

४७ इको यणचि ६।१।७७। इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये। 'सुधी उपास्यः' इति स्थिते। स्थानत आन्तर्यादीकारस्य यकारः। 'सुध्य् उपास्यः' इति जाते। ४८ अनचि च ८।४।४७। अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि। इति धकारस्य द्वित्वम्। ४९ स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ १।१।५६॥ आदेशः स्थानिवत् स्यात् न तु स्थान्यलाश्रयविधौ। अनेनेह यकारस्य स्थानिवद्भावेनाच्त्वमाश्रित्य 'अनचि च' (सू. ४८) इति द्वित्वनिषेधो न शङ्क्यः, 'अनल्विधौ' इति तन्निषेधात्। ५० अचः परस्मिन् पूर्वविधौ

---

अचः परस्मिन् (ई. ६७)—अच इत्येतदादेश इत्यनेनान्वेति, अच

---

अच्-सन्धि—अच् (स्वर) वर्ण के साथ अच् वर्ण की जो सन्धि होती है, उसे 'अच्-सन्धि कहते हैं। यह वक्ष्यमाण सन्धि ७ प्रकार की है—१. यण्, २. गुण, ३. वृद्धि, ४. दीर्घ, ५. अयादि, ६. पूर्वरूप तथा ७. प्रकृतिभाव।

नोट—दो या दो से अधिक वर्ण परस्पर अत्यन्त निकटवर्ती होने से जो मिलकर एक हो जाते हैं उस मिलन का नाम सन्धि है। वह सन्धि एक पद में, धातुउपसर्ग में तथा समस्त पद में नित्य होती है किन्तु वाक्य (इन्दुमती अनुगच्छति) में वक्ता के इच्छाधीन (करे या न करे) होती है। तदुक्तं—

संहितैकपदे नित्या, नित्या धातूपसर्गयोः।
नित्या समासे, वाक्ये तु—सा विवक्षामपेक्षते॥

इको—'इक्' के स्थान में यण् आदेश हो 'अच्' के परे संहिता के विषय में।

नोट—निष्कर्ष यह है कि—असमान 'अच्' वर्ण के परे ही 'इक्' के स्थान में 'यण्' हो। अत एव श्री + ईशः, सुष्ठु + उदकम्, इत्यादि स्थान में 'यण्' की प्राप्ति ही नहीं होती है।

अनचि—'अच्' के परे 'यर्' को विकल्प से द्वित्व होता है—पर उसी यर् से पर यदि 'अच्' हो तो द्वित्व नहीं होता।

स्थानि—आदेश स्थानिवत् (स्थानिधर्मवत्) हो, परन्तु स्थानिरूप जो 'अल्' वह तदाश्रय विधि कर्तव्य में नहीं हो अर्थात् अलाश्रय विधि कर्तव्य में स्थानिवद्भाव नहीं हो।

अचः—परनिमित्तक अजादेश स्थानिवत् हो, यदि स्थानिभूत 'अच्' से

१।१।५७। अल्विध्यर्थमिदम् । परनिमित्तोऽजादेशः स्थानिवत् स्यात् स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टस्य विधौ कर्तव्ये । इति यणः स्थानिवद्भावे प्राप्ते । ५१ न पदान्त-द्विवचन-वरे-यलोप-स्वर-सवर्णाऽनुस्वार-दीर्घ-जश्चर्विधिषु १।१।५८। पदस्य चरमावयवे द्विर्वचनादौ च कर्तव्ये परनिमित्तोऽजादेशो न स्थानिवत् । इति स्थानिवद्भावनिषेधः । ५२ झलां जश् झशि ८।४।५३। स्पष्टम् । इति धकारस्य दकारः । ५३ अदर्शनं लोपः १।१।६०। प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यात् । ५४ संयोगान्तस्य लोपः ८।२।२३। संयोगान्तं यत्पदं तदन्तस्य लोपः

---

आदेश इति । परस्मिन्निति सति सप्तमी । ततश्च परनिमित्तक इति लभ्यते । तच्च आदेशविशेषणम् । विधीयत इति विधिः । पूर्वस्य विधिः पूर्वविधिः । तदाह— परनिमित्तोऽजादेशः स्थानिवत् स्यात् स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टस्य विधौ कर्तव्ये, इति । 'सुध्युपास्यः' इत्याद्युदाहरणम् । तत्र हि 'सुध्य् उपास्यः' इति जाते प्रकृतसूत्रेण यकारस्य स्थानिवद्भावेन अच्त्वमाश्रित्य अच्परत्वेन 'अनचि च' इति द्वित्वस्याप्राप्तौ 'न पदान्त–' इति द्विर्वचने कर्तव्ये स्थानिवद्भावनिषेधो भवतीति । अलाश्रयविधावपि स्थानिवद्भावार्थमिदं सूत्रमिति न विस्मर्तव्यम् ।

अदर्शनं लोपः ( ई. ६३ )—शब्दविषयकश्रवणमिह दर्शनम्, तस्याऽभावः अदर्शनम् । 'स्थानेऽन्तरतमः, इत्यतः स्थान इत्यनुवर्तते । स्थानं प्रसङ्गः । तथा च—शास्त्रतः शब्दस्य कस्यचिच्छ्रवणप्रसङ्गे सति यदश्रवणम्, तत् लोपसंज्ञं भवतीत्यर्थः । तदाह मूले–प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यादिति । 'सुद्ध्य् उपास्य.' इति स्थिते संयोगान्तलोपं शङ्कितुं लोपसंज्ञासूत्रमिदं विवक्षितम् ।

---

पूर्वत्वेन दृष्ट को विधि ( कार्य ) कर्तव्य रहे ।

न पदान्त—पदान्त विधि, द्विर्वचन विधि, यलोप विधि, स्वर विधि, सवर्ण विधि, अनुस्वार विधि, जश् विधि तथा चर् विधि के प्रति पर-निमित्तक अजादेश एवं 'वरच्' प्रत्ययनिमित्तक अजादेश पूर्वविधि में स्थानिवत् नहीं होते हैं ।

झलां—'झल्' के स्थान में 'जश्' आदेश हो, 'झश्' परे रहने पर ।

अदर्शनं—प्रसक्त ( शास्त्रतः वा अर्थतः विद्यमान=प्राप्तोच्चारण ) का जो अदर्शन (दर्शनाभाव) वह लोपसंज्ञक होता है —उस अभाव को लोप कहते हैं ।

संयो— जिस पद के अन्त्य में संयोग ( संयुक्त ) अक्षर हो उस के अन्त्य अक्षर का लोप होता है ।

स्यात् । इति यलोपे प्राप्ते । ४ यणः प्रतिषेधो वाच्यः * । ५ यणो मयो द्वे वाच्ये* । 'मय इति पञ्चमी, यण इति षष्ठी' इति पक्षे यकारस्यापि द्वित्वम् । तदिह धकारयकारयोर्द्वित्वविकल्पाच्चत्वारि रूपाणि । एकधमेकयम् । द्विधं द्वियम् । द्विधमेकयम् । एकधं द्वियम् । सुद्ध्य्युपास्यः । मद्ध्वरिः । धात्त्रंशः । लाक्कृतिः । ५५ नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य ८।४।४८। पुत्रशब्दस्य न द्वे स्त आदिनीशब्दे परे आक्रोशे गम्यमाने । पुत्रादिनी त्वमसि पापे । 'आक्रोशे' किम् ? तत्त्वकथने द्विर्वचनं भवत्येव । पुत्त्रादिनी सर्पिणी । ६ तत्परे च* । पुत्रपुत्रादिनी त्वमसि पापे । ७ वा हतजग्धयोः * । पुत्रहती–पुत्त्रहती । पुत्रजग्धी–पुत्त्रजग्धी ।

५६ त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य ८।४।५०। त्र्यादिषु वर्णेषु संयुक्तेषु वा द्वित्वम् । इन्न्द्रः–इन्द्रः । राष्ट्ट्रम्–राष्ट्रम् । ५७ सर्वत्र शाकल्यस्य ८।४।५१। द्वित्वं न । अर्कः । ब्रह्मा । ५८ दीर्घादाचार्याणाम् ८।४।५२। द्वित्वं न । दात्रम् । पात्रम् । ५९ अचो रहाभ्यां द्वे ८।४।४६। अचः पराभ्यां

---

पुत्रजग्धी ( ई. ७४ )—'पुत्र जग्धी' इति स्थिते 'वाहतजग्धयोः' इति वार्तिकेन विभाषया द्वित्वे 'पुत्त्रजग्धी' इति । द्वित्वाऽभावे 'पुत्रजग्धी'ति । 'अनचि चे'ति द्वित्वविकल्पे सिद्धे क्तान्ते परे पुत्रशब्दस्य यदि द्वित्वं तर्हि हतजग्धयोरेव, आक्रोशे एवेति नियमार्थमिदमिति तत्त्वविदः । नियमफलं तु 'पुत्रवित्तिः' इत्यादौ द्वित्वाऽभावः ।

सर्वत्र शाकल्यस्य ( ई. ७४ )—नेत्यनुवर्तते । यत्र-यत्र द्वित्वं विहितं तत्र-तत्र शाकल्यस्य ऋषेर्मते द्वित्वं न भवतीत्यर्थः । अर्कः, ब्रह्मा इत्याद्युदाहरणम् ।

---

नादिन्या—आदिनी शब्द के परे पुत्र शब्द के अवयव (त्) का द्वित्व नहीं होता, यदि वाक्य से आक्रोश (निन्दा) अवगत होया हो ।

त्रिप्रभृतिषु—शाकटायनाचार्य के मत में तीन से लेकर अधिक व्यञ्जनों के संयोग में किसी का भी द्वित्व नहीं होता है ।

सर्वत्र—शाकल्याचार्य के मत में किसी भी संयोग में द्वित्व नहीं होता है ।

दीर्घा—आचार्यों के मत में दीर्घ से उत्तरवर्ती संयोग का द्वित्व नहीं होता है ।

अचो—'अच् से पर जो रेफ या हकार, उससे पर जो 'यर्' उसको द्वित्व हो—विकल्प से ।

रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः। हर्य्यनुभवः—नह्य्यस्ति। ६० हलो यमां यमि लोपः ८।४।६४। हलः परस्य यमो लोपः स्याद्वा यमि। इति लोपपक्षे द्वित्वाभावपक्षे चैकयं रूपं तुल्यम्। लोपारम्भफलं तु 'आदित्यो देवता अस्येत्यादित्यं हविः' इत्यादौ। 'यमां यमि' इति यथासंख्यविज्ञानान्नेह-माहात्म्यम्। ६१ एचोऽयवायावः ६।१।७८। एचः क्रमादय् अव् आय् आव् एते स्युरचि। ६२ तस्य लोपः १।३।९। तस्येतो लोपः स्यात्। इति यवयोर्लोपो न, उच्चारणसामर्थ्यात्। एवञ्च इत्संज्ञापीह न भवति। हरये। विष्णवे। नायकः। पावकः। ६३ वान्तो यि प्रत्यये ६।१।७९। यकारादौ प्रत्यये परे ओदौतोरव् आव् एतौ स्तः। गोर्विकारौ गव्यम्। 'गोपयसोर्यत्' (सू० १५-३८)। नावा तार्यं नाव्यम्। 'नौवयोधर्म–' (सू १६४३) इत्यादिना यत्। ८ गोयूँतौ छन्दस्युपसंख्यानम्*। ९ अध्वपरिमाणे च*। गव्यूतिः। ऊति

'हलो यमां यमि लोपः' इति सूत्रस्य प्रयोजनं किम्? (ई. ६२)—अयम्भावः, हर्य्यनुभवः, न ह्य्यस्ति, इत्यादौ 'अचो रहाभ्यां द्वे' इति द्वित्वे द्वियकारकं, तदभावे एकयकारकं रूपं सिद्ध्यत्येवेति 'हलो यमां यमि लोपः' इत्यस्य प्रयोजनं किमिति चेन्न, अदितेरादित्यस्य वा अपत्यम् आदित्यः इत्यत्र विभाषया यलोपविधानार्थं तस्यावश्यकत्वात्। तथा—आदित्यशब्दाद् देवतार्थे 'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः' इति ण्यप्रत्यये भत्वात् 'यस्येति च' इत्यकारलोपे 'हलो यमां यमि लोपः' इति विभाषया यलोपे उक्तं रूपं सिद्धं भवति।

गव्यूतिः (ई. ६३, ७३, ७५)—युधातोरधिकरणे क्तिन्प्रत्यये कृते 'ऊति-

हलो—हल् से पर यम् (प्रत्याहार) का यम् के परे विकल्प से लोप हो जाता है।

एचो—एच् (ए ओ ऐ औ) के स्थान में क्रम से अय्, अव्, आय्, आव् आदेश होता है।

तस्य—जिस की इत्संज्ञा होती है उसका लोप (दर्शनाभाव) हो जाता है।

वान्तो—यकारादि प्रत्यय के परे 'ओत्–औत्' को वान्त (अव्–आव्) आदेश होता है।

गोयूँतौ—यूति शब्द के परे गो के ओकार को वेद में अव् आदेश हो जाता है।

अध्व—मार्ग के परिमाण रूप संज्ञा में यूति के परे गो के ओकार को अव्

यूति–'। ( सू ३२७४ ) इत्यादिना यूतिशब्दो निपातितः। वान्त इत्यत्र वकाराद् गोर्यूताविलत्यत्र छकाराद्वा पूर्वभागे 'लोपो व्योः–' ( सू ८७५ ) इति लोपेन वकारः प्रश्लिष्यते। तेन श्रूयमाणवकारान्त आदेशः स्यात्। वकारो न लुप्यत इति यावत्। ६४ धातोस्तन्निमित्तस्यैव ६।१।८०। यादौ प्रत्यये परे धातोरेचश्चेद्वान्तादेशस्तर्हि तन्निमित्तस्यैव नान्यस्य। लव्यम्। अवश्यलाव्यम्। 'तन्निमित्तस्यैव' इति किम्? ओयते। औयत। ६५ क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे

---

यूति–' इत्यादिना निपातनाद्दीर्घे 'यूतिः' इति। 'गव्यूतिः, इत्यस्य गोप्रचारभूमिः, इत्यर्थे 'गोर्यूतौ छन्दस्युपसंख्यानम्' इति वान्तादेशे 'गव्यूतिः' इति। 'गव्यूतिः' इत्यस्य क्रोशयुगम्, इत्यर्थपक्षे तु लोकेऽपि 'अध्वपरिमाणे च' इति वान्तादेशो बोध्यः। 'वान्तो यि प्रत्यये' इति वान्तादेशस्तु न, यूतिशब्दस्य प्रत्ययत्वाभावात्।

वान्त इत्यत्रेति ( ई. ६६ )—अयम्भावः—गव्यम्, नाव्यम् इत्यादौ पदत्वेन 'लोपः शाकल्यस्य' इति वकारस्य लोपः कथं नेति चेन्न, 'वान्त' इत्यत्र वकारप्रश्लेषेण श्रूयमाणवकारादेशविधानात्। अथ च यदि पदत्वबाधकेन भत्वेन 'गव्यम्' इत्यादौ लोपाप्रसक्तिस्तदा 'गव्यूतिः' इत्यादौ वकारलोपाऽभावार्थं 'गोर्यूतौ छन्दस्युपसंख्यानम्' इति छकारात् पूर्वं वकारप्रश्लेषो बोध्यः। तथा च तत्सामर्थ्यादत्र वलोपाभाव इति।

लव्यम् ( ई. ७०, ७२, ७७ )—'लूञ् छेदने' इति धातोर्यत्प्रत्यये कृते गुणे 'लो यम्' इति स्थिते 'धातोस्तन्निमित्तस्य' इति ओकारस्य धात्वयवत्वात् यादिप्रत्ययनिमित्तकत्वाच्च वान्तादेशे 'लव्यम्' इति।

तन्निमित्तस्यैवेति किम्?—अयमाशयः, यत्र यादिप्रत्ययनिमित्तको धातोरेच् भवति, तत्रैव वान्तादेशो भवति। 'ओयते' इत्यत्र तु वेञ्धातोः कर्मणि लटि, यकि, सम्प्रसारणे च कृते आङा सहैकादेशो जातः। ततश्च यादिप्रत्ययनिमित्तक

---

आदेश होता है। ( यूति का अर्थ मिश्रण है )

धातोः—धातु सम्बन्धी 'एच्' के स्थान में भी वान्त आदेश होता है यकारादि प्रत्ययों के परे, यदि वह धात्वन्वयव एच् की उपपत्ति के निमित्त वे ही यकारादि प्रत्यय हो ( जिनके परे आदेश का विधान होता हो )

क्षय्य—शक्य अर्थ में यत् प्रत्यय के परे 'क्षि' तथा 'जि' धातु सम्बन्धी 'एच्' ( क्षे, जे ) के स्थान में जय् आदेश होता हैं।

६।१।८१। यान्तादेशनिपातनार्थमिदम् । क्षेतुं शक्यं क्षय्यम् । जेतुं शक्यं जय्यम् 'शक्यार्थे' किम् ? क्षेतुं जेतुं योग्यं क्षेयं पापं जेयं मनः । ६६ क्रय्यस्तदर्थे ६।१।८२। तस्मै प्रकृत्यर्थायेदं तदर्थम् । क्रेतारः क्रीणीयुरिति बुद्ध्या आपणे प्रसारितं क्रय्यम् । क्रेयमन्यत् । क्रयणार्हमित्यर्थः । ६७ लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९। अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्वा लोपोऽशि परे । 'पूर्वत्रासिद्धम्' (सू. १२) इति लोपशास्त्रस्यासिद्धत्वान्न स्वरसन्धिः । हर एहि–हरयेहि । विष्ण इह–विष्णविह । श्रिया उद्यतः–श्रियायुद्यतः । गुरा उत्कः–गुरावुत्कः ।

एच नास्ति, किन्तु गुणनिमित्तक एवेत्यतोऽत्र वान्तादेशवारणाय तन्निमित्तस्यैवेति कर्तव्यम् । केचित्त्वत्र धातूपसर्गयोः कार्यं बहिरङ्गमिति वान्तादेशे कर्तव्ये गुणोऽसिद्ध एवेति 'औयत' इत्यत्र वान्तादेशवारणार्थं नियमभूतसूत्रं कर्तव्यमिति वदन्ति । वस्तुतस्तु 'नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः' इति परिभाषया निषेधान्नात्रान्तरङ्ग-बहिरङ्गभाव इति तत्त्वविदः ।

हर एहि (ई. ६६)—'हरे एहि' इति स्थिते 'एचोऽयवायावः' इत्ययादेशे 'लोपः शाकल्यस्य' इति यलोपे 'हर एहि' इति भूते 'आद्गुणः' इति गुणे प्राप्ते 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति यलोपस्याऽसिद्धत्वाद् गुणाभावे 'हर एहि' इति । यलोपा-भावपक्षे 'हरयेहि' इति भवति ।

ॠ. लृ. शब्दयोः रूपाणि ( ई. ५८ )—

( १ ) ॠ = आ अरौ अरः । अरम् अरौ ॠन् । रा ॠभ्याम् ॠभिः । रे ॠभ्याम् ॠभ्यः । उः ॠभ्याम् ॠभ्यः । उः रोः ॠणाम् । अरि रोः ॠषु । हे अः हे अरौ हे अरः ।

( २ ) लृ = आ अलौ अलः । अलम् अलौ ॠन् । ला लृभ्याम् लृभिः । ले लृभ्याम् लृभ्यः । उल् लृभ्याम् लृभ्यः । उल् लोः ॠणाम् । अलि लोः लृषु । हे अल् हे अलौ हे अलः ।

क्रय्यः—क्रय्य ( खरीदने वाला खरीद ले इस निमित्त बेचने के स्थान [ बाजार ] में रखा हुआ पदार्थ ) अर्थ में 'यत्' प्रत्यय के परे क्रीधातु सम्बन्धी एच् के स्थान में अयादेश का निपातन होता है ।

लोपः—अवर्ण हो पूर्व में जिनके ऐसे पदान्त यकार तथा वकार का अश् के परे रहते लोप हो जाता है, शाकल्याचार्य के मत से ।

'कानि सन्ति' 'कौ स्तः' इत्यत्रास्तेरल्लोपस्य स्थानिवद्भावेन यणावादेशौ प्राप्तौ 'न पदान्त—' ( सू. ५१ ) इति सूत्रेण पदान्तविधौ तन्निषेधान्न स्तः। ६८ एकः पूर्वपरयोः ६।१।८४। इत्यधिकृत्य। ६९ आद् गुणः ६।१।८७। अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुण आदेशः स्यात् संहितायाम्। उपेन्द्रः। रमेशः। गङ्गोदकम्। ७० उरण् रपरः १।१।५१। 'ऋ इति त्रिंशतः संज्ञा' इत्युक्तम्, तत्स्थाने योऽण् स रपरः सन्नेव प्रवर्तते। तत्रान्तरतम्यात् 'कृष्णर्द्धिः' इत्यत्र अर्। 'तवल्कारः' इत्यत्र अल्। 'अचो रहाभ्याम्—' ( सू. ५९ ) इति

कृष्णर्द्धिः ( ई. ७५ )—ऋध्धातोः क्तिनि 'झषस्तयोः—' इति धत्वे 'ऋद्धिः' इति। 'कृष्ण ऋद्धिः' इति स्थिते 'ऋकारस्य गुणवृद्धी अरारावेव' इति भाष्योक्त्या 'आद्गुणः' इति अकार-ऋकारयोः स्थाने गुणे अकारे तस्य 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे 'कृष्णर्द्धिः' इति।

( अत्र धात्वन्तस्य धकारस्य 'अचो रहाभ्यां द्वे' इति द्वित्वाऽभावे सति 'झरो झरि सवर्णे' इति लोपे च सति एकधकारकं 'कृष्णर्धिः' इति। तस्यैव ( धात्वन्तस्य ऋद्धेर्धकारस्यैव ) द्वित्वाभावे लोपे च असति द्विधकारकम्, अथवा तस्यैव द्वित्वे लोपे च सति द्विधकारकमेव 'कृष्णर्द्धिः' इति। तस्यैव द्वित्वे सति लोपे च असति त्रिधकारकं 'कृष्णर्द्द्धिः' इति। तदुक्तं मूले—'द्वित्वाभावे लोपे सत्येकधम्' इत्यादि )।

तवल्कारः—( ई ५६, ६७, ७१ )—'तव ऌकारः' इति स्थिते 'आद्गुणः' इति अकार-ऌकारयोः स्थाने गुणे अकारे तस्य 'उरण् रपरः' इति लपरत्वे 'तवल्कारः' इति। अत्र 'यणो मयो द्वे वाच्ये' इत्यस्य 'यणः परस्य मयो द्वित्वम्' इति व्याख्याने ककारस्य द्वित्वं लकारस्य तु 'अनचि चे'ति द्वित्वं तेन रूपचतुष्टयं बोध्यम्। (तथा हि-लकारस्य द्वित्वे ककारस्य द्वित्वाऽभावे च सति द्विलकारकमेकककारकं च प्रथमं रूपम्। ककारस्य द्वित्वे लकारस्य

एकः—पूर्व तथा पर स्थानियों के स्थान में एक ही आदेश ( यथा—अ + उ = ओ ) होता है।

आद्—अवर्ण ( अ या आ ) के आगे 'अच्' रहे तो पूर्व और पर इन दोनों के स्थान में मिलकर एक गुण आदेश होता है।

उरण्—( संज्ञाप्रकरणोक्त तीस प्रकार के-) ऋ ऌ के स्थान में जायमान जो अण् ( अ इ उ ) वह यथाक्रम से रपर और लपर होकर ही प्रवृत्त होता है।

गुणेन प्रेषः। प्रेष्यः। ऋते च तृतीयासमासे*। सुखेन ऋतः सुखार्तः। 'तृतीया' इति किम्? परमर्तः। १४ प्रवत्सतर-कम्बल-वसनार्णदशाना-मृणे*। प्रार्णम्। वत्सतरार्णमित्यादि। ऋणस्यापनयनाय यदन्यदृणं क्रियते तद् ऋणार्णम्। दशार्णो देशः। नदी च दशार्णा। ऋणशब्दो दुर्गभूमौ जले च। ७४ उपसर्गादृति धातौ ६।१।९१। अवर्णान्तादुपसर्गादृकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। प्रार्च्छति। उपार्च्छति। ७५ अन्तादिवच्च

---

प्रार्च्छति (ई॰ ७०, ७२, ७६,)—'प्र ऋच्छति' इति स्थिते गुणं बाधित्वा 'उपसर्गादृति धातौ' इति वृद्धौ 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे 'प्रार्च्छति' इति। नन्वत्र 'आर्' इत्येकादेशस्य 'अन्तादिवच्च' इति पूर्वान्तवत्त्वेन रेफस्य पदान्तत्वात् 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति विसर्गः कुतो नेति चेन्न, 'उभयथर्क्षु' 'कर्तरि चर्षि' इत्यादिषु रेफस्य विसर्गाकरणपूर्वकं रेफविशिष्टनिर्देशेन 'अन्तवद्भावेन पदान्त-रेफस्य न विसर्गः' इति ज्ञापनेनादोषात्।

अन्तादिवच्च—(ई. ७४)—अत्र 'एकः पूर्वपरयोः' इति सूत्रमनुवर्तते। यथासंख्यपरिभाषया 'अन्तादिवत्' इत्यस्य क्रमेण अन्वयः। ततश्च—'पूर्वपरयो-र्भवन् एकः आदेशः पूर्वस्य अन्तवत् परस्य आदिवत् 'स्यात्' इत्यर्थो लभ्यते। पूर्वस्यान्तवदित्यस्योदाहरणं 'क्षीरपेण' इति। अत्र 'क्षीरप इन' इति स्थिते 'आद्गुणः' इत्येकादेशः एकारः, तत्र पूर्वान्तवत्त्वेन 'पे' इत्युत्तरपदस्य एकाच्त्वात् 'एकाजुत्तरपदे णः' इति णत्वं भवति। परस्यादिवदित्यस्योदाहरणं खट्व +

---

ऋते—अवर्ण से पर ऋत-शब्दावयव अच् हो तो पूर्व-पर के स्थान में वृद्धि रूप एक आदेश होता है – तृतीया समास में। (यह गुण का बाधक है)

प्रवत्सतर—प्र, वत्सर, कम्बल, वसन, ऋण तथा दशन-शब्दावयव अवर्ण से पर ऋण-शब्दावयव अच् पर में हो तो पूर्व-पर के स्थान में वृद्धि रूप एक आदेश होता है। (यह गुण का बाधक है)

उपसर्गा—अवर्णान्त उपसर्ग से ऋकारादि धात्ववयव अच् पर में हो तो पूर्व-पर के स्थान में वृद्धिरूप एकादेश होता है।

अन्ता—पूर्व तथा पर स्थानियों के स्थान में विहित ऐकादेश अपने पूर्व-स्थानी (पूर्व शब्द) के अन्त्यावयव जैसा तथा अपने परस्थानी (पर शब्द) के आद्यावयव जैसा होता है।

६।१।८५। योऽयमेकादेशः स पूर्वस्यान्तवत्परस्यादिवत्स्यात् । इति रेफस्य पदान्तत्वे । ७६ खरवसानयोर्विसर्जनीयः ८।३।१५। खरि अवसाने च परे रेफस्य विसर्जनीयः स्यात् । पदान्ते इति विसर्गे प्राप्ते । अन्तवद्भावेन पदान्तरेफस्य न विसर्गः, 'उभयथर्क्षु' (सू ३६२८) 'कर्तरि चर्षिदेवतयोः' (सू ३१६७) इत्यादिनिर्देशात् । उपसर्गेणैव धातोराक्षेपे सिद्धे 'धातौ' इति योगविभागेन पुनर्वृद्धिविधानार्थम् । तेन 'ऋत्यकः' ( सू ९२ ) इति पाक्षिकोऽपि प्रकृतिभावोऽत्र न भवति ।

७७ वा सुप्यापिशलेः ६।१।९२। अवर्णान्तादुपसर्गादृकारादौ सुब्धातौ परे वृद्धिर्वा स्यात् । आपिशलिग्रहणं पूजार्थम् । प्रार्षभीयति-प्रर्षभीयति । सावर्ण्यात् ऌवर्णस्य ग्रहणम् । प्राल्कारीयति-प्रल्कारीयति । तपरत्वाद्दीर्घे न । उपऋकारीयति-उपर्कारीयति । ७८ एङि पररूपम् ६।१।९४। अवर्णान्तादुपसर्गादेङादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः स्यात् । प्रेजते । उपोषति । इह 'वा सुपि' इत्यनुवर्त्यं

---

आ 'खट्वा' इति । अत्र सवर्णदीर्घे कृते आकारस्य परादित्वेन टाप्त्वात् ततः परस्य सोर्हल्ङ्यादिलोपो भवतीति ।

प्रार्षभीयति ( ई० ६२, ६७, ७० ) ऋषभमात्मनः इति ऋषभीयति । 'प्र ऋषभीयति' इति स्थिते गुणं प्रबाध्य 'वा सुप्यापिशलेः' इति वृद्धौ रपरत्वे 'प्रार्षभीयति' इति। वृद्धौ सत्याम् 'अचो रहाभ्यां द्वे' इति द्वित्वं तु न, 'शरोऽचि' इति निषेधात् । पक्षे तु 'आद्गुणः' इति गुणे रपरत्वे 'प्रर्षभीयति इति।

---

खरव—खर् पर में रहें अथवा अवसान संज्ञा का विषय रहें तो वहाँ पदान्त रेफ का विसर्ग होता है।

वा सुप्या—सुबन्तावयव ऋकारादि धातु के ऋकार के परे अवर्णान्त उपसर्ग के रहने पर उपसर्गान्त्यावयव अवर्ण तथा सुबन्तावयव-धात्वन्तावयव ऋकार के स्थान में वृद्धिरूप एकादेश होता है - विकल्प से आपिशलि आचार्य के मत से ।

एङि—अवर्णान्त उपसर्ग से पर एङादि धातु के होने पर पूर्व-पर के स्थान में पररूप एक आदेश होता है ।

नोट—पररूप होने पर पूर्व वर्ण का पर वर्ण के समान रूप हो जाता है अर्थात् पूर्व वर्ण ( अ ) का लोप हो जाता है।

वाक्यभेदेन व्याख्येयम् । तेन एङादौ सुब्धातौ वा । उपेडकीयति–उपैडकीयति । प्रोधीयति–प्रौधीयति । १५ एवे चाऽनियोगे* । नियोगोऽवधारणम् क्वेव भोक्ष्यसे । अनवक्लृप्तावेवशब्दः । 'अनियोगे' किम् ? तवैव । ७९ अचोऽन्त्यादि टि १।१।६४। अचां मध्ये योऽन्त्यः स आदिर्यस्य तट्टिसंज्ञं स्यात् । १६ शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्* । तच्च टेः । शकन्धुः । कर्कन्धुः । कुलटा । 'सीमन्तः केशवेशे' ( ग १३५ ) । सीमान्तोऽन्यः । मनीषा । हलीषा । लाङ्गलीषा ।

---

उपेडकीयति ( ई० ७२, ७४ )—'एङि पररूपम्' इति सूत्रे 'वा सुपि' इत्यनुवर्त्य 'एङि पररूपम्' इति प्रथमं वाक्यम् । अवर्णान्तादुपसर्गादेङादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः स्यादिति तदर्थः । उदाहरणं तु 'प्रेजते' इत्यादि । अत्र नित्यमेव पररूपं भवति । 'वा सुपि' इति तु द्वितीयं वाक्यम् । अत्र 'एङि पररूपम्' इत्यनुवर्तते' धातौ उपसर्गादित्यादि च । ततश्च—अवर्णान्तादुपसर्गादेङादौ सुब्धातौ परे पररूपमेकादेशो वा स्यादित्यर्थो भवति । तेन 'उप एडकीयत इति स्थिते विकल्पेनानेन पररूपे 'उपेडकीयति' इति । पक्षे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'उपैडकीयति' इत्यपि भवति ।

घि-टि ( ई० ६८ )–प्रकृतिभागस्य घिसंज्ञा, प्रत्ययमात्रस्य टिसंज्ञा, प्रकृतिप्रत्यययोः वृद्धिसंज्ञा, प्रकृतिमात्रस्य सम्बुद्धिसंज्ञा, प्रत्ययमात्रस्य भसंज्ञा–अपृक्तसंज्ञा च, प्रकृतेरन्त्यालः पूर्ववर्णस्य उपधासंज्ञा, प्रत्ययमात्रस्य विभक्तिसंज्ञा सर्वनामस्थानसंज्ञा च प्रकृतिप्रत्यययोः प्रगृह्यसंज्ञेति ।

शकन्धुः–शकानां=देशविशेषाणाम्, अन्धुः=कूपः, शकन्धुः । 'शक अन्धुः' इति स्थिते सवर्णदीर्घं प्रबाध्य 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' इति पररूपे उक्तं

---

अचो—अचो के मध्य में जो अन्त्य अच् वह है आदि में जिसके उस समुदाय की टिसंज्ञा होती है ।

नोट—'शक + अन्धुः' यहाँ पर 'शक' में जो ककारोत्तरवर्त्ती अकार है, वह किसी के आदि में नहीं है । अतः व्यपदेशवद्भाव से यहां 'अ' को टिसंज्ञा होगी । परन्तु 'मनस्+ईषा' यहाँ पर जो 'मनस्' में नकारोत्तरवर्ती 'अ' है, वह 'स्' के आदि में है, अतः यहाँ 'अस्' की टिसंज्ञा होगी ।

शकन्ध्वा—शकन्ध्वादि गणपठित शब्दों की सिद्धि के लिए पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है और वह पररूप 'टि' को ही । सीमन्तः—केशों के अलंकरण अर्थ में 'सीमन्' शब्द की टि ( अन् ) को पररूप होता है ।

पतञ्जलिः । 'सारङ्गः पशुपक्षिणोः' ( ग १३६ ) । साराङ्गोऽन्यः । आकृतिगणोऽयम् । मार्तण्डः १७ ओत्वोष्ठयोः समासे वा* । स्थूलोतुः–स्थूलौतुः । विम्बोष्ठः-बिम्बौष्ठः । समासे किम् ? तवौष्ठः ।

८० ओमाङोश्च ६।१।९५। ओमि आङि च आत्परे पररूपमेकादेशः स्यात् । शिवायों नमः। शिव एहि–शिवेहि । ८१ अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ ६।१।९८। ध्वनेरनुकरणस्य योऽच्छब्दस्तस्मादितौ परे पररूपमेकादेशः स्यात् । पटत् इति–पटिति । १८ एकाचो न* । श्रदिति । ८२ नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा ६।१।९९। आम्रेडितस्य प्रागुक्तं न स्यात्, अन्त्यस्य तु तकारमात्रस्य वा स्यात् । १९ डाचि बहुलं द्वे भवतः* । इति बहुलवचनाद् द्वित्वम् । ८३ तस्य परमा-

---

रूपं सिद्धम् । अत्र तत्पररूपं टिसंज्ञकस्य भवति, टिसंज्ञा च 'अचोऽन्त्यादिटि' इत्यनेन 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति वचनात् ककारोत्तरवर्तिनः अकारस्य भवतीति न विस्मर्तव्यम् ।

शिव एहि (ई० ७२, ७४)—'शिव आ इहि' स्थिते 'धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्' इत्यन्तरङ्गत्वात् सवर्णदीर्घस्याऽसिद्धत्वात् पूर्वम् 'आद्गुणः' इति आकारेकारयोः गुणे 'एहि' इति जाते 'शिव एहि' इति स्थिते 'अन्तादिवच्च' इति अन्तवद्भावमादाय 'ओमाङोश्च' इति पररूपे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

---

सारंगः— पशु या पक्षी अर्थ में स्वर शब्द की टि का पररूप होता है—'अच्' के परे रहने पर । ओत्वोष्ठ—अवर्ण से समासावयव ओतु अथवा ओष्ठ शब्दावयव अच् पर रहें तो पररूप विकल्प से होता है ।

ओमाङ्—अवर्ण से पर ओम् या आङ् हो तो पूर्व-पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है ।

अव्यक्तानु—अव्यक्तवर्णानुक्रम के 'अत्' के परे 'इति' शब्द के रहने से पूर्व-पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है ।

एकाचो—यह ( पूर्वोक्त ) अनुकरण यदि एकाच् रहें तो वहाँ इति पर में रहने पर भी पररूप नहीं होता है ।

नाम्रेडि—अव्यक्तानुकरण के आम्रेडित 'अत्' शब्द के परे 'इति' शब्द के होने पर भी पररूप-एकादेश नहीं होता है, किन्तु 'अत्' शब्दघटक तकार मात्र तथा इति के आद्यावयव ( इ ) के स्थान में विकल्प से पररूप होता है ।

तस्य—द्विरुक्ति में जो दो रूप होते हैं, उनमें द्वितीय रूप की आम्रेडित संज्ञा होती है ।

म्रेडितम् ८।१।२। द्विरुक्तस्य परं रूपमाम्रेडितसंज्ञं स्यात् पटत्पटेति । ८४ झलां जशोऽन्ते ८।२।३९। पदान्ते झलां जशः स्युः । पटत्पटदिति । ८५ अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।१०१। अकः सवर्णेऽचि परे दीर्घ एकादेशः स्यात् दैत्यारिः । श्रीशः । विष्णूदयः । 'अचि' किम् ? कुमारी शेते । 'नाज्झलौ' ( सू १३ ) इति सावर्ण्य-निषेधस्तु न दीर्घशकारयोः, ग्रहणकशास्त्रस्य सावर्ण्यविधिनिषेधाभ्यां प्रागनिष्पत्तेः । 'अकः' किम् ? हरये । 'अकोऽकिदीर्घः' इत्येव सुवचम् । २० ऋति सवर्णे ऋ वा* । होतृकारः-होतॄकारः । २१ लृति सवर्णे लृ वा* । होतॢकारः । पक्षे ॠकारः । सावर्ण्यात् । होतॄकारः । 'ऋति ऋ वा' 'लृति लृ वा' इत्युभयत्रापि

---

पटत्पटेति ( ई० ६८, ७१, ७४ )—'डाचि बहुलं द्वे भवतः' इति बहुल-ग्रहणात् द्वित्वे सति 'पटत् पटत् इति' इति स्थिते 'तस्य परमाम्रेडितम्' इति द्वितीयस्य 'पटत्' शब्दस्य आम्रेडितसंज्ञायां 'नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा' इति सूत्रेण अत्शब्दान्तस्य तकारस्य पररूपे 'पटत्पट इति' इति स्थिते 'आद्गुणः' इति गुणे 'पटत्पटेति' इति । पररूपाभावपक्षे 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वे 'पट-त्पटदिति' इति ।

अचि किम् ( ई० ६७, ७१ )—'अकः सवर्णे दीर्घः' इति सूत्रे अच्पदानु-वृत्त्यभावे 'कुमारी शेते' इत्यत्र दीर्घकारशकारयोः विवृतप्रयत्नतालुस्थानतुल्य-त्वेन सावर्ण्यात् सवर्णदीर्घापत्तिः स्यात् । न च 'नाज्झलौ' इति तयोः सावर्ण्य-निषेध इति वाच्यम्, तत्र सूत्रे अच्पदेन दीर्घादीनां ग्रहणाभावेन दीर्घादीनां हलां च परस्परं सवर्णसंज्ञानिषेधस्य वक्तुमशक्यत्वात् । अच्पदेन दीर्घादीनां ग्रहणम् 'अणुदित्'—सूत्रेण कर्तव्यम्, तच्च न सम्भवति 'नाज्झलौ' इति सूत्रार्थविबोध-काले ग्रहणकशास्त्रस्य 'अणुदित्—' सूत्रस्य सावर्ण्यविधिनिषेधाभ्यां प्रागनिष्पत्त्या 'अणुदित्—'सूत्रेण ग्राहकत्वेन बोधाऽभावात् ।

पक्षे ॠकारः ( ई० ६९ )—'ऌवर्णस्य द्वादश तस्य दीर्घाभावात्' । तेन 'होतृ ऌकारः' इति स्थिते पक्षे सवर्णदीर्घे कृते 'होतॄकारः' इत्येवोदाहृतं भाष्ये । तन्वेवं ऌवर्णस्य दीर्घाभावे—'ऋति ऋ वा, ऌति ऌ वा' इत्युभयत्रापि विधेयं

---

झलां—पदान्त झल् के स्थान में जश् आदेश होता है ।

अकः—अक् के बाद सवर्ण अच् रहे तो दोनों के स्थान में दीर्घ एकादेश होता है । ऋति—ह्रस्व सवर्ण ऋ के परे ऋ रहे तो ( दीर्घ को बाधकर ) विकल्प से ह्रस्व ऋकार हो जाता है ।

विधेयं वर्णद्वयं द्विमात्रम्, आद्यस्य तु मध्ये द्वौ रेफौ, तयोरेका मात्रा। अभितोऽज्भक्तेरपरा। द्वितीयस्य तु मध्ये द्वौ लकारौ, शेषं प्राग्वत्। इहोभयत्रापि 'ऋत्यकः' (सू ९२) इति पाक्षिकः प्रकृतिभावो वक्ष्यते। ८६ एङः पदान्तादति ६।१।१०९। पदान्तादेङोऽति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। हरेऽव। विष्णोऽव। ८७ सर्वत्र विभाषा गोः ६।१।१२२। लोके वेदे चैङन्तस्य गोरति वा प्रकृतिभावः स्यात्पदान्ते। गो अग्रम्—गोऽग्रम्। 'एङन्तस्य' किम्? चित्रग्वग्रम्। 'पदान्ते' किम्? गोः। ८८ अवङ् स्फोटायनस्य ६।१।१२३। 'अति' इति

---

वर्णद्वयं द्विमात्रम्' इति ग्रन्थाऽसङ्गतिरिति चेन्न, ताभ्यामपूर्वद्विमात्रिकस्य 'ऋ-ऌ' विधानस्य तत्रैव प्रतिपादितत्वात्। तथा हि तत्र 'आद्यस्य-ऋकारस्य, मध्ये द्वौ रेफौ तयोरेका मात्रा ('व्यञ्जनं चार्धमात्रिकम्' इति स्मरणात्), अभितः = रेफद्वयस्य पुरस्तादुपरिष्टाच्च, विद्यमानयोर्ह्रस्वऋकारांशयोरेका मात्रा। एवं द्वितीयस्य-विधेयस्य ऌकारस्य मध्ये द्वौ लकारौ तयोरेका मात्रा। अभितः = ऌकारस्य पुरस्तादुपरिष्टाच्च विद्यमानयोर्ऌकारांशयोरेका मात्रा, इत्युभयत्रापि अपूर्वं द्विमात्रिकं विधाने च न ग्रन्थाऽसङ्गतिरिति दिक्।

'अति' इति निवृत्तम्—'अवङ् स्फोटायनस्य' इति सूत्रे 'अति' इति निवृत्तम्। अत्र मानन्तु—नित्यग्रहणं किमर्थम्? 'इन्द्रे च' इत्यारम्भसामर्थ्यादेव नित्यत्वलाभात्, इति 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इति सूत्रस्य भाष्यमेव। अन्यथा 'गवेन्द्रः' इत्यादौ अत्परत्वाऽभावाद अवङोऽप्राप्तया तदर्थम् 'इन्द्रे च' इत्यस्यानावश्यकत्वात् 'आरम्भसामर्थ्यान्नित्यत्वलाभः' इति भाष्यकारोक्तिरसंगता स्यात्। 'अति' इति निवृत्तौ 'अचि' इति मण्डूकप्लुत्या अनुवृत्तिस्वीकारे च

---

लृति सवर्णे—(एवं) सवर्ण ह्रस्व ऌ के परे ऋ रहे तो (दीर्घ को बाँधकर) विकल्प से ऌकार हो जाता है।

एङः—पदान्त एङ् (ए ओ) के बाद ह्रस्व अकार रहे तो पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप हो जाता है (पूर्वरूप का चिह्न (ऽ) लगाया भी जाता है)।

सर्वत्र—लौकिक-वैदिक दोनों प्रकार के प्रयोगों में एङन्त अर्थात् ओकारान्त गो शब्द के आगे ह्रस्व 'अ' रहे तो वहाँ विकल्प से प्रकृतिभाव हो जाता है (सन्धि नहीं भी होती है)।

अवङ्—'अच्' के परे गोशब्द को अवङ् आदेश हो जाता हे, स्फोटायन आचार्य के मत से।

निवृत्तम्। अचि परे पदान्ते गोरवङ् वा स्यात्। गवाग्रम्। 'पदान्ते' किम्? गवि। व्यवस्थितविभाषया गवाक्षः। ८९ इन्द्रे च ६।१।१२४। गोरवङ् स्यादिन्द्रे। गवेन्द्रः।

इति अच्सन्धिप्रकरणम्।

—:०:—

पूर्वसूत्रेणैव तत्राऽवङ्सिद्धौ 'इन्द्रे च' इत्यस्य वैयर्थ्येन तत्सामर्थ्यात् 'नित्यमिति किम्' इति भाष्योक्ते सामञ्जस्यमेवेति दिक्।

गवाग्रम् ( ई. ६४ )—'गो अग्रम्' इति स्थिते अवादेशं प्रबाध्य 'सर्वत्र विभाषा गोः' इति प्रकृतिभावे प्राप्ते तमपि प्रबाध्य 'अवङ्स्फोटायनस्य' इति अग्रमित्येतद्घटकाऽकारे परे पदान्ते विद्यमानस्य एङन्तगोशब्दस्य 'अनेकाल्शित्सर्वस्ये'ति परिभाषया सम्पूर्णस्थाने अवङि प्राप्ते 'ङिच्चे'त्यनेन गकारोत्तरवर्तिनः ओकारस्य अवङि अनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे च 'गवाग्रम्' इति। पक्षे 'सर्वत्र विभाषा गोः' इति प्रकृतिभावे 'गो अग्रम्' इति। प्रकृतिभावाऽभावपक्षे 'एङः पदान्तादति' इति पररूपे 'गोऽग्रम्' इति।

गवाक्षः ( ई. ७४ )—'वातायनं गवाक्षः स्यादि'त्यमरः। क्वचिद्भवतीत्यंशे एव प्रवर्तते, क्वचित्तु न भवतीत्यंशे एव, क्वचिदुभयमित्येवं लक्ष्यानुसारेण व्यवस्थया प्रवृत्ता विभाषा व्यवस्थितविभाषा 'सर्वत्र विभाषा गोः' इत्यत्र आश्रीयते। ततश्च 'गवाक्षः' इत्यत्र नित्यमेव अवङ् भवतीति बोध्यम्।

इति 'इन्दुमती' टीकायामच्सन्धिप्रकरणम्।

—:०:—

इन्द्रे च—इन्द्रशब्दावयव अच् ( इ ) के परे भी गोशब्दावयव एङ् ( ओ ) को नित्य ही अवङ् आदेश हो जाता है।

इस प्रकार 'इन्दुमती' हिन्दी टीका में अच्सन्धिप्रकरण समाप्त।

—:०:—

# अथ प्रकृतिभावप्रकरणम्

९० प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ६।१।१२५। प्लुताः प्रगृह्याश्च वक्ष्यन्ते, तेऽचि परे नित्यं प्रकृत्या स्युः। एहि कृष्ण३ अत्र गौश्चरति। हरी एतौ। नित्यमिति किम्? 'हरी एतौ' इत्यादावयमेव प्रकृतिभावो यथा स्यात्, 'इकोऽसवर्णे' (सू ९१) इति ह्रस्वसमुच्चितो मा भूत्। ९१ इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ६।१।१२७। पदान्ता इकोऽसवर्णेऽचि परे प्रकृत्या स्युर्ह्रस्वश्च वा। अत्र ह्रस्वविधिसामर्थ्यादेव प्रकृतिभावे सिद्धे तदनुकर्षणार्थश्चकारो न कर्तव्य इति

---

(अच्सन्धिप्रकरणान्तर्गतमेव प्रकृतिभावप्रकरणं ज्ञेयम्)

'हरी एतौ' इत्यादावयमेवेति (ई. ६८, ७०)—अयम्भावः, 'हरी ईशौ' इत्यादौ 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इति, 'चक्री अत्र' इत्यत्र तु 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' इति च सावकाशम्, ततश्च 'हरी एतौ' इत्यादौ परत्वात् 'इकोऽसवर्णे—' इति ह्रस्वसमुच्चित एव प्रकृतिभावो भवेत्। नित्यग्रहणे तु तत्सामर्थ्येन प्लुतस्य प्रगृह्यसंज्ञकस्य च अचि परेऽयमेव प्रकृतिभावो नान्य इति बोध्यते। तेन 'हरी एतौ' इत्यत्र द्विवचनान्तस्य 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' इति प्रगृह्यसंज्ञायामेव प्रकृतिभावो भवति, न तु 'इकोऽसवर्णे—' इति ह्रस्वसमुच्चित इति।

अत्र ह्रस्वविधिसामर्थ्यादेवेति—अयम्भावः, 'चक्री अत्र' इति स्थिते 'इकोऽसवर्णे—' इति ह्रस्वमात्रविधाने 'इको यणचि' इति यण् स्यादिति चेन्न, ह्रस्वविधानस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। एवञ्च प्रकृतिभावस्य अन्यथासिद्धत्वात्तदनुकर्षणार्थश्चकारो न कर्तव्यः इति भाष्याशयः।

---

प्रकृतिभाव—प्रकृतिभाव का अर्थ है—प्रकृति-स्थित (सन्ध्यभाव)।

प्लुत—अच् वर्ण के परे होने पर प्लुत तथा प्रगृह्यसंज्ञक शब्द प्रकृतिवत् बने रहते हैं (कोई भी सन्धि नहीं होती है)।

इको—असवर्ण अच् वर्ण के परे रहने पर इक् वर्ण भी प्रकृतिवत् रहता है शाकल्याचार्य के मत से। किन्तु यदि इक् वर्ण दीर्घ रहता है तो उसके स्थान में ह्रस्वादेश हो जाता है।

भाष्ये स्थितम् । चक्रि अत्र—चक्र्यत्र । 'पदान्ताः' इति किम् गौर्यौ । २२ न समासे* । वाप्यश्वः । २३ सिति च* । पार्श्वम् । ९२ ऋत्यकः ६।१।१२८। ऋति परेऽकः प्राग्वद्वा । ब्रह्म ऋषिः-ब्रह्मर्षिः । 'पदान्ताः' इत्येव । आर्च्छत् । समासेऽप्ययं प्रकृतिभावः । सप्त ऋषीणाम्—सप्तर्षीणाम् । ९३ वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः ८।२।८२। इत्यधिकृत्य । ९४ प्रत्यभिवादेऽशूद्रे ८।२।८३। अशूद्रविषये प्रत्यभिवादे यद्वाक्यं तस्य टेः प्लुतः स्यात्; स चोदात्तः । अभिवादये देवदत्तोऽहम् । भो आयुष्मान् एधि देवदत्त ३ । २२ स्त्रियां न* । अभिवादये

---

देवद३त्त ( ई. ६८, ७१ )—'गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम्' अत्र सूत्रे 'दूराद्धूते च' इत्यनुवर्तते । 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' इत्यधिकृतम् । ततश्च—'दूरात् सम्बोधने यद्वाक्यं तत्र सम्बोध्यमानवाचकं यत् पदं तदवयवस्य ऋकारभिन्नस्य गुरोः ( अन्त्यस्य तु गुरोरगुरोश्च ) प्लुतः, स्यात्' इत्यर्थो भवति । तेन 'दे३वदत्त' देवद३त्त, देवदत्त३, इति रूपत्रयं सिद्धं भवति । अत्र सूत्रे एकैकग्रहणं पर्यायार्थम् । अन्यथा सर्वेषां गुरूणां युगपत् प्लुतः स्यादिति तत्त्वविदः ।

---

न समासे—( किन्तु ) समास में असवर्ण अच् वर्णपरक पदान्त इक् को ह्रस्व या प्रकृतिभाव कुछ भी नहीं होता है । सिति च—सकारेत्संज्ञक प्रत्यय के परे पदान्त इक् को विकल्प से ह्रस्व और प्रकृतिभाव नहीं होता है ।

ऋत्यकः—अच् परे हो तो पदान्त 'अक्' को पूर्वकथित ह्रस्व और प्रकृतिभाव विकल्प से होता है,—चाहे समास हो या न हो ।

वाक्यस्य—वाक्य के 'टि' को प्लुत एवं उदात्त होता है—ऐसा यह सूत्र आगे के उत्तरोत्तर सूत्रों में अधिकृत होकर बोध करता है ।

प्रत्यभि—शूद्र को छोड़कर द्विजाति के लिये प्रयुक्त प्रत्यभिवादन वाक्य ( अभिवादनोत्तर गुरुजनों द्वारा प्रयुक्त आशीर्वादात्मक वाक्य ) के टिसंज्ञक के स्थान में प्लुत ( त्रैमात्रिक ) आदेश होता है और वह उदात्त भी हो जाता है ।

स्त्रियां—स्त्रीकर्तृक प्रणामोत्तर प्रत्यभिवादन वाक्य के 'टि' के स्थान में प्लुत नहीं होता है । नाम गोत्रं—जहाँ प्रत्यभिवादन वाक्य के अन्त में नाम अथवा गोत्र ( वंशवाचक ) शब्द हो वहीं टिसंज्ञक को उदात्तत्वविशिष्ट प्लुत आदेश होता है । भो राजन्य—भो शब्द, जहाँ क्षत्त्रियवाचक शब्द या वैश्यवाचक शब्द वाक्य के अन्त में रहे वहाँ प्लुत होता है ।

गार्ग्यहम् । भो आयुष्मती भव गार्गि । नाम गोत्रं वा यत्र प्रत्यभिवादवाक्यान्ते प्रयुज्यते तत्रैव प्लुत इष्यते (भा० इ०) । नेह आयुष्मानेधि । २५ भो राजन्य-विशां वेति वाच्यम्* । आयुष्मानेधि भोः ३ । आयुष्मानेधीन्द्रवर्म३न् । आयु-ष्मानेधीन्द्रपालित ३ । ९५ दूराद्धूते च ८।२।८४। दूरात्सम्बोधने यद्वाक्यं तस्य टेः प्लुतः स्यात् । सक्तून् पिब देवदत्त३ । ९६ हैहेप्रयोगे हैहयोः ८।५।८५। एतयोः प्रयोगे दूराद्धूते यद्वाक्यं तत्र हैहयोरेव प्लुतः स्यात् । हे ३ राम । राम है ३ । ९७ गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याऽप्येकैकस्य प्राचाम् ८।२।८६। दूरा-द्धूते यद्वाक्यं तस्य ऋद्भिन्नस्यानन्त्यस्यापि गुरोर्वा प्लुतः स्यात् । दे३वदत्त–देवद३त्त–देवदत्त३ । 'गुरोः' किम् ? वकारात्परस्याकारस्य मा भूत् । 'अनृतः' किम् ? कृष्ण ३ । एकैकग्रहणं पर्यायार्थम् । इह 'प्राचाम्' इति योगो विभज्यते । तेन सर्वः प्लुतो विकल्प्यते । ९८ अप्लुतवदुपस्थिते ६।१।१२९। उपस्थितोऽनार्षं इति शब्दः, तस्मिन्परे प्लुतोऽप्लुतवद् भवति । अप्लुतकार्यं यणादिकं करोतीत्यर्थः सुश्लोक ३ इति, सुश्लोकेति । 'वत्' किम् ? 'अप्लुतः' इत्युक्तेऽप्लुत एव विधी-

---

सुश्लोकेति ( ई. ६४, ६६, ७३ )—'सुश्लोक३–' इति प्लुतान्तो वैदिक-मन्त्रः । तत्र पदकाले तस्मात् परतः 'इति' शब्दं पदकाराः पठन्ति । 'तत्र सुश्लोक ३ इति' स्थिते 'अप्लुतवदुपस्थिते' इति अप्लुतवद्भावेन प्रकृतिभावाऽ-

---

दूराद्धूते—दूर से किसी को बुलाने के लिए उच्चारित वाक्य के 'टि' के स्थान में भी प्लुत आदेश तथा उसके स्थान में भी उदात्त आदेश हो जाते हैं ।

हैहे—दूर से बुलाने वाले ( सम्बोधनार्थक ) वाक्य के 'है' अथवा 'हे' शब्द से सम्पन्न होने पर है तथा हे शब्द के स्थान में ही प्लुत आदेश तथा उसके स्थान में उदात्त आदेश होता है ।

गुरोः – प्राचीनाचार्यों के मत में—सम्बोधन-पदवृत्ती ऋकाररहित अन्त्य एवं अनन्त्य गुरुसंज्ञक 'टि' के स्थान में क्रमशः ( पर्यायेण ) प्लुत तथा उदात्तादेश हो जाता है ।

नोट—इस सूत्र से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन के मत से पूर्वोक्त सभी प्लुत विकल्प से होता है ।

अप्लुत—अनार्ष ( वेदमन्त्राऽघटित ) इति शब्द के परे प्लुत को अप्लुवद्-भाव हो जाता है ।

येत प्लुतश्च निषिध्येत। तथा च प्रगृह्याश्रये प्रकृतिभावे प्लुतस्य श्रवणं न स्यात् अग्नी ३ इति। ९९ ई३ चाक्रवर्मणस्य ६।१।१३९। ई३ प्लुतोऽचि परेऽप्लुतवद्वा स्यात्। चिनुहि३ इति–चिनुहीति। चिनुहि३ इदम्–चिनुहीदम्। उभयत्र विभाषेयम्। १०० ईदूदेद्–द्विवचनं प्रगृह्यम् १।१।११। ईदूदेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यसंज्ञं स्यात्। हरी एतौ। विष्णू इमौ। गङ्गे अमू। पचेते इमौ। 'मणीवोष्ट्रस्य' इति त्विवार्थे वशब्दो वाशब्दो वा बोद्धव्यः। १०१ अदसो मात् १।१।१२। अस्मात्परावीदूतौ प्रगृह्यौ स्तः। अमी ईशाः। रामकृष्णावमू आसाते। 'मात्' किम्? अमुकेऽत्र। असति मादग्रहणे एकारोऽप्यनुवर्तेत। १०२ शे १।१।१३। अयं प्रगृह्यः स्यात्। अस्मे इन्द्राबृहस्पती। १०३ निपात

---

भावे सति 'आद्गुणः' इति गुणे 'सुश्लोकेति' इति सिद्धम्। अत्र इति शब्दः पदकारप्रक्षिप्तत्वादवैदिकः इति न विस्मर्तव्यम्।

अग्नी३इति (ई० ७१, ७३, ७५)—'अप्लुतवदुपस्थिते' इति सूत्रस्य 'वत्' ग्रहणस्य प्रत्युदाहरणमेतत्। तथा हि—'वत्' ग्रहणाऽभावे प्लुतस्य स्थाने अप्लुत एव विधीयते। अतः प्लुत एव निवर्तेत। ततश्च 'अग्नी३इति' इत्यत्र प्रकृतसूत्रेण प्लुतोऽप्लुतविधाने सति 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' इति प्रगृह्यसंज्ञायां प्लुतप्रगृह्ये'ति प्रकृतिभावे ईकारः त्रिमात्रो न श्रूयेत। वत्करणे तु प्लुतकार्यस्य प्रकृतिभावस्यैव निवृत्तिर्गम्यते न तु प्लुतस्यापीति नोक्तदोषः इत्यवसेयम्।

हरी एतौ (ई० ६५, ६८, ७०)—'हरी एतौ' इति स्थिते 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' इति प्रगृह्यसंज्ञायां 'प्लुतप्रगृह्ये'ति प्रकृतिभावे उक्तं रूपं सिद्धम्। अत्र प्रगृह्यसंज्ञाकाले ईकारस्य परादिवत्त्वात् द्विवचनत्वं बोध्यम्।

---

ई३ चाक्र—अच् के परे प्लुत ईकार अप्लुतवत् हो जाता है, चाक्रवर्मण आचार्य के मत में।

ईदूदेद्—ईदन्त, ऊदन्त, तथा एदन्त द्विवचन शब्दों की 'प्रगृह्य' संज्ञा हो जाती है।

अदसो—अदस् शब्द सम्बन्धी मकार से परवर्ती—ईत्, ऊत्, एत् की प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

शे—शकारेत्संज्ञक 'ए' आदेश की प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

निपात–ङकारेत्संज्ञक 'आ' को छोड़कर एक अच् रूप निपात की प्रगृह्यसंज्ञा होती है। अर्थात् 'आङ्' रहित एकस्वर मात्र अव्यय की सन्धि नहीं होती है।

एकाजनाङ् १।१।१४। एकोऽज्निपात आङ्वर्जः प्रगृह्यः स्यात् । इ विस्मये । इ इन्द्रः । उ वितर्के । उ उमेशः । 'अनाङ्' इत्युक्तेरङिदाकारः प्रगृह्य एव । आ एवं नु मन्यसे । आ एवं किल तत् । ङित्तु न प्रगृह्यः ईषदुष्णम् ओष्णम् । 'वाक्यस्मरणयोरङित्' 'अन्यत्र ङित्' इति विवेकः । १०४ ओत् १।१।१५। ओदन्तो निपातः प्रगृह्यः स्यात् । अहो ईशाः । ११५ सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे १।१।१६। सम्बुद्धिनिमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिके इतौ परे ।

---

वाक्यस्मरणयोरङित्—अयम्भावः, 'निपात एकाजनाङ्' इति सूत्रे 'अनाङ्' इति पर्युदासात् ङित्तु आकारः प्रगृह्यो न भवति, तेन 'आ ( ईषत् ) उष्णम्' इति स्थिते आकारस्य ङित्त्वात् प्रगृह्यत्वाऽभावे 'आद्गुणः' इति गुणे 'ओष्णम्' इति सिद्धं भवति । न च प्रयोगदशायां ङकारस्याऽश्रवणाविशेषात् ङिदङिद्विवेकः कथमिति वाक्यम्, 'वाच्यस्मरणयोरङित्' इति भाष्योक्तत्वात् । तथा च भाष्यम्—

'ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च यः ।
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥ इति ।

---

वाक्यस्मरणयोः—यह भाष्यपठित श्लोकवार्तिक है इसका पूर्णस्वरूप—'ईषदर्थे०' है ।

ईषदर्थे—ईषत् अर्थ में, क्रिया के योग में, मर्यादा में तथा अभिविधि अर्थ में जो 'आ' वह ङित् है और अन्यत्र = वाक्य—स्मरण में पठित 'आ' अङित् है ।

उदाहरण—ईषत् ( अत्यल्प ) अर्थ में—आ + उष्णम् =ओष्णम् ( किंचित् गरम ) । ईषत् क्रिया के योग में—आ + इहि = एहि ( यहाँ आओ ) । मर्यादा ( सीमा ) अर्थ में—आ + अम्बुधेः = आम्बुधेः ( समुद्रपर्यन्त ) । अभिविधि ( मर्यादा का प्रभेद = व्याप्ति ) अर्थ में—आ + एकदेशात् = ऐकदेशात् ( एकदेश को व्याप्तकर ) ।

ओत्—ओदन्त निपात की प्रगृह्यसंज्ञा होती है ।

सम्बुद्धौ—( किन्तु ) सम्बोधन एकवचन की सम्बुद्धिसंज्ञा को मानकर जो ओकार अनार्ष ( वेद-मन्त्र-भिन्न ) इति शब्द के पूर्व रहे, उस ओकार की विकल्प से प्रगृह्यसंज्ञा होती है ।

विष्णो इति–विष्ण इति विष्णविति । 'अनार्षे' इति किम् ? ब्रह्मबन्धवित्यब्र-वीत् । १०६ उञः १।१।१७। उञ इतौ वा प्रागुक्तम् । उ इति–विति । १०७ ऊँ १।१।१८। उञ इतौ दीर्घोऽनुनासिकः प्रगृह्यश्च ऊँ इत्ययमादेशो वा स्यात् । ऊँ इति । १०८ मय उञो वो वा ८।३।३६। मयः परस्य उञो वो वा स्यादचि । किमु-उक्तम्-किम्वुक्तम् । वस्यासिद्धत्वान्नानुस्वारः । १०९ ईदूतौ च सप्तम्यर्थे १।१।१९। सप्तम्यर्थे पर्यवसन्नमीदूदन्तं प्रगृह्यं स्यात् । सोमो गौरी अधिश्रितः । मामकी तनू इति । 'सुपांसुलुक्–' (सू ३५५९) इति सप्तम्या लुक् । अर्थग्रहणं किम् ? वृत्तावर्थान्तरोपसंक्रान्ते मा भूत् । वाप्यामश्वो वाप्यश्वः ।

---

ऊ इति ( ई० ६४, ६९, ७० )—'उ इति' इति स्थिते 'ऊँ' इति सूत्रेण दीर्घानुनासिकप्रगृह्यत्वविशिष्ट 'ऊँ' इत्यादेशे प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिभावे च विहिते 'ऊँ इति' इति । विकल्पपक्षे 'उञः' इति प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिभावे 'उ इति' । प्रगृह्यत्वस्याप्यभावे सति यणादेशे 'विति इति । ननु एकसूत्रत्वेनैवोक्तप्रयोग-सिद्धे किमर्थो योगविभागः इति चेन्न, एकसूत्रत्वे सति उञः इतौ परे ऊँ इत्ययं दीर्घोऽनुनासिकः प्रगृह्यश्चादेशः शाकल्यस्य मते स्यात् । ततश्च तदभावपक्षे 'निपात एकाजि'ति नित्ये प्रगृह्यत्वे सति 'विति' इति तृतीयरूपस्यासिद्धेः ।

किम्वुक्तम् ( ई० ६४, ७१, ७४ )–'किमु उक्तम्' इति स्थिते 'निपात एकाजनाङ्' इति सूत्रं प्रबाध्य 'मय उञो वो वा' इति वादेशे किम्वुक्तम्' इति । वादेशे सति 'मोऽनुस्वारः' इत्यनुस्वारस्तु न वत्वस्यासिद्धत्वात् ।

अर्थग्रहणं किमिति ( ई० ६३, ६५ )—अयम्भावः, 'ईदूदन्तं यत्सप्त-म्यन्तं तत् प्रगृह्यसंज्ञं स्यात्' इत्यर्थेनैव इष्टसिद्धेः 'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे' इति

---

उञः—अवैदिक इति शब्द के परे ञकारेत्संज्ञक 'उ' की विकल्प से प्रगृह्य-संज्ञा होती है । ऊँ—अवैदिक इति शब्द के परे 'उञ्' के स्थान में 'ऊँ' इस प्रकार का दीर्घ अनुनासिक आदेश विकल्प से होता है और वह प्रगृह्य' भी कहलाता है ।

मय—अच् के परे मय् से पूर्ववर्ती उञ् के स्थान में विकल्प से वकारा-देश हो जाता है ।

ईदूतौ–सप्तमी के अर्थ को प्रकट करने वाले ईदन्त तथा ऊदन्त शब्दरूपों की प्रगृह्यसंज्ञा होती है ।

११० अणोऽप्रगृह्यस्याऽनुनासिकः ८।४।५७। अप्रगृह्यस्याणोऽवसानेऽनुनासिको वा स्यात् । दधिँ–दधि । 'अप्रगृह्यस्य' किम् ? अग्नी ।

इति प्रकृतिभावप्रकरणम् ।

—:०:—

---

सूत्रे अर्थग्रहणं किमर्थमिति चेन्न, तदेव व्यर्थीभूय ज्ञापयति-'सप्तम्यर्थविशेष्यताकोपस्थितिजनकस्यैव इकारान्तस्य ऊकारान्तस्य वा प्रगृह्यसंज्ञे'ति । तेन वाप्यामश्वः इत्यत्र समासघटकवापीशब्दस्य प्रत्ययलक्षणेन सप्तम्यन्तत्वेऽपि समासे शक्तिस्वीकारेण सप्तम्यर्थविशेष्यताकोपस्थितिजनकत्वाऽभावेन न प्रगृह्यसंज्ञेति ।

इति 'इन्दुमती' टीकायां प्रकृतिभावप्रकरणम् ।

—❀❀❀—

---

अणोऽत्र—अवसान में वर्तमान अप्रगृह्यसंज्ञक अण् ( अ इ उ ) विकल्प से अनुनासिक होता है ।

## अभ्यास

सन्धि कुरु—पितृ + ऋणम् । शुभ्र + ऋषिः । सुखस्य + औपयिकम् । अव + एति । उप + ऋच्छत् । प्र + ओषति । गोपाल + एहि । इन्दुमती + उवाच । मृदु + ओदनः । मातृ + इच्छा । ऌ + आनय । ने + अनम् । कस्मै + इदम् । भो + अनम् । भो + इष्यति । ते + आगताः । शशिशेखरः + अस्मि । गो + अक्षः । आगच्छ सखे + अत्र । बटू + उच्छलतः । अमू + अश्नीतः । अहो + इदम् ? उ + उद्धवः ।

विच्छेदं कुरु—गुरूहः । महर्कारः । महौचित्यम् । अवैधते । उपार्णोति । प्रैषयति । अवेति । अत्यौदरिकः । तन्वङ्गी । प्रशास्त्रृध्वंम् । लानय ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' हिन्दी टीका में अच्सन्धि समाप्त ।

# अथ हल्सन्धिप्रकरणम्

१११ स्तोः श्चुना श्चुः ८।४।४०। सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः। हरिश्शेते। रामश्चिनोति। सच्चित्। शार्ङ्गिञ्जय। ११२ शात् ८।४।४४। शात्परस्य तवर्गस्य श्चुत्वं न स्यात्। विश्नः। प्रश्नः। ११३ ष्टुना ष्टुः ८।४।४१। स्तोः ष्टुः योगे ष्टुः स्यात्। रामष्षष्ठः। रामटीकते। पेष्टा। तट्टीका। चक्रिण्ढौकसे। ११४ न पदान्ताट्टोरनाम् ८।४।४२। 'अनाम्' इति लुप्तषष्ठीकं पदम्। पदान्ताट्टवर्गात् परस्यानामः स्तोः ष्टुर्न स्यात्। षट् सन्तः। षट् ते। 'पदान्तात्' किम्? ईट्टे। 'टो' किम्? सर्पिष्टमम्।

---

टोः किं सर्पिष्टमम्—ननु 'तोः षि' इति निर्देशात् 'क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते' इति परिभाषया 'ष्टुना ष्टुः' इति सूत्रात् 'टु' मात्रस्यानुवृत्तौ पदान्ताट्टवर्गात् परस्यानामः स्तोः ष्टुर्न स्यादित्यर्थलाभे 'न पदान्ताट्टोरनाम्' इति सूत्रे टोग्रहणं व्यर्थमिति चेन्न, तदेव व्यर्थं सदुक्तपरिभाषाया अनित्यत्वं ज्ञापयति। तथा च टोग्रहणाभावे 'सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः' इति परिभाषया 'टुः' इति समुदायस्यानुवृत्तौ पदान्ताभ्यां षकारटवर्गाभ्यां परस्येत्याद्यर्थे 'सर्पिष्टमम्' इत्यत्रापि ष्टुत्वनिषेधः स्यादिति तद्वारणाय सूत्रे टोग्रहणस्यावश्यकत्वात्।

न च 'सर्पिष् तमम्' इति स्थिते 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति, अन्तर्वर्तिनीं

---

हल्सन्धि – हल् ( व्यंजन ) वर्ण के साथ अच् या हल् वर्ण की सन्धि को हल्सन्धि कहते हैं।

स्तोश्चु—सकार और तवर्ग से पहले या बाद में शकार या तवर्ग कोई भी हो तो स् को श् और तवर्ग को चवर्ग हो जाता है।

नोट—यहाँ स्थानी और आदेश में यथासंख्य अपेक्षित नहीं है, ऐसा होने पर आगे का 'शात्' सूत्र ही व्यर्थ हो जायगा ( आगे ष्टुत्व में भी ऐसा समझना चाहिए )।

शात्—शकार से परवर्ती तवर्ग के स्थान में चवर्ग नहीं होता हैं।

ष्टुना—षकार या टवर्ग के योग ( पूर्व वा पर ) में सकार के स्थान में षकार तथा तवर्ग के स्थान में टवर्ग हो जाते हैं।

२६ अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्* । षण्णाम् । षण्णवतिः । षण्णनर्गः । ११५ तोःषि ८।४।४। तवर्गस्य षकारे परे न ष्टुत्वम् । सन्षष्ठः । 'झलां जशोऽन्ते' ( सू. ८४ ) । वागीषः चिद्रूपम् । ११६ यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ८।४।४५। यरः पदान्तस्यानुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात् । एतन्मुरारिः–एतद्मुरारिः । स्थानप्रयत्नाभ्यामन्तरतमे स्पर्शे चरितार्थो विधिरयं रेफे न प्रवर्तते । चतुर्मुखः । २७ प्रत्यये भाषायां नित्यम्* । तन्मात्रम् । कथं तर्हि, 'मदोदग्राः' ककुद्मन्तः इति ? यवादि ( ग २९० ) गणे दकारनिपातनात् । ११७ तोर्लि ८।४।६०। तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः स्यात् । तल्लयः । विद्वाँल्लिखति । नकारस्यानुनासिको लकारः । ११८ उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य

---

विभक्तिमाश्रित्य वा षकारस्य पदान्तत्वात् जश्त्वे षकारानुवृत्तावपि पदान्ते टवर्गस्यैव लाभः इति वाच्यम्, जश्त्वे कर्तव्ये 'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते' इति सूत्रविहितषत्वस्यासिद्धत्वात् जश्त्वाभावात् पदान्ते न टवर्गः किन्तु षकार एवेति तत्र दोषस्य जागरूकत्वात् ।

चतुर्मुखः ( ई० ६२, ६३, ७१, ७२ ) अयम्भावः 'चतुर्मुखः इत्यत्र रेफणकारयोः मूर्धस्थानान्तर्यात् 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' इति रेफस्य अनुनासिको णकारः कुतो नेति चेन्न, 'एतन्मुरारिः' इत्यादौ स्थानतः प्रयत्नतश्चान्तरतमे स्पर्शे चरितार्थे लब्धप्रयोजनोऽयमनुनासिकविधिः स्थानमात्रेण आन्तर्यमादाय रेफे न प्रवृत्तिमर्हति, 'यूनि लब्धे तु युवतिर्जरठे रमते कथम्' इति न्यायात् ।

---

न पदान्ता—'नाम्' शब्दावयव तवर्ग को छोड़कर पदान्त टवर्ग से परवर्ती सकार अथवा तवर्ग के स्थान में षकार अथवा टवर्ग नहीं होते हैं ।

तोः षि—षकार के परे तवर्ग के स्थान में टवर्ग नहीं होता है ।

झलां—पदान्त में वर्तमान झल् के स्थान में जश् आदेश होता है ।

यरोऽनु—अनुनासिक वर्ण के परे पदान्त में स्थित यर् को विकल्प से अनुनासिक होता है ।

तोर्लिः—तवर्ग को लकार के परे परसवर्ण होता है ।

नोट—परसवर्ण करने पर नकार के स्थान में विशेषता यही होती हैं कि तत्सवर्णी अनुनासिक विशिष्ट लकार आदेश होता है । यथा—विद्वान् + लिखति= विद्वा लँ् लिखति ।

उदः—'उद्' से पर स्था और स्तम्भ के स्थान में पूर्वसवर्ण आदेश होता है ।

८।१।६१। उदः परयोः स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णः स्यात् । 'आदेः परस्य' ( सू. ४४ ) । उत्थानम् । उत्तम्भनम् । अत्राघोषस्य महाप्राणस्य तादृश एव थकारः । तस्य 'झरो झरि - ' ( सू ७१ ) इति पाक्षिको लोपः । लोपाभावपक्षे तु थकारस्यैव श्रवणम् । नतु 'खरि च' ( सू १२१ ) इति चर्त्वम्, चर्त्वं प्रति थकारस्यासिद्धत्वात् । ११९ झयो होऽन्यतरस्याम् ८।४।६२। झयः परस्य हस्य पूर्वसवर्णो वा स्यात् । घोषवतो नादवतो महाप्राणस्य संवृतकण्ठस्य हस्य तादृशो वर्गचतुर्थ एवादेशः । वाग्घरिः वाग्हरिः । १२० शश्छोऽटि ८।४।६३। पदान्ता-

---

उत्थानम् ( ई० ६८, ७०, ७३, ७५ )—'उद् स्थानम्' इति स्थिते 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' इति विहितः पूर्वसवर्णः यद्यपि 'अलोऽन्त्यस्ये'ति नियमादन्त्यस्याकारस्य प्राप्नोति, तथापि 'आदेः परस्य' इति सकारस्य विधीयते । सकारस्य च अघोषमहाप्राणत्वात्तत्स्थाने तादृश एव थकारे जाते तस्य 'झरो झरि सवर्णे' इति पाक्षिके लोपे दकारस्य 'खरि च' इति चर्त्वे 'उत्थानम्' इति । लोपाभावपक्षे तु 'खरि चे' ति चर्त्वं प्रति थकारस्याऽसिद्धत्वात् एकतकारकं द्विथकारकं च रूपमिति तत्त्वविदः ।

वाग्घरिः ( ई. ६४, ६८, ७०, ७२ )—'वाग् हरिः' इति स्थिते 'झयो होऽन्यतरस्याम्' इति पूर्वसवर्णविधौ गकारस्य पूर्वनिमित्तत्वात् तत्सवर्णेषु क—ख—ग—घ—ङ—एषु पञ्चस्वपि प्राप्तेषु घोषवतो नादवतो महाप्राणस्य संवृतकण्ठस्य हकारस्य तादृशे घकारे जाते 'वाग्घरिः' इति । पूर्वसवर्णाभावे तु 'वाग्हरिः' इति ।

---

नोट—इस सूत्र में 'उदः' इस पञ्चम्यन्त पद का उच्चारण करके पूर्वसवर्ण आदेश विधान किया गया है, अतः यह सूत्र 'उद्', तथा स्था' और 'स्तम्भ' के बीच में जब अन्य कोई वर्ण नहीं होगा तब ही पूर्वसवर्ण का विधान करेगा ।

झयो—झय् से अव्यवहितोत्तर हकार को पूर्वसवर्ण विकल्प से होता है । ( नाद, घोष, संवार और महाप्राण प्रयत्नवाला जो हकार उसके स्थान में तादृश प्रयत्नवाला चतुर्थ वर्ण आदेश होता है ) ।

शश्छोटि—पदान्त झय् से पर शकार के स्थान में छकार आदेश विकल्प से होता है, 'अट्' के परे रहने पर । ( शकार के पूर्व तवर्ग रहने पर तवर्ग का श्चुत्व होने पर ही शकार को छकार होता है ) ।

ज्झयः परस्य शस्य छो वा स्यादटि । दस्य श्चुत्वेन जकारे कृते । १२१ खरि च ८।४।५५। खरि परे झलां चरः स्युः । इति जकारस्य चकारः । तच्छिवः-तच्शिवः । २८ छत्वममीति वाच्यम्* । तच्छ्लोकेन-तच्श्लोकेन । अमि किम्? वाक्श्च्योतति । १२२ मोऽनुस्वारः ८।३।२३। मान्तस्य पदस्यानुस्वारः स्याद्धलि । 'अलोऽन्त्यस्य' ( सू ४२ ) । हरिं वन्दे । 'पदस्य' इति किम्? गम्यते । १२३ नश्चापदान्तस्य झलि ८।३।२४। नस्य मस्य चापदान्तस्य झल्यनुस्वारः । यशांसि । आक्रंस्यते । 'झलि' किम्? मन्यते । १२४ अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ८।४।५८। स्पष्टम् । अङ्कितः अञ्चितः । कुण्ठितः । शान्तः गुम्फितः । 'कुर्वन्ति' इत्यत्र णत्वे प्राप्ते तस्यासिद्धत्वादनुस्वारे परसवर्णे च कृते तस्यासिद्धत्वान्न णत्वम् । १२५ वा पदान्तस्य ८।४।५९। पदान्तस्यानुस्वारस्य ययि परे परसवर्णो वा स्यात् । त्वङ्करोषि – त्वं करोषि । सय्ँयन्ता – संयन्ता । सव्ँवत्सरः—संवत्सरः । यल्ँलोकम्—यंलोकम् । अत्रानुस्वारस्य पक्षेऽनुनासिका यवलाः । १२६ मो राजि समः क्वौ ८।३।२५। क्विबन्ते

---

तच्छिवः ( ई. ७३, ७५ )—'तद् शिवः' इति स्थिते दस्य चुत्वेन जकारे कृते 'खरि च' इति स्थानत आन्तर्यात् जकारस्य चकारे 'शश्छोऽटि' इति विभाषया छत्वे 'तच्छिवः' इति । पक्षे 'तच् शिवः' इति ।

कुर्वन्ति ( ई. ७१ )—कृञो लटि प्रथमपुरुषबहुवचने रूपम् । अत्र रषाभ्याम्—' इति णत्वे प्राप्ते तस्याऽसिद्धत्वात् 'नश्चापदान्तस्य—' इत्यनुस्वारे 'अनुस्वारस्य ययि—' इति । परसवर्णे कृते सत्यपि पुनः णत्वं कुतो नेति न शंकनीयम्, 'रषाभ्याम्—' इत्यपेक्षया परसवर्णस्य परतया णत्वे कर्त्तव्ये अनुस्वारस्थानिकपरसवर्णस्य नकारस्यासिद्धत्वात् ।

---

खरि-- खर् परे हो तो झल् के स्थान में चर् आदेश हो जाता है ।

छत्व—'शश्छोटि' सूत्र में 'अटि' के स्थान में 'अमि' पढ़ना चाहिए ।

मोऽनु—हल् वर्ग के परे मान्त मकार को अनुस्वार होता है ।

नश्चा—झल् के परे मान्तभिन्न ( अपदान्त ) नकार हो तो अनुस्वार हो जाता है । अनुस्वारस्य— यय् प्रत्याहार के परे पदान्त अनुस्वार के स्थान में परसवर्ण ( परवर्ण के समान ) आदेश होता है ।

वा पदा—यय् प्रत्याहार के परे पदान्त अनुस्वार के स्थान में विकल्प से परसवर्ण ( पर वर्ण के समान ) होता है ।

राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात् । सम्राट् । १२७ हे मपरे वा ८।३।२६। मपरे हकारे परे मस्य म एव स्याद्वा । 'ह्मल्, ह्मल्, चलने' । किम् ह्मलयति-किं ह्मलयति । २९ यवलपरे यवला वेति वक्तव्यम्* । १२८ यथासंख्य-मनुदेशः समानाम् १।३।१०। समसम्बन्धी विधिर्यथासंख्यं स्यात् । कियँ ह्यः-किं ह्यः । किवँ ह्वलयति-किं ह्वलयति । किलँ ह्लादयति-किं ह्लादयति । १२९ नपरे नः ८।३।२७। नपरे हकारे परे मस्य नः स्याद्वा । किन् ह्नुते-किं ह्नुते । १३० ङ्णोः कुक्टुक्शरि ८।३।२८। ङकारणकारयोः कुक्टुकावागमौ वा स्तः शरि । कुक्टुकोरसिद्धत्वाज्जश्त्वं न । ३० चयो द्वितीयाः शरि पौष्कर-सादेरिति वाच्यम्* प्राङ्ख्षष्ठः-प्राङ्क्षष्ठः-प्राङ् षष्ठः । सुगण्ठ्षष्ठः-सुगण्ट्-षष्ठः-सुगण् षष्ठः १३१ डः सि धुट् ८।३।२९। डात्परस्य सस्य धुड् वा स्यात् । षट्त्सन्तः-षट् सन्तः १३२ नश्च ८।३।३०। नकारान्तात् परस्य सस्य धुड् वा स्यात् । सन्त्सः-सन्सः । १३३ शि तुक् ८।३।३१ । पदान्तस्य नस्य शे परे तुग्वा

---

षट्त्सन्तः -'षड् सन्तः' इति स्थिते 'डसि धुट्' इति 'आद्यन्तौ टकितौ' इति सहकारात् डित्वात् सस्यादौ धुटि अनुबन्धलोपे 'खरि च' इति धस्य तकारे डकारस्य टकारे च कृते 'षट्त्सन्तः' इति । धुडभावे डस्य चर्त्वे 'षट्सन्तः' इति ।

---

मो राजि—क्विप् प्रत्ययान्त 'राज्' धातु के परे 'सम्' के उपसर्ग के स्थान में ( अनुस्वार न होकर ) मकार का मकार ही रहता है ।

हेमपरे—मकार है पर में जिसके ऐसे मकार के परे मकार के स्थान में ( अनुस्वार न होकर ) मकार ही रहता है ।

यथासंख्य—समसंख्यक स्थानी और आदेश का सम्बन्ध क्रमानुसार होता है ।

नपरे—न परक हकार पर रहे तो मकार का विकल्प से नकारादेश होता है ङ्णोः-शर् के परे पदान्त ङकार तथा णकार को क्रमशः कुक् तथा टुक् आगम होता है ।

डसि—पदान्त डकार से अव्यवहित उत्तर सकार को विकल्प से धुट् का आगम होता है । नश्च—नकारान्त पद से उत्तरवर्ती सकार को भी विकल्प से धुट् का आगम होता है । शि तुक्—शकार के परे पदान्त नकार को विकल्प से तुक् का आगम होता है ।

स्यात्। 'शश्छोऽटि' ( सू १२० ) इति छत्वविकल्पः। पक्षे 'झरो झरि–' ( सू ७१ ) इति चलोपः। सञ्छम्भुः–सञ्च्छम्भुः-सञ्च्शम्भुः-सञ्शम्भुः।

अछौ अचछा अचशा अशाविति चतुष्टयम्।
रूपाणामिह तुक्छत्वचलोपानां विकल्पनात्॥

१३४ ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् ८।३।३२। ह्रस्वात्परो यो ङम् तदन्तं यत्पदं तस्मात् परस्याचो नित्यं ङमुडागमः स्यात्। प्रत्यङ्ङात्मा। सुगण्णीशः। सन्नच्युतः। १३५ समः सुटि ८।३।५। समो रुः स्यात्सुटि। 'अलोऽन्त्यस्य' (सू ४२)। १३६ अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा अत्र ८।३।२। रुप्रकरणे रोः पूर्वस्यानुनासिको वा स्यात्। १३७ अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः ८।३।४। अनुनासिकं विहाय रोः पूर्वस्मात् परोऽनुस्वारागमः स्यात् 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः'

---

सञ्छम्भुः ( ई. ६८, ७१, ७३, ७५ )—'सन् शम्भुः' इति स्थिते 'शि तुक्' इति नकारस्यान्तावयवे तुकि अनुबन्धलोपे 'शश्छोऽटि' इति शस्य छत्वे 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति तकारस्य चुत्वे पुनः 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति नकारस्य कुत्वेन ञकारे 'झरो झरि सवर्णे' इति चलोपे 'सञ्छम्भुः' इति। चलोपाऽभावे सञ्च्छम्भु' इति। चलोपछत्वयोरुभयोरभावे 'सञ्च्शम्भुः' इति। छत्वतुकोरभावपक्षे 'सञ्शम्भुः' इति। तदुक्तं मूले—'अछौ अचछा अचशा अशाविति चतुष्टयम्' इति।

---

ङमो—ह्रस्व जो 'ङम्', तदन्त जो पद, उससे पर जो 'अच्' उसको ( उसके बाद ) ङमुट् ( यथाक्रम–ङुट्, णुट्, नुट् ) का आगम होता है।

नोट—दीर्घ स्वर के बाद 'महानात्मा' आदि स्थल में ङमुट् का आगम नहीं होता, परन्तु ह्रस्व स्वर के बाद भी–'तिङन्त, सनादि, स्थल में ङमुट् का अभाव देखा जाता है, यहां–'आगमशास्त्रमनित्यम्' का ही शरण लेना पड़ता है। 'इको यणचि' सूत्र में तो आर्षत्वात् ङमुडाभाव समझना चाहिए।

समः—'सम्' के मकार के स्थान में 'रु' आदेश हो, 'सुट्' के परे।

अत्राऽनु—इस 'रु' के प्रकरण में ('ससजुषो रुः' से विहित रु को छोड़कर) 'रु' से पूर्व वर्ण को विकल्प से अनुनासिक होता है।

अनुना—'रु' से पूर्व अनुनासिक से भिन्न अर्थात् जिसके स्थान में अनुनासिक आदेश न हुआ हो, उससे पर अनुस्वार का आगम होता है।

( सू ७६ ) । १३८ । विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४। खरि विसर्जनीयस्य सः स्यात् । एतदपवादे 'वा शरि' ( सू १५१ ) इति पाक्षिके विसर्गे प्राप्ते; ३१ सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः* । सँस्स्कर्ता–संस्स्कर्ता । 'समो वा लोपमेके' इति भाष्यम् । लोपस्यापि रुप्रकरणस्थत्वादनुस्वारानुनासिकाभ्यामेकसकारं रूपद्वयम् । द्विसकारं तूक्तमेव । तत्र 'अनचि च' ( सू ४८ ) इति सकारस्य द्वित्वपक्षे त्रिसकारमपि रूपद्वयम् । अनुस्वारविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीययमानामकारोपरि शर्षु च पाठस्योपसङ्ख्यातत्वेनानुस्वारस्याप्यच्त्वात् । अनुनासिकवतां त्रयाणां ३२ शरः खयः* इति कद्वित्वे द्वादश । एषामष्टादशानां तकारस्य द्वित्वे वचनान्तरेण पुनर्द्वित्वे च एकतं द्वितं त्रितमिति चतुष्पञ्चाशत् । अणोऽनुनासिकत्वेऽष्टोत्तरशतम् । १३९ । पुमः खय्यम्परे ८।३।६। अम्परे खयि पुमुशब्दस्य रुः स्यात् । व्युत्पत्तिपक्षे 'अप्रत्ययस्य' ( सू १५५ ) इति षत्वपर्युदासात् ँ क ँ पयोः प्राप्तौ, अव्युत्पत्तिपक्षे तु षत्वप्राप्तौ 'सम्पुङ्कानाम्—' ( वा ३१ ) इति सः ।

---

संस्स्कर्ता ( ई. ६०, ६२, ६४, ७१, ७४ )—'सम् कर्ता' इति दशायां 'सम्परिभ्यां करोती भूषणे' इति सुटि अनुबन्धलोपे 'सम् स्कर्ता' इति स्थिते 'समः सुटि' इति सुट्सम्बन्धिसकारे परे समो मस्य रुत्वे अनुबन्धलोपे 'अत्राऽनुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इति रोः पूर्वमनुनासिके 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गे 'विसर्जनीयस्य सः' इति विसर्गस्य सत्वे प्राप्ते तम्प्रबाध्य 'वा शरि' इति विसर्गस्य विसर्गे प्राप्ते तमपि प्रबाध्य 'सम्पुंकानां सो वक्तव्यः' इति विसर्गस्य सत्वे 'सँस्स्कर्ता' इति । अनुनासिकाऽभावपक्षे 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इत्यनुस्वारे 'संस्स्कर्ता' इति ।

अत्र समो वा लोपमेके इति भाष्यबलान्मलोपपक्षेऽपि अनुनासिकानुस्वाराभ्यामेकसकारकरूपद्वये पूर्वोक्तरूपद्वये च, अनचि चेति सकारस्य शरः खय इति ककारस्य अनचि चेत्यनुस्वारस्य अचो रहाभ्यां द्वे, यणो मय इति च तकारस्य द्वित्वे चतुष्पञ्चाशत् । एषु अणोऽप्रगृह्यस्ये-त्यनुनासिकविकल्पेऽष्टोत्तरशतं रूपाणीति ।

---

विसर्जनी—'खर्' के परे विसर्जनीय के स्थान में सकारादेश हो जाता है ।

संपुंकानां—सम, पुम्, कान् सम्बन्धी विसर्ग के स्थान में सकार ही हो—ऐसा कहना चाहिए ।

पुमः—अम् हो पर में जिसके ऐसे खय् के परे पुम् के स्थान में रु आदेश हो जाता है ।

पुँस्कोकिलः—पुंस्कोकिलः। पुँस्पुत्रः—पुंस्पुत्रः। 'अम्परे' किम्? पुंक्षीरम् 'खयि' किम्'? पुंदासः ३३ ख्यात्रादेशे नञ्च। पुंख्यानम्। १४०। नश्छव्यप्रशान् ८।३।७। अम्परे छवि नकारान्तस्य पदस्य रुः स्यात्, न तु प्रशान्शब्दस्य। विसर्गः। सत्वम्। श्चुत्वम्। शार्ङ्गिँश्छिन्धि—शार्ङ्गिंश्छिन्धि। चक्रिँस्त्रायस्व—चक्रिंस्त्रायस्व। 'पदस्य' किम्? हन्ति। 'अम्परे' किम्? सन्त्सरुः। सन्सरुः। खड्गम्मुष्टिः। 'अप्रशान्' किम्'? प्रशान्तनोति। १४१। नॄन्पे ८।३।१०। 'नॄन्' इत्यस्य रुः स्याद्वा पकारे परे। १४२। कुप्वोः ᳲक ᳲपौ च ८।३।३७। कवर्गे पवर्गे च परे विसर्जनीयस्य क्रमाज्जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ स्तः। चाद्विसर्गः।

---

पुँस्कोकिलः (ई. ७१, ७३)–'पुम् कोकिलः' इति स्थिते 'पुमः खय्यम्परे' इति पुमो मकारस्य रुत्वे 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इति विभाषया रोः पूर्वस्य अनुनासिके रेफस्य विसर्गे 'पुँः कोकिलः' इति स्थिते व्युत्पत्तिपक्षे 'अप्रत्ययस्येति षत्वपर्युदासाद् 'इदुदुपधस्ये'ति षत्वाऽप्राप्तावपि 'कुप्वोः' इति ᳲकᳲपयोः प्राप्तौ तं प्रबाध्य, एवमव्युत्पत्तिपक्षेऽप्युक्तसूत्रेण प्राप्तं षत्वं प्रबाध्य 'सम्पुंकानां सो वक्तव्यः' इति सत्वे 'पुँस्कोकिलः' इति। अनुनासिकाभावे अनुनासिकात्परोऽनुस्वारे 'पुंस्कोकिलः' इति।

पुँस्पुत्रः (ई. ७०, ७४)—'पुम् पुत्रः' इति स्थिते 'पुमः खय्यम्परे' इति पुमो मस्य रुत्वे 'अत्रानुनासिकः—' इत्यनुनासिके 'खरवसानयोः—' इति रेफस्य विसर्गे सति व्युत्पत्तिपक्षेᳲकᳲपयोः प्राप्तौ अव्युत्पत्तिपक्षे तु 'इदुदुपधस्य—' इति षत्वप्राप्तौ तौ प्रबाध्य 'सम्पुङ्कानाम्—' इति सत्वे 'पुँस्पुत्रः' इति। अनुनासिकाभावपक्षे 'पुंस्पुत्रः' इति च भवति।

पुँख्यानम् (ई. ७०,७२,७५)—चक्षिङ्धातोर्ल्युटि अनादेशे 'चक्षिङः ख्याञ्' इति ख्याञादेशे 'ख्यानम्' इति। पुंसः ख्यानम्, पुम् ख्यानम् इति स्थिते 'मोऽनुस्वारः' इत्यनुस्वारे 'वा पदान्तस्य' इति परसवर्णे उक्तं रूपं सिद्धम्। 'पुमः खय्यम्परे' इति रुत्वन्तु न, 'ख्याञादेशे न' इति वार्तिकनिषेधात्।

---

नश्छव्य—'अम्' हो पर में जिसके ऐसे छव् के परे प्रशान् शब्द से भिन्न मकारान्त शब्द के स्थान में 'रु' आदेश होता है।

नॄन् पे—पकार के परे नॄन् शब्द के नकार के स्थान में 'रु' आदेश होता है।

कुप्वोः—कवर्ग के परे विसर्ग के स्थान में क्रमशः ᳲ क तथा ᳲ प एवं चकारात् विसर्गादेश भी होता है।

'येन नाप्राप्ते–' इति न्यायेन 'विसर्जनीयस्य सः' ( सू १३८ ) इत्यस्यापवादोऽयम्, न तु 'शर्परे विसर्जनीयः' ( सू १५० ) इत्यस्य । तेन 'वासः क्षौमम्' इत्यादौ विसर्ग एव । नॄँ ᳲपाहि–नॄं ᳲपाहि–नॄँः पाहि–नॄंः पाहि–नॄन्पाहि । १४३ । कानाम्रेडिते ८।३।१२ । कान्नकारस्य रुः स्यादाम्रेडिते परे । 'सम्पुङ्कानाम्–' (वा ३१) इति सः । यद्वा–१४४ । कस्कादिषु च ८।३।४८। एष्विण उत्तरस्य विसर्गस्य षः स्यात्, अन्यस्य तु सः । ᳲकᳲपयोरपवादः । इति सः । काँस्कान् । कांस्कान् । कस्कः । कौतस्कुतः । सर्पिष्कुण्डिका । धनुष्कपालम् । आकृतिगणोऽयम् ।

---

वासः क्षौमम्—अत्र विसर्जनीयस्य सः, शर्परे विसर्जनीयः, कुप्वोः ᳲकᳲपौ चेत्येतेषां प्राप्तौ, येन नाप्राप्तो यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवतीति न्यायेन जिह्वामूलीयेन सत्वस्य बाधेऽपि, परत्वात् 'शर्परे विसर्जनीयः' इति विसर्ग एवेत्याशयः ।

नॄन् पाहि ( ई. ७०, ७२ )–'नॄन् पाहि' इत्यवस्थायां 'नॄन् पे' इति नस्य रुत्वे अनुबन्धलोपे 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इत्यनेन अनुनासिके 'खरवसानयोः–' इति रेफस्य विसर्गे 'विसर्जनीयस्य सः' इति विसर्गस्य सत्वे प्राप्ते तम्प्रबाध्य 'कुप्वोःᳲकᳲपौ च' इत्युपध्मानीये कृते नॄँᳲपाहि' इति । अनुनासिकाभावपक्षे 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इति अनुस्वारे कृते 'नॄंᳲपाहि' इति, उपध्मानीयाभावपक्षे रुत्वानुनासिकविसर्गेषु कृतेषु नॄँः पाहि' इति, अनुनासिकाभावपक्षे अनुस्वारे कृते 'नॄंः पाहि' इति, रुत्वाभावे 'नॄन् पाहि' इति ।

कांस्कान् ( ई. ७०, ७३, ७५ )—'कान् कान्' इति दशायां 'तस्य परमाम्रेडितम्' इति परस्य 'कान्' इत्यस्याम्रेडितसंज्ञायां 'कानाम्रेडिते' इति आम्रेडितसंज्ञके परे पूर्वस्य 'कान्' इत्यस्य नकारस्य रुत्वे अनुबन्धलोपे 'अत्राऽनुनासिकः' इति नस्यानुनासिके 'खरवसानयोः' इति रेफस्य विसर्गे 'सम्पुंकानां सो वक्तव्यः' इति सत्वे 'काँस्कान्' इति । पक्षे अनुस्वारे 'कांस्कान्' इति ।

---

काना—आम्रेडित के परे कान् शब्द के नकार के स्थान में 'रु' आदेश होता है ।

कस्का—कवर्ग और पवर्ग के परे 'कस्क' आदि शब्दों के विसर्ग के स्थान में यथासंभव सकार या षकार हो जाता है ।

१४५। संहितायाम् ६।१।७२। इत्यधिकृत्य। १४६। छे च ६।१।७३। ह्रस्वस्य छे परे तुगागमः स्यात्संहितायाम्। श्चुत्वस्यासिद्धत्वाज्जश्त्वेन दः। ततश्चर्त्वस्यासिद्धत्वात् पूर्वं श्चुत्वेन जः। तस्य चर्त्वेन चः चुत्वस्यासिद्धत्वात् 'चोः कुः' (सू ३७८) इति कुत्वं न। स्वच्छाया। शिवच्छाया।

१४७। आङ्माङोश्च ६।१।७४। एतयोश्छे परे तुक् स्यात्। 'पदान्ताद्वा' (सू १४९) इति विकल्पापवादः। आच्छादयति। माच्छिदत्। १४८। दीर्घात् ६।१।७५। दीर्घाच्छे परे तुक्स्यात्। दीर्घस्यायं तुक् न तु छस्य, 'सेनासुराच्छाया-' (सू ८२९) इति ज्ञापकात्, चेच्छिद्यते। १४९। पदान्ताद्वा ६।१।७६। दीर्घात्पदान्ताच्छे परे तुग्वा स्यात्। लक्ष्मीच्छाया—लक्ष्मीछाया।

इति हल्सन्धिप्रकरणम्।

—:-※-:—

---

शिवच्छाया (ई. ६३) 'शिव छाया' इति स्थिते 'छे च' इति तुकि 'शिव त् छाया' इति दशायां श्चुत्वस्यासिद्धत्वात् 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वे चर्त्वस्यासिद्धत्वात् पुनः दस्य श्चुत्वेन जकारे तस्य 'खरि च' चर्त्वे 'शिवच्छाया' इति। 'चोः कुः' इति कुत्वं तु न, चुत्वस्यासिद्धत्वात्।

चेच्छिद्यते (ई. ६९, ७१, ७४)—'चे छिद्यते' इति स्थितें 'दीर्घात्' इति छकारात्प्राग्दीर्घस्योपरि तुकि जश्त्व-चुत्व-चर्त्वेषु 'चेच्छिद्यते' इति। दीर्घस्याऽयं तुक्, न तु छस्य, सेनासुराच्छाये'ति ज्ञापकात्। अन्यथा यदि हि छस्य तुक् स्यात्तर्हि छस्य चर्त्वे अत्रापि चद्वयस्य श्रवणापत्तिः स्यात्, किञ्च 'सन्निपात' परिभाषया चर्त्वाऽप्रवृत्तावपि छकारोपरि चकारस्तु श्रूयत एवेति।

इति 'इन्दुमती' टीकायां हल्सन्धिप्रकरणम्

—:०:—

---

संहिता—'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' सूत्रपर्यन्त 'संहितायाम्' का अधिकार है।

छे च—छकार के परे ह्रस्वान्त अंग को भी तुक् का आगम होता है, संहिता में।

आङ्—छकार के परे ङकारेत्संज्ञक 'आ' और 'मा' को तुक् का आगम होता है।

दीर्घात्—छकार के परे दीर्घ वर्ण को तुक् का आगम होता है।

पदान्ता—पदान्त दीर्घ से परवर्ती छकार के परे पूर्वपदान्त दीर्घ को विकल्प से तुक् का आगम होता है।

# अथ विसर्गसन्धिप्रकरणम्

'विसर्जनीयस्य सः' (सू १३८) विष्णुस्त्राता । १५० । शर्परे विसर्जनीयः ८।३।३५। शर्परे खरि विसर्जनीयस्य विसर्जनीयो न त्वन्यत् । कः त्सरुः । घना-

---

**अभ्यास**

सन्धि कुरु—तपस् + चिनोति । त्रयस् + षट्पदाः । षट् + दर्शनम् । सम्पत् + हर्षः । उद् + स्थापयति । एतद् + लीला । अप् + नायकः । दिव्यम् + सरः । नृन् + हितम् । कथं + कृतम् । इदं + चित्रम् । केशान् + छिनत्ति । धावन् + स्वपिति । अप्रज्ञावान् + शत्रुः । नृन् + पालय । सम + स्वीकृतम् । पुम् + छविः । हसन् + आगतः । त्वत् + श्वशुरः । आ + छाद्यम् ।

विच्छेदं कुरु—पयश्शीतम् । महाण्डामरः । अब्भाजनम् । तद्धेयम् । उत्तम्भते । ग्रन्थालँ्लाति । ध्वंस्यते । क्षन्तव्यम् । मधुरञ्ज्ञायति । भास्वांश्चन्द्रः । विद्वान्त्सहते । शिशूच्छाययति । नॄः प्रतिकरोति । पुँश्चमत्कारः । एकस्मिन्नहनि । यावच्छक्यम् । वृक्षच्छाया ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' हिन्दी टीका में हल्सन्धि समाप्त ।

—:o:—

**विसर्गसन्धि**—विसर्ग के साथ स्वर या व्यञ्जन वर्ण की जो सन्धि होती है, उसे विसर्ग सन्धि कहते हैं ।

**नोट**—विसर्ग दो प्रकार का होता है–( क ) सजात और ( ख ) रजात ।

( क ) सजात–( १ ) शब्द, ( २ ) विभक्ति और ( ३ ) प्रत्यय सम्बन्धी विसर्ग को सजात विसर्ग कहते हैं । यथा—

( १ ) निस् = निः । ( २ ) रामस् = रामः । ( ३ ) एकशस् = एकशः । इत्यादि । ( ख ) रजात—स्वर् = स्वः । अन्तर् = अन्तः । प्रातर् = प्रातः । इत्यादि ।

क्वचित् 'ष्' और 'न्' के स्थान में भी 'र्' होकर विसर्ग होता है । यथा—सजुष् = सजूः । अहन् = अहः । क्वचित् ऋकारस्थानिक, यथा—गीर् = गीः ।

**विसर्जनी**—खर् के परे विसर्ग के स्थान में सकार आदेश होता है ।

**शर्परे**—शर् हो पर जिसके ऐसे खर् के परे रहते विसर्ग के स्थान में विसर्ग आदेश ही होता है ।

घनः क्षोभणः । इह यथायथं सत्वं जिह्वामूलीयश्च न । १५१ । वा शरि ८।३।३६। शरि परे विसर्जनीय एव वा स्यात् । हरिः शेते—हरिश्शेते । ३४ खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः* रामस्थाता । हरिस्फुरति । पक्षे विसर्गे सत्वे च त्रैरूप्यम् । 'कुप्वोः⌒क⌒पौ च' ( सू १४२ ) । क⌒करोति–कः करोति । क⌒खनति-कः खनति । क⌒पचति–कः पचति । क⌒फलति–कः फलति । १५२ । सोऽपदादौ ८।३।३८ । विसर्जनीयस्य सः स्यादपदाद्योः कुप्वो परयोः ३५ पाश-कल्प-क-काम्येष्विति वाच्यम्* । पयस्पाशम् । यशस्कल्पम् । यशस्कम् । यशस्काम्यति । ३६ अनव्ययस्येति वाच्यम्* । प्रातःकल्पम् । ३७ काम्ये रोरेवेति वाच्यम्* । नेह–गीः काम्यति । १५३ ।

---

रामस्थाता ( ई. ७१, ७३ )–'रामः स्थाता' इति स्थिते 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः' इति विसर्गस्य लोपे 'राम स्थाता' इति । लोपाभावपक्षे 'वा शरि' इति विसर्गस्य विसर्गे 'रामः स्थाता' इति । विसर्गाभावपक्षे 'विसर्जनीयस्य सः' इति विसर्गस्य सत्वे 'रामस्स्थाता' इति तृतीयं रूपं सिद्धचति ।

गीः काम्यति ( ई. ७०, ७४ )—गॄधातोः क्विपि ईत्वे रुत्वे विसर्गे 'गीः' इति । ततः 'गीः काम्यति' इति स्थिते 'काम्ये रोरेवेति वाच्यम्' इति काम्यप्रत्यये परतः रुस्थानिकस्यैव विसर्गस्य 'सोऽपदादौ' इति विधिर्भवतीति नियमात् 'पाशकल्पककाम्येष्विति वाच्यम्' इति विसर्गस्य न सत्वम् ।

---

वा शरि—शर् के परे विसर्ग के स्थान में विकल्प से विसर्ग आदेश होता है ।

खर्परे—'खर्' परक शर् पर रहे तो विकल्प से विसर्ग का लोप होता है—ऐसा कहना चाहिए ।

सोऽप—अपदादि कवर्ग, पवर्गपूर्वक विसर्ग को सकादेश होता है ।

पाश—पाशप्, कल्पप्, क, एवं काम्यच् प्रत्यय के परे रहते ही विसर्ग को सकारादेश होता है—ऐसा कहना चाहिए ।

अनव्यय—अनव्यय सम्बन्धी विसर्ग के स्थान में ही 'सोपदादौ' सूत्र से सत्वविधान होता है—ऐसा कहना चाहिए ।

काम्ये—काम्यच् प्रत्यय के परे 'रु' सम्बन्धी रेफ का ही विसर्ग जहाँ होगा वहीं उपर्युक्त सूत्र से विसर्ग को सत्व होता है ।

इणः षः ८।३।३९। इणः परस्य विसर्गस्य षकारः स्यात् पूर्वविषये। सर्पिष्पाशम्। सर्पिष्कल्पम्। सर्पिष्कम्। सर्पिष्काम्यति। १५४ नमस्पुरसोर्गत्योः ८।३।४० गतिसंज्ञयोरनयोर्विसर्गस्य सः कुप्वोः परयोः। नमस्करोति। साक्षात्प्रभृतित्वात् कृञो योगे विभाषा गतिसंज्ञा। तदभावे—नमः करोति। 'पुरोऽव्ययम्' ( सू ७६८ ) इति नित्यं गतिसंज्ञा। पुरस्करोति। अगतित्वान्नेह—पूः, पुरौ, पुरः, प्रवेष्टव्याः। १५५। इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य ८।३।४१। इकारोकारोपधस्याप्रत्ययस्य विसर्गस्य षः स्यात् कुप्वोः। निष्प्रत्यूहम्। आविष्कृतम्। दुष्कृतम्। 'अप्रत्ययस्य' किम्? अग्निः करोति। वायुः करोति। एकादेशशास्त्रनिमित्तकस्य न षत्वम् कस्कादिषु भ्रातुष्पुत्रशब्दस्य पाठात्। तेनेह न-मातुः कृपा। ३८ मुहुसः प्रतिषेधः* मुहुः कामः। १५६। तिरसोऽन्यतरस्याम्

अग्निः करोति—ननु स्थानिवत्सूत्रं प्रति त्रिपाद्या असिद्धत्वात्तत्र कर्त्तव्ये स्थानिवद्भावाप्राप्त्या प्रकृते इदुदुपधस्येति सूत्रेऽप्रत्ययग्रहणसत्त्वेऽपि षत्वं कथन्नेति चेन्न, अनेनैव वतिघटितातिदेशानां त्रिपाद्यामपि प्रवृत्तिरिति ज्ञापनेनादोषात्। अत एव रामः इत्यादौ विसर्गसिद्धिः।

मातुः कृपा ( ई. ६८, ७०, ७३, ७४ )—'इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य' इति 'भ्रातुष्पुत्रः' इत्यत्रापि षत्वसिद्धौ भ्रातुष्पुत्रशब्दस्य कस्कादिषु पाठो निष्फलः। तदेव व्यर्थं सत् 'एकादेशशास्त्रनिमित्तकस्य न षत्वम्' इति ज्ञापयति। तेन 'मातुः कृपा' इत्यत्र एकादेशशास्त्रसम्पन्नरेफस्थानिकत्वेन विसर्गस्य एकादेशशास्त्रनिमित्तकत्वात् न षत्वम्।

इणः षः—अपदादि कवर्ग-पवर्ग के परे 'इण्' से उत्तर विसर्ग को षकारादेश होता है।

नमः—गतिसंज्ञक नमस् तथा पुरस् सम्बन्धी विसर्ग के स्थान में सकारादेश हो, कवर्ग-पवर्ग के परे।

इदुदु—इकारोकारोपध अप्रत्यय सम्बन्धी विसर्ग को षकारादेश हो, कवर्ग–पवर्ग के परे।

मुहुशः—पूर्वोक्त सकारादेश 'मुहुस्' शब्दसम्बन्धी अवयवभूत विसर्ग के स्थान में नहीं होता है—ऐसा कहना चाहिए।

तिरसो—तिरस् शब्दसम्बन्धी विसर्ग को विकल्प से सकारादेश हो, कवर्ग–पवर्ग के परे।

८।३।४२ तिरसो विसर्गस्य सो वा स्यात् कुप्वोः। तिरस्कर्ता-तिरःकर्ता। १५७। द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोऽर्थे ८।३।४३। कृत्वोऽर्थे वर्तमानानामेषां विसर्गस्य षकारो वा स्यात् कुप्वोः। द्विष्करोति–द्विः करोति। इत्यादि। 'कृत्वोऽर्थे' किम्? चतुष्कपालः। १५८ इसुसोः सामर्थ्ये ८।३।४४। इसुसो-र्विसर्गस्य षः स्याद् वा कुप्वोः। सर्पिष्करोति-सर्पिः करोति। धनुष्करोति–धनुः करोति। सामर्थ्यमिह व्यपेक्षा। 'सामर्थ्ये' किम्? तिष्ठतु सर्पिः, पिब त्वमुद-कम्। १५९। नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य ८।३।४५। इसुसोर्विसर्गस्यानुत्तर-पदस्थस्य समासे नित्यं षः स्यात् कुप्वोः परयोः। सर्पिष्कुण्डिका। धनुष्क-पालम्। 'अनुत्तरपदस्थस्य' इति किम्? परमसर्पिः कुण्डिका। कस्कादिषु

---

चतुष्कपालः ( ई. ६६, ६८, ७० )—चतुर्षु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः इत्यर्थे 'संस्कृतं भक्षाः' इत्यणि विवक्षिते 'तद्धितार्थे'ति समासः। 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इत्यणो लुक्। अत्र चतुश्शब्दस्य कृत्वोऽर्थेऽवृत्तेर्न तद्विसर्गस्य षत्वविकल्पः, किन्तु 'इदुदुपधस्ये'ति नित्यमेव षत्वम्। कृत्वोर्थग्रहणाऽभावे तु षत्वविकल्पो दुर्वारः।

( ननु 'सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्' इति परिभाषया सुजन्ताभ्यां द्वित्रिशब्दाभ्यां साहचर्यात्सुजन्तस्यैव चतुःशब्दस्यापि ग्रहणम्भ-विष्यतीति चतुष्कपाल इत्यत्र सुजन्तत्वाभावात् विकल्पषत्वाप्राप्तौ कृत्वोऽर्थ-ग्रहणं व्यर्थमिति चेन्न, तदेव व्यर्थं सत् ज्ञापयति–साहचर्यं सर्वत्र नियामकं न भवतीति। तेन 'दीधीवेवीटाम्' इति सूत्रे दीधीवेवी इति धातुद्वयसाहचर्येऽपि इट गताविति धातोर्ग्रहणं न भवति किन्तु आगमस्यैवेटो ग्रहणं भवतीति फलम्। )

धनुष्कपालम् ( ई. ६८, ७० )—'धनुषः कपालम्' इति विग्रहे समासे सति व्यपेक्षालक्षणसामर्थ्यस्य सत्त्वात् 'इसुसोः सामर्थ्ये' इति षत्वविकल्पे प्राप्ते तम्प्रबाध्य 'नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य' इति नित्ये षत्वे उक्तं रूपं सिद्धम्।

कस्कादिषु सर्पिष्कुण्डिका—ननु 'नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य' इति

---

द्वित्रि—कृत्वसुच् प्रत्यय के अर्थ का प्रतिपादन करने वाले द्विस्, त्रिस्, तथा चतुर् शब्दों के विसर्ग को विकल्प से षकारादेश हो, कवर्ग–पवर्ग के परे।

इसुसोः—इस् तथा उस् शब्दों के विसर्ग को विकल्प से षकारादेश हो, कवर्ग–पवर्ग के परे, यदि सामर्थ्यं ( व्यपेक्षा ) गम्यमान रहे।

नित्यं—समासविषय में इस्-उस् शब्दों के उत्तर पद में नहीं रहने वाले विसर्ग के स्थाने नित्य षत्व होता है, कवर्ग-पवर्ग के परे।

सर्पिष्कुण्डिकाशब्दोऽसमासे व्यपेक्षाविरहेऽपि षत्वार्थो व्यपेक्षां नित्यार्थश्च। १६०। अतः कृ-कमि-कंस-कुम्भ-पात्र-कुशाकर्णीष्वनव्ययस्य ८।३।४६। अकारादुत्तरस्यानव्ययस्य विसर्गस्य समासे नित्यं सकारादेशः स्यात् करोत्यादिषु न तूत्तरपदस्थस्य। अयस्कारः। अयस्कामः। अयस्कंसः। अयस्कुम्भः। अयस्पात्रम्। अयस्संहिता कुशा अयस्कुशा। अयस्कर्णी। 'अतः' किम्? गीःकारः। 'अनव्ययस्य' किम्? स्वः कामः। 'समासे' किम्? यशः करोति। 'अनुत्तरपदस्थस्य' किम्। परमयशःकारः। १६१। अधश्शिरसी पदे ८।३।४७। एतयोर्विसर्गस्य सादेशः स्यात् पदशब्दे परे। अधस्पदम्। शिरस्पदम्। समासे इत्येव, अधः पदम्। शिरः पदम्। अनुत्तरपदस्थस्येत्येव, परमशिरःपदम्। 'कस्कादिषु च' (सू १४४) भास्करः।

इति विसर्गसन्धिप्रकरणम्।

—:-❀-:—

सर्पिष्कुण्डिकेत्यत्रापि षत्वसिद्धौ कस्कादिषु तस्य पाठो व्यर्थ एवेति चेन्न, असमासे व्यपेक्षाविरहेऽपि 'आनय सर्पिष्कुण्डिका तिष्ठति' इत्यादौ षत्वार्थं सर्पिष्कुण्डिकाशब्दपाठस्य सफलत्वात्। व्यपेक्षायां नित्यार्थत्वाच्च।

इति 'इन्दुमती' टीकायां विसर्गसन्धिप्रकरणम्।

---

अतः—कृ, कमि, कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा एवं कर्णी शब्दों के परे अकारोत्तरवर्ती अव्ययभिन्न विसर्ग को नित्य सकारादेश हो, समास में।

अधः—समास में 'पद' शब्द के परे अधस् तथा शिरस् शब्दसम्बन्धी विसर्ग को सकारादेश होता है।

### अभ्यास

शुद्धं कुरु—जलामयः। देवोवाच। केशवौर्ध्वम्। तदैवम्। स्वैरः। दिवौकसः। उपेति। प्रैषयति। रामेहि। उपरोक्तः। गवोद्यानम्। सखैहागच्छ। कव्यागच्छतः। सम्वत्सरः। रामस्सेते। तत्छविः। अधिस्थाता। देवो षष्ठः। दिगेशः। ददत्हसति। महान्नात्मा। तिङन्तः। विषयान्नाह। वंचितः। यम्लोकम्। मतिमान्छन्तः। वाच्छरः। वाङ्मात्रेण। वृक्षछाया।

इस प्रकार 'इन्दुमती' हिन्दी टीका में विसर्गसन्धि समाप्त।

—:o:—

# अथ स्वादिसन्धिप्रकरणम्

स्वौजसमौट्—' ( सू १८३ ) इति सुप्रत्यये 'शिवस् अर्च्यः' इति स्थिते। १६२। ससजुषो रुः ८।२।६६। पदान्तस्य सस्य 'सजुष्शब्दस्य' च रुः स्यात्। जश्त्वापवादः। १६३। अतो रोरप्लुतादप्लुते ६।१।११३। अप्लुतादतः परस्य रो रुः स्यादप्लुतेऽति। 'भोभगोअघो—' ( सू १६७ ) इति प्राप्तस्य यत्वस्यापवादः उत्वं प्रति रुत्वस्यासिद्धत्वं तु न भवति, रुत्वमनूद्य उत्वविधेः सामर्थ्यात्। १६४। प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ६।१।१०२। अकः प्रथमाद्वितीययोरचि परे पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशः स्यात्। इति प्राप्ते। १६५। नादिचि ६।१।१०४। अवर्णादिचि परे न पूर्वसवर्णदीर्घः। 'आद्गुणः'

---

स्वौजसमौडिति—ननु स्वौजसमौडित्यनेन रोर्विधानेऽपि पथिमथ्यृभुक्षामादित्यत्र दीर्घोच्चारणेन रोः परे दीर्घो नेति कल्पनेन, राम इत्यादौ सुपि चेत्यस्याप्राप्त्या दोषाभाव इति चेन्न; यशोऽत्र पयोऽत्रेत्यत्रोत्वं प्रति रुत्वस्यासिद्धत्वादुत्वानापत्तेः, उत्वविधानस्य तु रुविधानवादिमते शिवोऽर्च्य इत्यादौ चारितार्थ्यादित्याशयेनाह—स्वौजसमौडिति।

शिवोऽर्च्यः ( ई. ७१, ७३ )—'स्वौजसमौडिति' सुप्रत्यये शिवस् अर्च्य इति स्थिते जश्त्वं बाधित्वा 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' इत्युत्वे प्रथमयोरिति दीर्घस्य नादिचीति निषेधे 'आद्गुणः' इति गुणे 'एङः पदान्तादति' इति पूर्वरूपे शिवोऽर्च्य इति सिद्धम्।

---

स्वौज—सु औ जस् आदि २१ प्रत्ययों में प्रथम 'सु' प्रत्यय है। उसी सु ( स् ) की सन्धि सर्वप्रथम प्रारंभ होती है, अतः इसका नाम 'स्वादिसन्धि' है।

ससजुषो—पदान्त सकार और सजुष् शब्दावयव षकार के स्थान में 'रु' आदेश होता है।

अतो—प्लुतभिन्न ह्रस्व अकार से पर रु को उकार आदेश होता है, अप्लुत अकार के परे।

प्रथमयोः—'अक्' से पर प्रथमा—द्वितीया सम्बन्धी 'अच्' के परे पूर्व—पर के स्थान में पूर्वस्थानी के सवर्ण दीर्घ एकादेश होता है।

नादिचि—( किन्तु ) अवर्ण से पर प्रथमा तथा द्वितीया सम्बन्धी 'इच्' के परे पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं होता है।

( सू ६९ ) 'एङः पदान्तादति' ( सू ८६ )। शिवोऽर्च्यः। 'अतः' इति तपरः किम्? देवा अत्र। 'अति' इति तपरः किम्? श्व आगन्ता। 'अप्लुतात्' किम्? एहि सुस्रोत ३ अत्र स्नाहि। प्लुतस्यासिद्धत्वादतः परोऽयम्। 'अप्लुतात्' इति विशेषणे तु तत्सामर्थ्यान्नासिद्धत्वम्। तपरकरणस्य तु न सामर्थ्यम्, दीर्घनिवृत्त्या चरितार्थत्वात्। 'अप्लुते' इति किम्? तिष्ठतु पय अ३ग्निदत्त। 'गुरोरनृतः'—( सू ९७ ) इति प्लुतः। १६६। हशि च ६।१।११४। अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्याद्धशि। शिवो वन्द्यः। 'रोः' इत्युकारानुबन्धग्रहणान्नेह-प्रातरत्र, भ्रातर्गच्छ। 'देवास् इह' इति स्थिते, रुत्वम्। १६७। भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य योऽशि ८।३।१७। एतत्पूर्वस्य रोर्यादेशः स्यादशि परे। असन्धिः सौत्रः। 'लोपः शाकल्यस्य' ( सू ६७ )। देवा इह-देवायिह। 'अशि' किम्? देवास्सन्ति। यद्यपीह यत्वस्यासिद्धत्वाद्विसर्गो लभ्यते, तथापि विसर्गस्य स्थानिवद्भावेन रुत्वाद् यत्वं स्यात्। न ह्ययमल्विधिः, 'रोः' इति समुदायरूपाश्रयणात्। भोस्, भगोस्, अघोस्, इति सान्ता निपाताः। तेषां रोर्यत्वे कृते।

---

अप्लुतात् किम्—'अतो रोरप्लुतादप्लुते' इति सूत्रे अप्लुतादिति विशेषणाभावे 'एहि सुस्रोत ३ अत्र स्नाहि' इत्यत्र प्लुताकारात्परस्य रुत्वस्योत्वं स्यादिति तन्निवारणार्थं तत्कर्त्तव्यम्। न च अप्लुतादिति विशेषणाभावेऽपि 'अत्' ग्रहणेन ह्रस्वाकार एव गृह्यते इति नात्र उत्वं स्यादिति वाच्यम् उत्वे कर्त्तव्ये प्लुतस्यासिद्धत्वेन अतः परत्वात्, अप्लुतादिति कृते तु तत्सामर्थ्यात् नासिद्धत्वम्। यदि प्लुतोऽसिद्धः स्यात्तदा सर्वत्रैव अप्लुताकार एव उपलभ्येत इति अप्लुतादिति विशेषणमेव व्यर्थं स्यात्। एवञ्च तपरकरणं दीर्घाकारात्परस्य रुत्वस्य उत्ववारणाय चरितार्थमिति तपरकरणसामर्थ्यान्नात्र उत्वमिति न शङ्कनीयम्।

देवा इह ( ई. ६५, ७० )—'देवास् इह' इति दशायां 'ससजुषो रुः' इति रुत्वे 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' इति रोर्यादेशे 'लोपः शाकल्यस्य' इति यलोपे 'देवा इह' इति। यलोपाभावे 'देवायिह' इति।

---

हशि—अप्लुत 'अत्' से पर 'रु' सम्बन्धी रेफ के स्थान में उकारादेश हो, हश् के परे।

भो भगो—भो, भगो, अघो और अवर्णपूर्वक रु सम्बन्धी रेफ के स्थान में यकारादेश होता है, 'अश्' के परे।

१६८। व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य ८।३।१८। पदान्तयोर्वकार-यकारयोर्लघुच्चारणौ वयौ वा स्तोऽशि परे। यस्योच्चारणे जिह्वाग्रोपाग्रमध्य-मूलानां शैथिल्यं जायते स लघूच्चारणः। १६९। ओतो गार्ग्यस्य ८।३।२०। ओकारात् परस्य पदान्तस्यालघूप्रयत्नस्य यकारस्य नित्यं लोपः स्यात्। गार्ग्य-ग्रहणं पूजार्थम्। भो अच्युत। लघुप्रयत्नपक्षे 'भोयच्युत'। 'पदान्तस्य' किम्? तोयम्। १७०। उञि च पदे ८।३।२१। अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्लोप उञि पदे। स उ एकाग्निः। पदे किम्? तन्त्रयुतम्। वेञः सम्प्रसारणे रूपम्। यदि तु प्रतिपदोक्तो निपातः 'उञ्' इति ग्रहीष्यते, तर्हि, उत्तरार्थं पदग्रहणम्। १७१। हलि सर्वेषाम् ८।३।२२। भोभगोअघोअपूर्वस्य लघ्वलघूच्चारणस्य यकारस्य लोपः स्याद्धलि सर्वेषां मतेन। भो देवाः। भो लक्ष्मि। भो विद्वद्वृन्द। भगो

---

देवास्सन्ति (ई. ६६)—ननु 'भोभगो—' इति सूत्रे 'अशि' ग्रहणा-भावेऽपि उक्तप्रयोगे 'देवार्सन्ति' इतिस्थिते प्रकृतसूत्रेण यत्वे 'खरवसानयोः—' इति विसर्गे च प्राप्ते विसर्गविधायकशास्त्रदृष्ट्या यत्वविधायकसूत्रस्य असिद्ध-त्वेन विसर्ग एव भविष्यतीति 'अशि' ग्रहणं किमर्थमिति चेन्न, विसर्गे कृतेऽपि स्थानिवद्भावेन विसर्गे रुत्वमानीय पुनरपि यत्वापत्तेः। अनल्विधाविति निषेधस्तु न, रुत्वधर्मस्य अल्मात्रवृत्तित्वाभावात्।

भो अच्युत (ई. ६७, ६९, ७०, ७४)—भोस् इति सकारान्तनिपात-सम्बोधनम् अव्ययपदम्। तत्र 'भोस् अच्युत' इति स्थिते 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे 'भोभगो—' इति तस्य यत्वे च कृते 'व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य' इत्यनेन यकारस्य विभाषया लघुच्चारणयादेशे 'भोयच्युत' इति। विकल्पपक्षे 'भो य् अच्युत' इति दशायाम् 'ओतो गार्ग्यस्य' इति अलघुप्रयत्नस्य यस्य लोपे 'भो अच्युत' इत्युक्तं रूपं सिद्धम्।

---

व्योर्लघु—पदान्त में स्थित यकार एवं वकार के स्थान में विकल्प से क्रमशः लघूच्चारण य्, व् आदेश होता है 'अश्' के परे।

ओतो—अश् के परे रहते ओकार से उत्तरवर्ती यकार का लोप हो, गार्ग्याचार्य के मत से।

उञि च—पदसंज्ञक 'उञ्' के परे पदान्त वकार-यकार का लोप होता है।

हलि—हल् के परे भो, भगो, अघो तथा अवर्ण से परवर्ती पदान्त यकार का लोप हो जाता है—सभी आचार्यों के मत से।

नमस्ते । अघो याहि । देवा नम्याः । देवा यान्ति । 'हलि' किम् ? देवायिह । १७२ । रोऽसुपि ८।२।६९। अह्नो रेफादेशः स्यान्न तु सुपि । रोरपवादः । अहरहः । अहर्गणः । 'असुपि' किम् ? अहोभ्याम् । अत्र 'अहन्' ( सू ४४४ ) इति रुत्वम् । ३९ रूप-रात्रि-रथन्तरेषु रुत्वं वाच्यम्ॐ । अहोरूपम् । गतमहो रात्रिरेषा । एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वादहोरात्रः । अहोरथन्तरम् । ४० अहनादीनां पत्यादिषु वा रेफःॐ । विसर्गापवादः अहर्पतिः । गीर्पतिः । धूर्पतिः । पक्षे विसर्गोपध्मानीयौ । १७३ । रो रि ८।३।१४। रेफस्य रेफे परे लोपः स्यात् । १७४ । ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ६।३।१११। ढरेफौ लोपयतीति तथा, तस्मिन् वर्णेऽर्थाद् ढकाररेफात्मके परे पूर्वस्याणो दीर्घः स्यात् । पुना रमते । हरी रम्यः । शम्भू राजते । 'अणः' किम् । तृढः । वृढः । 'तृह हिंसायाम्' । 'वृहू उद्यमने' । पूर्वग्रहणमनुत्तरपदेऽपि पूर्वमात्रस्यैव दीर्घार्थम् । लीढः । अजर्घाः । 'मनस् रथः'

---

अहोरात्रः ( ई. ७१ )—अहश्च रात्रिश्चेति द्वन्द्वे समासान्ते अचि 'यस्येति चे'ति इकारलोपे 'अहन् रात्र' इति जाते 'रूपरात्रिरथन्तरेषु रुत्वं वाच्यम्' इति नस्य रुत्वे 'हशि च' इत्युत्वे 'आद्गुणः' इति गुणे 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इति पुंस्त्वे ऊक्तं रूपं सिद्धम् । अत्र नकारस्य रात्रिशब्दपरकत्वाभावात् कथं रुत्वमिति चेन्न, एकदेशविकृतन्यायेन तत्सिद्धेः ।

धूर्पतिः ( ई. ६३, ६५ )—धुरां पतिः धूर्पतिः । धुर् + पतिः इति स्थिते 'अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः' इत्यनेन विसर्गमपवाद्य रेफे परे 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' इति दीर्घे 'धूर्पतिः' इति । रत्वाभावपक्षे विसर्गस्य 'कुप्वोः' इति उपध्मानीय—विसर्गौ भवतः । तथा च—'धू⌣पतिः' इत्यपि ज्ञेयम् ।

अजर्घाः ( ई. ६२ )—ननु 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इति सूत्रे 'पूर्वस्य' इति किमर्थम् ? 'ढ्रलोपे' इति सप्तमीश्रुत्या 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' इति परिभाषाबलेन पूर्वस्य इति पदोपस्थापनादिति चेन्न, तथा सति अस्य सूत्रस्य 'अलुगुत्तरपदे' इत्यधिकारस्थतया अत्र सूत्रे 'उत्तरपदे' इत्यस्यानुवृत्तौ तेन पूर्वस्याक्षेपात् पूर्वस्याणः पूर्वपदस्थस्यैव दीर्घः स्यात्, तथा चैकपदे रेफलोप-

---

रोऽसुपि—अहन् शब्द के नकार को रेफादेश हो किन्तु 'सुप्' प्रत्यय के परे नहीं ।

रो रि—रेफ के परे रेफ का लोप होता है ।

ढ्रलोपे – ढकार के परे ढकार का लोप हो जाता है ।

इत्यत्र रुत्वे कृते 'हशि च' ( सू १६६ ) इत्युत्वे 'रो रि' ( १७३ ) इति लोपे च प्राप्ते। १७५। विप्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२। तुल्यबलविरोधे परं कार्यं स्यात्। इति लोपे प्राप्ते 'पूर्वत्रासिद्धम्' ( सू १२ ) इति 'रो रि' ( सू १७३ ) इत्यस्यासिद्धत्वादुत्वमेव। मनोरथः। १७६। एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ६।१।१३२। अककारयोरेतत्तदोर्यः सुस्तस्य लोपः स्याद्धलि न तु नञ्समासे। एष विष्णुः। स शम्भुः। 'अकोः' किम्? एषको रुद्रः। 'अनञ्समासे' किम्? असः शिवः। 'हलि' किम्? एषोऽत्र। १७७। सोऽचिलोपे चेत् पादपूरणम् ६।१।१३४। 'सस्' इत्येतस्य सोर्लोपः स्यादचि पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्येत। 'सेमामविड्ढिप्रभृतिं य ईशिषे'। 'इह ऋक्पाद एव गृह्यते' इति वामनः। अविशेषाच्छ्लोकपादोऽपीत्यपरे'। 'सैष दाशरथी रामः'। 'लोपे चेत्'

---

निमित्तके रेफे परे ढ्लोपनिमित्तकढकारे वा परे पूर्वस्याणो दीर्घो न स्यात् 'पूर्वस्य' ग्रहणे कृते तत्सामर्थ्यादत्रोत्तरपदे इति न सम्बध्यते। तेन एकपदेऽपि दीर्घः सिद्ध्यति। यथा 'अजर्घर्' इत्यत्र रेफे परे पूर्वस्याणो दीर्घ विसर्गे च 'अजर्घाः' इति।

मनोरथः ( ई. ७१, ७३ )—'मनस् रथः' इति दशायां 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे 'हशि च' इति रोरुत्वे प्राप्ते 'रो रि' इति रेफस्य लोपे च प्राप्ते 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इति तुल्यबलविरोधे सति परत्वात् 'रो रि' इति लोपे प्राप्ते 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' इत्यधिकारसूत्रेण सपादसप्ताध्यायीस्थ 'हशि चे'ति सूत्रदृष्ट्या त्रैपादिकस्य 'रो रि' इति सूत्रस्याऽसिद्धत्वात् 'हसि चे'त्यनेन रोरुत्वे 'मन उ रथ,' इति जाते 'आद्गुणः' इति गुणे 'मनोरथः' इति।

सैषः ( ई. ६७ )—'स स् एषः' इति स्थिते 'सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्'

---

विप्रति—विप्रतिषेध ( तुल्य-बल-विरोध ) होनेपर पर कार्य हो।

नोट—'परस्पर-लब्धावकाशयोरेकत्र लक्ष्ये समावेशः तुल्यबलविरोधः'। अर्थात् अपने-अपने लक्ष्यों में चरितार्थ दो सूत्रों का ( क्वचित् ) एक लक्ष्य में समावेश होने को 'तुल्यबल-विरोध कहते हैं।

एतत्—ककार से रहित एतद् और तद् शब्दसम्बन्धी 'सु' का लोप हो, हल् के परे—किन्तु नञ् समास में नहीं हो।

सोऽचि—यदि लोप होने पर ही पाद की पूर्ति होती हो तो अच् के परे स् ( 'तद्' शब्दसम्बन्धी सु ) का लोप हो।

इति किम् ? स इत्क्षेति । स एवमुक्त्वा । 'सत्येव' इत्यवधारणं तु 'स्यश्छन्दसि बहुलम्' ( सू ३५२७ ) इति पूर्वसूत्राद् बहुलग्रहणानुवृत्त्या लभ्यते । तेनेह न— 'सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्' ।

इति स्वादिसन्धिप्रकरणम् ।

—:०:—

---

इति सुलोपाऽभावे 'सैष'दाशरथी रामः' इत्यत्र पादो न पूर्यते अतोऽत्रानेन सुलोपे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'सैषः' इति भवति । अन्यत्र तु 'सस् एषः' इति स्थिते रुत्वे यत्वे यलोपे 'स एषः' इति भवति ।

सोऽहमाजन्मशुद्धानाम् ( ई. ७४ )—'सोऽचि लोपे चेदि'ति सूत्रे 'सत्येवे' त्यवधारणं तु 'स्यश्छन्दसि बहुलम्' इति पूर्वसूत्राद् बहुलग्रहणानुवृत्त्या लभ्यते । तेन अत्र सोर्लोपो न भवति । लोपाभावेऽपि रुत्वादिके कृते पादपूर्तिदर्शनात् । लोपे पादपूर्तौ सत्यपि 'सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्' इत्यनिष्टापत्तिः स्यात् ।

इति 'इन्दुमती' टीकायां स्वादिसन्धिप्रकरणम् ।

—❀::❀—

---

सैष दाशरथी रामः—संपूर्ण श्लोक इस प्रकार का है—

**सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः ।**
**सैष कर्णो महात्यागी, सैष भीमो महाबलः ॥**

यह श्लोक अनुष्टुप् छन्द में है । इसके प्रति पाद में आठ-आठ अक्षर होते हैं । यहाँ यदि सुलोप नहीं होता तो 'सस् + एषः' ऐसी स्थिति में रुत्व-यत्व—यलोप होकर 'स एषः' ऐसा हो जाता और प्रत्येक पाद में एक-एक अक्षर बढ़ जाने से पाद की पूर्ति नहीं होती । ( सुलोप होने पर 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है, अतः वृद्धि होकर 'सैषः' पद बनता है ) ।

**अभ्यास**

शुद्धं कुरु—बालो क्रुध्यति । मनो कामना । सो रामः । बालो चलति । प्रातो गमनम् । अज्ञो इन्द्रः । एषो विष्णुः । हतो शत्रुः । मनो सुखम् । देवाः हसन्ति । अन्तर्राष्ट्रीयः । भ्राता रमय ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' हिन्दी टीका में स्वादिसन्धि समाप्त ।

—: ० :—

# अथ अजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम्

१७८। अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १।२।४५। धातुं प्रत्ययं प्रत्ययान्तं च वर्जयित्वाऽर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात्। १७९। कृत्तद्धितसमासाश्च १।२।४६। कृत्तद्धितान्तौ समासाश्च प्रातिपदिकसंज्ञाः स्युः। पूर्वसूत्रेण सिद्धे समासग्रहणं नियमार्थम् - यत्र सङ्घाते पूर्वो भागः पदं तस्य चेद्भवति तर्हि समासस्यैव। तेन वाक्यस्य न। १८०। प्रत्ययः ३।१।१। आपञ्चमपरिसमाप्तेरधिकारोऽयम्। १८१। परश्च ३।१।२। अयमपि तथा।

---

अर्थवदिति—धनम्, वनम् इत्यादौ प्रतिवर्णं प्रातिपदिकसंज्ञावारणाय 'अर्थवद्' इति। 'अहन्' इत्यादौ प्रातिपदिकेन नलोपवारणाय 'अधातुः इति। 'अप्रत्ययः' इत्यत्र प्रत्ययपदम् आवर्त्यते, तेन प्रत्ययान्तं च लभ्यते। प्रत्ययस्य पर्युदासात् 'हरिषु' इत्यादौ सोर्न प्रातिपदिकत्वम्। तदन्तपर्युदासादत्रैव 'हरिषु' इति समुदायस्य च न प्रातिपदिकत्वम्।

समासग्रहणं नियमार्थं (ई. ७०)—अयम्भावः-'प्रत्ययग्रहणे यस्मात् विहितः स तदादेस्तदन्तस्य च' इति परिभाषया 'राजन् ङस् पुरुष सु' इति समुदायघटकराजन् ङस् इत्यस्य पुरुष सु इत्यस्य च प्रत्ययान्ततदादित्वेऽपि राजन् ङस् पुरुष सु' इति समुदायस्य प्रत्ययान्ततदादिभिन्नत्वात् 'अर्थवत्' इत्यनेनैव प्रातिपदिकसंज्ञासिद्धौ समासग्रहणं व्यर्थं सत् 'यत्र समुदाये पूर्वो भागः पदं तस्य समुदायस्य प्रातिपदिकसंज्ञा चेत्तर्हि समासस्यैवे'ति नियमयति। तेन गामानयेति वाक्यस्य प्रातिपदिकसंज्ञा न भवतीति फलम्।

---

अर्थ—धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्ततदादि से भिन्न अर्थवान् शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा होती है।

कृत्तद्धित—अर्थवान् कृदन्त=तदादि, तद्धितान्त=तदादि और समास की भी प्रातिपदिकसंज्ञा होती है।

प्रत्ययः—यह प्रत्ययसंज्ञा का अधिकार सूत्र है। (तृतीयाध्याय के प्रारम्भ से पञ्चमाध्याय के अन्त तक अधिकृतसूत्र-विहित की प्रत्ययसंज्ञा होती है)।

परश्च—प्रत्ययसंज्ञक का प्रयोग धातु अथवा प्रातिपदिक से पर होता है।

१८२। ङ्याप्प्रातिपदिकात् ४।१।१। ङ्यन्तादाबन्तात् प्रातिपदिकाच्चेत्या-पञ्चमपरिसमाप्तेरधिकारः। प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' (प. ७२) इत्येव सिद्धे ङ्याब्ग्रहणं ङ्याबन्तात्तद्धितोत्पत्तिर्यथा स्यान्ङ्याब्भ्यां प्राङ् माभूदित्येवमर्थम्। १८३। स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् ४।१।२। ङ्यान्तादाबन्तात् प्रातिपदिकाच्च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः। सुङस्योरुकारेकारौ जशटङपाश्चेतः। १८४। विभक्तिश्च

---

ङ्याब्ग्रहणं किम् (ई. ७३)—अयम्भावः—रमा गौरीत्यादौ 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति परिभाषया प्रातिपदिकत्वधर्मस्यानयनेन प्रातिपदिकादित्यनेनैवेष्टसिद्धौ ङ्याब्ग्रहणं व्यर्थं सत् ङ्याबन्तादेव तद्धितोत्पत्तिर्यथा स्यादित्यर्थं बोधयति। अन्यथा स्वार्थद्रव्यलिङ्गसंख्याकारकाणां क्रमश उपस्थितौ, आर्यशब्दात् पूर्वं कप्रत्यये ततष्टापि, आकारस्थानिकाकारस्याभावेन 'प्रत्ययस्थात्' इति नित्यमित्वे आर्यिका, इत्येकमेव रूपं स्यात्। ङ्याब्ग्रहणे कृते तु तत्सामर्थ्यात्पूर्वं टापि ततः कप्रत्यये 'केऽणः' इति ह्रस्वे आकारस्थानिकस्याकारस्य सत्त्वेन, 'उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः' इति वैकल्पिके इत्वे, आर्यकेत्यपि सिध्यतीति फलम्बोध्यम्।

---

ङ्याप्—यहां से पञ्चमाध्याय के समाप्तिपर्यन्त इस सूत्र का अधिकार समझना चाहिए, अर्थात् ङ्यन्त, आबन्त तथा प्रातिपदिक को प्रकृति समझना चाहिए।

नोट—उपर्युक्त तीनों सूत्र (१८०–१८२) अधिकारसूत्र हैं। इन तीनों का 'स्वौजस्' सूत्र (१८३) में अधिकार होकर—ङ्यन्त, आबन्त प्रातिपदिक से पर स्वादि प्रत्यय हो—ऐसा अर्थ होता है।

अधिकारसूत्र—'स्वदेशे वाक्यार्थशून्यत्वे सति परदेशे वाक्यार्थबोधजनकत्वम्'। अर्थात् अपनी जगह पर अर्थबोधजनक नहीं होकर अन्य सूत्रों के साथ अर्थबोधजनक होना।

स्वौज—ङ्यन्त, आबन्त तथा प्रातिपदिक से सु, औ, जस्, अम्, औट् शस्, टा, भ्याम्, भिस्, ङे, भ्याम्, भ्यस्; ङसि, भ्याम्, भ्यस्, ङस्, ओस्, आम्, ङि, ओस् सुप्—प्रत्यय होते हैं।

विभक्तिश्च—इस सूत्र से सुप्–तिङ् की विभक्तिसंज्ञा होती है।

१।४।१०४। सुप्तिङौ विभक्तिसंज्ञौ स्तः । तत्र 'सु' 'औ' 'जस्' इत्यादीनां सप्तानां त्रिकाणां प्रथमादयः सप्तम्यन्ताः प्राचां संज्ञाः, ताभिरिहापि व्यवहारः । १८५ । सुपः १।४।१०३ । सुपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एकवचनद्विवचनसंज्ञानि स्युः । १८६ । द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने १।४।२२। द्वित्वैकत्वयोरेते स्तः । १८७ । बहुषु बहुवचनम् १।४।२१। बहुत्वे एतत् स्यात् । रुत्वविसर्गौ, रामः । १८८ । सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ १।२।६४। एकविभक्तौ यानि सरूपाण्येव दृष्टानि

---

रुत्वविसर्गौ रामः—ननु 'स्थानिवत्' इति 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इत्यनयोः सूत्रयोः दृष्ट्या 'ससजुषो रुः' इति शास्त्रस्यासिद्धत्वेन रेफपदान्तत्वाभावात्कथं विसर्ग इति चेन्न । 'न मुने' इति सूत्रे ने इति पदं पृथक् कृत्य क्वचित् त्रिपाद्या असिद्धत्वान्न भवतीति समाधानादिति ।

---

नोट—'सुप्' से प्रत्याहार लिया जाता है और वह प्रत्याहार इसी सूत्र के आदि वर्ण—'सु' से लेकर अन्तिम 'सुप्' के पकार तक बनता है । 'सुप्' से उपर्युक्त 'सु औ जस्' आदि २१ विभक्तियाँ ली जाती हैं ।

'सु' में उकार का 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से, 'जस्' में जकार और 'टा' में टकार का 'चुटू' से 'औट्' में टकार और 'सुप्' में पकार का 'हलन्त्यम्' से, 'शस्' में शकार का तथा 'ङे', 'ङसि', 'ङस्' और 'ङि' में ङकार का 'लशक्वतद्धिते' सूत्र से इत्संज्ञा होकर 'तस्य लोपः' सूत्र से लोप हो जाता है । ( स्मरण रहे कि विभक्तियों के अन्तिम सकार-मकार की इत्संज्ञा नहीं होती है । द्र० 'न विभक्तौ तुस्माः' सू० १९० ) ।

सुपः—सुप् के जो तीन-तीन वचन ( सु औ जस् ), वे प्रत्येक क्रमशः एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञक होते हैं ।

द्व्येकयोः—द्वित्व की विवक्षा में द्विवचन और एकत्व की विवक्षा में एकवचन होता है ।

बहुषु—बहुत्व की विवक्षा में बहुवचन होता है ।

सरूपाणाम्—एक विभक्ति में जहाँ समान रूप देखे गये हों, वहाँ उनमें से एक का शेष ( दर्शन ) होता है और अन्य का लोप ( अदर्शन ) हो जाता है । ( यथा–रामश्च रामश्च रामौ ) ।

नोट—इस सूत्र से यह नियम सिद्ध होता है कि दो या बहुत का अर्थ कराने में शब्द का एक ही बार उच्चारण करना चाहिये ।

तेषामेक एव शिष्यते । 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (सू०१६४), नादिचि' (सू०१६५), 'वृद्धिरेचि' ( सू० ७२ ), रामौ । १८९ । चुटू १।३।७। प्रत्ययाद्यौ चुटू इतौ स्तः । इति जस्येत्संज्ञायाम् । १९० । न विभक्तौ तुस्माः १।३।४। विभक्तिस्थास्तवर्गसकारमकारा इतो न स्युः । इति सकारस्य नेत्त्वम् । १९१ अतो गुणे ६।१।९७। अपदान्तादकाराद् गुणे परतः पररूपमेकादेशः स्यात् । इति प्राप्ते । परत्वात् पूर्वसवर्णदीर्घः । 'अतो गुणे' ( सू० १९१ ) इति हि 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' ( प. ६० ) इति न्यायेन 'अकः सवर्णे' ( सू० ८५ ) इत्यस्यैवापवादः, न तु 'प्रथमयोः—' ( सू० १६४ ) । इत्यस्यापि । रामाः । १९२ । एकवचनं सम्बुद्धिः २।३।४९। सम्बोधने प्रथमाया एकवचनं सम्बुद्धिसंज्ञं स्यात् । १९३ । एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः ६।१।६९ । एङन्ताद्ध्र-

---

रामाः ( ई. ६१, ६८, ७० )—रामशब्दात् जसि 'राम जस्' इति स्थिते 'चुटू' इति जकारस्येत्संज्ञालोपयोः कृतयोः 'हलन्त्यम्' इति सकारस्यापि इत्संज्ञा प्राप्तौ 'न विभक्तौ तुस्माः' इति निषेधे 'राम अस्' इति स्थिते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति सूत्रमपवाद्य 'अतो गुणे' इति पररूपे प्राप्ते सति परत्वात् 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे 'रामाः' इति । अत्र 'अतो गुणे' इति हि 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' इति न्यायेन सवर्णदीर्घस्यैवापवादः न तु पूर्वसवर्णदीर्घस्येत्यवसेयम् ।

---

एक शब्द के आठ अर्थ होते हैं—

**एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा ।**
**साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते ॥**

चुटू—प्रत्यय के आदि चवर्ग-टवर्ग की इत्संज्ञा होती है । न विभक्तौ—( किन्तु ) विभक्ति में स्थित—तवर्ग, सकार और मकार की इत्संज्ञा नहीं होती है, ( दे० सू० १८४ )

अतो—अपदान्त 'अत्' ( ह्रस्व अकार ) से पर गुण ( ए ओ ऐ औ ) के परे पूर्व-पर के स्थान में पररूप एक आदेश होता है ।

एक—सम्बोधन में प्रथमा एकवचन की सम्बुद्धि संज्ञा होती है ।

एङ्—एङन्त और ह्रस्वान्त अङ्ग से पर सम्बुद्धिसंज्ञक प्रत्ययावयव हल् का लोप होता है ।

स्वान्ताच्चाङ्गाद्धल्लुप्यते सम्बुद्धिश्चेत्। सम्बुद्धयाक्षिप्तस्याङ्गस्यैङ्ह्रस्वाभ्यां विशेषणान्नेह–हे कतरत् कुलेति। हे राम। हे रामौ। हे रामाः। 'एङ्'–ग्रहणं किम्? हे हरे। हे विष्णो। अत्र हि परत्वान्नित्यत्वाच्च सम्बुद्धिगुणे कृते ह्रस्वात् परत्वं नास्ति। १९४। अमि पूर्वः ६।१।१०७। अकोऽम्यचि परतः पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। रामम्। रामौ। १९५। लशक्वतद्धिते १।३।८। तद्धितवर्जप्रत्ययाद्या लशकवर्गा इतः स्युः। इति शसः शस्येत्संज्ञा। १९६। तस्माच्छसो नः पुंसि ६।१।१०३। पूर्वसवर्णदीर्घात् परो यः शसः सकारस्तस्य नः स्यात् पुंसि। १९७। अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ८।४।२। अट् कवर्ग पवर्ग

---

सम्बुद्धयाक्षिप्तस्य (ई. ७४)—अयम्भावः, 'येन विना यदनुपपन्नन्तत्तेनाक्षिप्यते' इति न्यायात् सम्बुद्धयाक्षिप्तस्याङ्गस्य सम्बुद्धिपदार्थेऽन्वये सति, अङ्गात्परा या सम्बुद्धिस्तदवयवो हल्लुप्यते स च हल् एङ्ह्रस्वाभ्यां परीभूतश्चेत्, इत्यर्थाङ्गीकारे हे कतरदित्यत्र तकारस्य लोपापत्तिस्तद्वारणाय, अङ्गात्परा या सम्बुद्धिस्तदवयवो हल्लुप्यते सा च सम्बुद्धिरेङ्ह्रस्वाभ्यां परीभूता चेदित्यर्थाङ्गीकारे हे कुल इत्यत्र एकदेशविकृतन्यायेन लान्तभागस्याङ्गत्वे, परादिवद्भावेन सम्बुद्धित्वे जाते सति ह्रस्वात्परा सम्बुद्धिर्नास्ति, इति सलोपो न स्यादिति क्वचिदन्येनाक्षिप्तस्यापि पदार्थस्यान्यत्र पदार्थेऽन्वयो भवतीति बोध्यम्।

---

अमि–अक् से पर अम् के रहने से पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है।

लश—तद्धित से भिन्न प्रत्ययों के आदि लकार, शकार एवं कवर्ग की इत्संज्ञा होती है।

तस्मा—पूर्वसवर्ण दीर्घ से पर शस्-सम्बन्धी सकार के स्थान में नकार आदेश हो–पुँल्लिग में।

अट्कु—अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ्, नुम् (और नुमस्थानिक अनुस्वार) इनसे व्यस्त (पृथक्-पृथक्) व्यवधान रहने पर अथवा यथासंभव मिलित (एक से अधिक या सबसे भी) व्यवधान रहने पर रेफ अथवा षकार से पर नकार को णत्व होता है, समान (एक) पद में। (अत एव द्विपद होने से 'राम-नाम' में णत्व नहीं होता है।)

नोट—णत्वविधायक और तन्निषेधक अनेकानेक सूत्र-वार्तिक हैं, पर उन सबों का निष्कर्षभूत—"चु-टु-तु-ल-शर्व्यवाये न" यह भाष्यवार्तिक स्मरण रखने योग्य है।

आङ् नुम् एतैर्व्यस्तैर्यथासम्भवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्य णः स्यात् समानपदे। 'पदव्यवायेऽपि' (सू० १०५९) इति निषेधं बाधितुमाङ्ग्रहणम्। नुम्ग्रहणमनुस्वारोपलक्षणार्थम्। तच्चाकर्तुं शक्यम्, अयोगवाहानामट्सूपदेशस्योक्तत्वात्। इति णत्वे प्राप्ते। १९८। पदान्तस्य ८।४।३७। पदान्तस्य नस्य णत्वं न स्यात्। रामान्। १९९। यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् १।४।१३। यः प्रत्ययो यस्मात्क्रियते तदादिशब्दस्वरूपं तस्मिन् प्रत्यये परेऽङ्गसंज्ञं स्यात्। 'भवामि' 'भविष्यामि' इत्यादौ विकरणविशिष्टस्याङ्गसंज्ञार्थं तदादिग्रहणम्। 'विधिः' इति किम्? स्त्री इयती। 'प्रत्यये' किम्? प्रत्ययविशिष्टस्य ततोऽप्यधिकस्य वा मा भूत्। २००। अङ्गस्य

---

रामान् (ई. ६६)—रामशब्दात् द्वितीयाबहुवचने शसि 'लशक्वतद्धिते' इति शस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'राम अस्' इति स्थिते 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति दीर्घे 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इति सस्य नत्वे कृते 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति नस्य णत्वे प्राप्ते 'पदान्तस्य' इति तन्निषेधे 'रामान्' इति।

विधिरिति किम् (ई. ७२, ७४)—ननु 'यस्मात् यः प्रत्ययः परत्वेन श्रूयते तदादिशब्दस्वरूपं तस्मिन् प्रत्यये परे अङ्गसंज्ञम्' इत्यर्थेनैव सिद्धे 'यस्मात् प्रत्ययविधि–' इति सूत्रे विधिग्रहणं किमर्थमिति चेन्न, 'स्त्री इयती' इत्यत्र स्त्रीशब्दात् परत्वेन इयदिति प्रत्ययस्य श्रूयमाणत्वात् तस्मिन् परे 'स्त्रियाः' इत्यङ्गकार्यमियङ् स्यात्। तद्वारणार्थं सूत्रे विधिग्रहणमावश्यकमिति।

प्रत्यये किमिति (ई. ७४)—ननु 'यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदाद्यङ्गसंज्ञं स्यादि'-

---

उक्त भाष्यवार्तिक से निष्कर्ष यह हुआ कि—एकपद में ऋकार, षकार और रेफ से पर—चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और ल तथा शर् (श ष स) वर्ण से भिन्न वर्ण व्यवधान रहने पर ही नकार के स्थान में णत्व होता है, अत एव 'वार्तिकेन' में णत्व नहीं होता।

पदान्त—पदान्त नकार को णत्व नहीं होता है।

यस्मात्—जिस धातु या प्रातिपदिक से प्रत्यय का विधान होता है, तदादि (वह है आदि में जिस समुदाय के उस) शब्दस्वरूप की प्रत्यय के परे अंगसंज्ञा होती है।

अंगस्य—यह अधिकार-सूत्र है (अध्याय ६, पाद ४ से लेकर ७ वें अध्याय के अन्त तक इसका अधिकार है)।

६।४।१। इत्यधिकृत्य । २०१ । टाङसिङसामिनात्स्याः ७।१।१२। अकारान्तादङ्गाट्टादीनां क्रमादिनादय आदेशाः स्युः । णत्वम्, रामेण । २०२ । सुपि च ७।३।१०२। यञादौ सुपि परे अतोऽङ्गस्य दीर्घः स्यात् । रामाभ्याम् । २०३ । अतो भिस ऐस् ७।१।९। अकारान्तादङ्गाद्भिस ऐस् स्यात् । अनेकाल्त्वात् सर्वादेशः, रामैः । २०४ । ङेर्यः ७।१।१३ । अतोऽङ्गात्परस्य 'ङे' इत्यस्य यादेशः स्यात् । रामाय । इह स्थानिवद्भावेन यादेशस्य सुप्त्वात् 'सुपि च' ( सू० २०२ ) इति दीर्घः । 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य' ( प. ८६ ) इति परिभाषा तु नेह प्रवर्तते, कष्टाय क्रमणे' ( सू०२६७२ ) इत्यादिनिर्देशेन तस्या अनित्यत्वज्ञापनात् । रामाभ्याम् । २०५ । बहुवचने झल्येत् ७।३।१०३ । झलादौ बहुवचने सुपि परे अतोऽङ्गस्यैकारः स्यात् । रामेभ्यः । 'बहुवचने' किम् ? रामः । रामस्य । 'झलि' किम् ? रामाणाम् ।

---

त्यर्थेनैव इष्टसिद्धौ 'यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' इति सूत्रे 'प्रत्यये' इति किमर्थमिति चेन्न, 'वव्रश्च' इत्यत्र प्रत्ययविशिष्टस्य अङ्गत्वेन उरदित्यदादेशस्य परनिमित्तत्वालाभात् 'अचः परस्मिन्–' इति स्थानिवत्त्वाप्रवृत्त्या न सम्प्रसारणे–' इति सम्प्रसारणनिषेधो न स्यात् । अधिकस्य त्वङ्गत्वे च 'देवदत्त ओदनमपाक्षीत्' इत्यादौ देवदत्तादिशब्दोत्तरं 'सुप' निमित्तीकृत्य लुङ्पर्यन्तमङ्गत्वात् तस्य लुङ्परत्वेन देवदत्तादिशब्दात् पूर्वमपि अडागमापत्तिः स्यात् । अतः 'प्रत्यये' इत्यावश्यकमिति ।

रामस्य ( ई. ६५ )—रामशब्दात् ङसि 'टाङसिङसामिनात्स्याः' इति स्यादेशे 'रामस्य' इति । नन्वत्र सकारस्य 'अनचि च' इति द्वित्वे पूर्वसकारस्य 'खरि च' इति चर्त्वेन दन्तस्थानतोऽन्तरतमे तकारे सति 'रामत्स्य' इति स्यादिति

---

टाङसि—अदन्त अंग से पर–'टा-ङसि-ङस्' के स्थान में यथाक्रम से इन, आत्, स्य आदेश होते हैं ।

सुपि—यञादि सुप् के परे अदन्त अंग को दीर्घ होता है ।

अतो—अदन्त अंग से पर भिस् के स्थान में ऐस् आदेश होता है ( 'भिस्' अनेकाल है, अतः संपूर्ण प्रत्यय के स्थान में 'ऐस्' होता है ) ।

ङेर्यः—अदन्त अंग से पर 'ङे' के स्थान में 'य' आदेश होता है ।

बहुवचने—झलादि बहुवचन 'सुप्' प्रत्ययों के परे अकारान्त अङ्ग को एत्व होता है ।

'सुपि' किम् ? पचध्वम् । जश्त्वम्, २०६ । वाऽवसाने ८।४।५६। अवसाने झलां चरो वा स्युः । रामात्-रामाद् । द्वित्वे रूपचतुष्टयम् । रामाभ्याम् । रामेभ्यः । रामस्य । सस्य द्वित्वपक्षे 'खरि च' ( सू० १२१ ) इति चर्त्वेऽप्यान्तरतम्यात् सस्य स एव, न तु तकारः, अल्पप्राणतया प्रयत्नभेदात् । अत एव 'सः सि' ( सू० २३४४ ) इति तादेश आरभ्यते । २०७ । ओसि च ७।३।१०४ । ओसि परे अतोऽङ्गस्यैकारः स्यात् रामयोः । २०८ । ह्रस्वनद्यापो नुट् ७।१।५४। ह्रस्वान्तान्नद्यन्तादाबन्ताच्चाङ्गात् परस्यामो नुडागमः स्यात् । २०९ । नामि ६।४।३। नामि परेऽजन्ताङ्गस्य दीर्घः स्यात् । रामाणाम् । 'सुपि च' (सू०२०२) इति दीर्घो यद्यपि परस्तथापीह न प्रवर्तते, 'सन्निपात' ( प० ८६ ) परिभाषा-विरोधात् । 'नामि' ( सू० २०९ ) इत्यनेन त्वारम्भसामर्थ्यात् परिभाषा बाध्यते । रामे । रामयोः सुपि एत्वे कृते ।

२१० । अपदान्तस्य मूर्धन्यः ८।३।५५। आपादपरिसमाप्तेरधिकारोऽ-

---

चेन्न, सकारस्थानी महाप्राणः, तकारस्तु अल्पप्राणः इति बाह्यप्रयत्नभेदात् आभ्यन्तरप्रयत्नभेदाच्च सस्य तत्वाभावात् । अत एव 'वत्स्यति' इत्यादौ 'सः स्यादार्धधातुके' इत्यनेन सकारस्य तकारविधानं चरितार्थम् ।

रामाणाम् ( ई. ६५,६७, ६९ )—रामशब्दात् आमि 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति अनुबन्धलोपे 'नामि' इति दीर्घे 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति णत्वे 'रामाणाम्' इति । नन्वत्र 'राम नाम्' इति स्थिते 'फलविशेषाऽभावेऽपि न्यायानु-रोधेनैव शास्त्रप्रवृत्तेः' इति भाष्योक्त्या परत्वात् 'सुपि चे'ति दीर्घः कुतो नेति चेन्न, सन्निपातपरिभाषाविरोधात् । तथा हि—ह्रस्वान्तसन्निपातमुपजीव्य प्रवृत्तस्य नुटः ह्रस्वविघातकं 'सुपि च' इति दीर्घं प्रति निमित्तत्वं न स्यात् । 'नामि' इत्यनेन तु आरम्भसामर्थ्यात् परिभाषा बाध्यते इत्यवगन्तव्यम् ।

---

वाऽव—अवसान में आये झल् के स्थान में विकल्प से चर् आदेश होता है ।

ओसि—ओस् के परे अदन्त अङ्ग को एत्व होता है ।

ह्रस्व—ह्रस्वान्त, नद्यन्त और आबन्त अङ्ग से पर जो आम् उसको नुट् का आगम होता है ।

नामि—नाम् के परे अजन्त अंग को दीर्घ होता है ।

अप—अपदान्त ( सकार ) को मूर्धन्य ( षकार ) आदेश होता है, इस विषय का अधिकार ( सू. ८-३-११९ तक ) समझना चाहिए ।

यम्। २११। इण्कोः ८।३।५७। इत्यधिकृत्य। २१२। आदेशप्रत्यययोः ८।३।५९। 'सहेः साडः सः' (सू० ३३५) इति सूत्रात् 'सः' इति षष्ठ्यन्तं पदमनुवर्तते। इण्कवर्गाभ्यां परस्यापदान्तस्यादेशः प्रत्ययावयवश्च यः शकारस्तस्य मूर्धन्यादेशः स्यात्। विवृताघोषस्य सस्य तादृश एव षः। रामेषु। 'इण्कोः' किम्? रामस्य। आदेशप्रत्यययोः' किम् सुपीः। सुपिसौ। सुपिसः 'अपदान्तस्य' किम्? हरिस्तत्र। एवं कृष्णमुकुन्दादयः। २१३। सर्वादीनि सर्वनामानि १।१।२७। सर्वादीनि शब्दस्वरूपाणि सर्वनामसंज्ञानि स्युः। तदन्तस्यापीयं संज्ञा, 'द्वन्द्वे च' (सू० २२४) इति ज्ञापकात्। तेन 'परमसर्वत्र' इति त्रल्, 'परमभवकान्' इत्यत्राकच्च सिद्धयति। २१४। जसः शी

---

तदन्तस्यापीयं संज्ञेति—'सर्वादीनि सर्वनामानि' इति सूत्रे सर्वादीनीति पदस्य शब्दस्वरूपमिति विशेष्यमादाय 'द्वन्द्वे च' इति सूत्रेण विशेष्यत्वबोधनेन 'येन विधिस्तदन्तस्य' इति सूत्रसाहाय्येन सर्वादीनां सर्वाद्यन्तशब्दस्वरूपाणां च सर्वनामसंज्ञा भवतीति सूत्रार्थः। एवं च सर्वशब्दस्य यथा सर्वनामसंज्ञा तथा परमसर्व इत्यस्यापि। तेन परमसर्वशब्दात् त्रल् सिद्धयति। एवं सर्वादिगणपठितवत् शब्दान्तस्य सर्वनामसंज्ञायाम् अकचि 'परमभवकान्' इति च सिद्धम्। तदन्तविध्यभावे 'वर्णाश्रमेतरा' इत्यस्य सर्वादिघटकत्वाभावेन सर्वनामसंज्ञाया अप्राप्तौ तन्निषेधकं 'द्वन्द्वे च' इति सूत्रं व्यर्थमेव स्यात्, तदेव व्यर्थं सत् तदन्तस्यापीयं संज्ञे'ति ज्ञापयतीति दिक्।

---

इण् कोः—इण् और कवर्ग इन दो पदों का अधिकार करके कहते हैं—

आदेश—इण् और कवर्ग से पर जो अपदान्त आदेशस्वरूप सकार और प्रत्ययावयव सकार, उसके स्थान में मूर्धन्य ( षकार ) आदेश होता है।

सर्वादीनि—सर्वादि गणपठित शब्द सर्वनाम संज्ञक होते हैं।

नोट् सर्वादि ३५ हैं—सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर तथा डतम ( प्रत्ययान्त ), अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत्, त्व, नेम ( आधा ), सम एवं सिम ( सभी ), पूर्व, पर, अवर ( पश्चिम ), दक्षिण, उत्तर, अपर ( पश्चिम, आगे ), अधर ( नीचे ), स्व ( आत्मा, आत्मीय ), अन्तर ( बाह्य, परिधानीय ), त्वद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवत्, किम् ( संख्यावाचक एक शब्द नित्य एकवचनान्त है )।

जशः—अकारान्त सर्वनाम संज्ञक शब्द से पर जश् के स्थान में शी आदेश

७।१।१७। अदन्तात्सर्वनाम्नः परस्य जसः शी स्यात्। अनेकाल्त्वात् सर्वादेशः न च 'अर्वणस्तृ—'(सू. ३६४) इत्यादाविव। नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्' (प० ६) इति वाच्यम्, सर्वादेशत्वात् प्रागित्संज्ञाया एवाभावात्। सर्वे। २१५। सर्वनाम्नः स्मै ७।१।१४। अतस्सर्वनाम्नो 'ङे' इत्यस्य 'स्मै' स्यात्। सर्वस्मै। २१६। ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ ७।१।१५। अतः सर्वनाम्नो ङसिङ्योरेतौ स्तः। सर्वस्मात्। २१७। आमि सर्वनाम्नः सुट् ७।१।५२। अवर्णान्तात्परस्य सर्वनाम्नो विहितस्यामः सुडागमः स्यात्। एत्वषत्वे, सर्वेषाम्।

---

अनेकाल्त्वात् सर्वादेशः (ई. ६८, ७२) सर्वशब्दस्य 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इति सर्वनामसञ्ज्ञायां तस्माज्जसि तत्स्थाने 'जसः शी' इत्यनेन विधीयमानः शी आदेशः शित्वादनेकाल्त्वाद् वा सर्वस्य स्थाने स्यादिति शङ्कायाम् अनेकाल्त्वादेव सर्वादेशो न तु शित्वादित्युच्यते। ननु यथा 'अवर्णस्त्र सावनञः' इति सूत्रेण 'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्' इति परिभाषया नकारस्यैव आदेशो भवति, तथैवात्रापि शकारस्येत्सञ्ज्ञायामुक्तपरिभाषया अनेकाल्त्वाभावेन शित्वात् सर्वादेशः स्यादिति चेन्न, सति सर्वादेशे स्थानिवद्भावेन प्रत्ययत्वमादाय इत्सञ्ज्ञायाः प्रवृत्तेः। यावत्सम्पूर्णस्य स्थाने आदेशो न भवति, तावत् प्रत्ययत्वाभावेन इत्सञ्ज्ञैव न स्यादित्यलम्।

सर्वेषाम् (ई. ६४, ६६, ७०)—सर्वशब्दात् आमि 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इति सुटि 'बहुवचने झल्येत्' इति एत्वे कृते 'यदागमास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' इति सुटोऽपि प्रत्ययावयवत्वात् 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'सर्वेषाम्' इति। नन्वत्र एत्वे कर्तव्ये सन्निपातपरिभाषाविरोधः कुतो नेति चेन्न, 'बहुवचने झल्येत्' इत्यत्र 'झलि' ग्रहणाऽभावेऽपि 'रामाणाम्' इत्याद्यजादौ सन्निपातपरिभाषया एत्वाभावसिद्धे झलि ग्रहणमेत्वे सन्निपातपरिभाषाया अप्रवृत्तिज्ञापनार्थमित्युक्तत्वात्।

---

होता है। ('शी' में 'श्-ई' ये दो अल् हैं अतः 'शी' आदेश संपूर्ण जश् के स्थान में होता है। दे० सू० अनेकाल्०)।

सर्व - अदन्त सर्वनामसंज्ञक शब्द से पर ङे के स्थान में स्मै आदेश हो जाता है।

ङसि—अदन्त सर्वनामसंज्ञक शब्द से पर 'ङसि' और 'ङि' के स्थान में यथाप्राप्त स्मात्, स्मिन् आदेश क्रम से होता है।

आमि–अवर्णान्त अङ्ग से पर सर्वनाम से विहित 'आम्' को सुडागम होता है।

सर्वस्मिन् । शेषं रामवत् । एवं विश्वादयोऽप्यदन्ताः । सर्वादयश्च पञ्चत्रिंशत् 'सर्व विश्व उभ उभय डतर डतम अन्य अन्यतर इतर त्वत् त्व नेम सम सिम । 'पूर्व-परा-ऽवर-दक्षिणोत्तरा-ऽपरा-ऽधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्' (ग)। 'स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्' (ग)। 'अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः (ग)। त्वद् तद् यद् एतत् इदम् अदस् एक द्वि युष्मद् अस्मद् भवतु किम्-इति। उभशब्दो द्वित्वविशिष्टस्य वाचक.। अत एव नित्यं द्विवचनान्तः। तस्येह पाठस्तु 'उभकौ' इत्यकजर्थः न च कप्रत्ययेनेष्टसिद्धिः द्विवचनपरत्वाभावेन 'उभयतः' 'उभयत्र' इत्यादाविवायच्प्रसङ्गात्। तदुक्तम्—४१ उभयोन्यत्र* इति। अन्यत्रेति द्विवचनपरत्वाभावे। उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्ति, इति कैयटः। अस्ति, इति हरदत्तः। तस्माज्जस्य यजादेशस्य स्थानिवद्भावेन तयप्प्रत्ययान्ततया 'प्रथमचरम—' (सू २२६) इति विकल्पे प्राप्ते विभक्तिनिरपेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वान्नित्यैव संज्ञा भवति। उभये। डतर-डतमौ प्रत्ययौ।

---

सर्वादिगणे (ई. ६२, ६४, ७३)—ननु सर्वादिप्रयुक्तकार्याणामेकवचनबहुवचनयोरेव विधानादत्रोभशब्दपाठो व्यर्थं इति चेन्न, उभकावित्यत्राव्ययसर्वनाम्नामकजिति अकज्विधानार्थन्तस्याऽवश्यकत्वात्। न च स्वार्थे कप्रत्ययनेनोक्तरूपसिद्धिरिति वाच्यम्, द्विवचनपरत्वाभावेनोभयत उभयत्रेत्यादाविवात्रापि 'उभादुदात्तो नित्यमि'त्यत्र नित्यमिति योगविभागेनायच्प्रसङ्गात्, अकचि तु तन्मध्यपतितन्यायेन द्विवचनपरत्वान्न दोष इति।

उभयशब्दस्येति—उभयोऽन्यत्रेति वार्तिकस्योभयो मणिरुभये देवमनुष्या इत्युदाहरणदानपरकभाष्येण उभयशब्दस्य तद्धितश्चासर्वविभक्तिरित्यव्ययसंज्ञावारणार्थं तसिलादय इत्यादिपरिगणनेन चोभयशब्दस्य द्विवचने रूपमनभिधानमिति कैयटाशयः। न चोदाहरणमादरणीयमिति भाष्येण पचतिरूपं पचतिकल्पमिति परिगणनफलदानेन च द्विवचने रूपं भवत्येवेति हरदत्ताशयः।

उभये (ई. ७३, ७५)—उभौ अवयवौ येषामित्यर्थे संख्याया अवयवे तयपिति तयपः उभादुदात्तो नित्यमित्ययजादेशे ततो जसि स्थानिवत्वेन तयप्प्रत्ययान्ततया प्रथमचरेति विकल्पेन प्राप्तसंज्ञाया विभक्तिनिरपेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वात् सर्वादीनीत्यनेन सर्वनामसंज्ञां प्रत्यसिद्धत्वादनेन नित्यसंज्ञायां जसः शीति श्यादेशे उभये इति।

---

पूर्वपरा—पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर इन सातों की व्यवस्था (नियम से अवधि = आकांक्षा) में और असंज्ञा में सर्वनामसंज्ञा हो।

प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' (प २४) इति तदन्ता ग्राह्याः। यद्यपि 'संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति' (प २८) 'सुप्तिङन्तम्' (सू २९) इति ज्ञापकात्, तथापीह तदन्तग्रहणम्, केवलयोः संज्ञायाः प्रयोजनाभावात्। अन्यतराऽन्यतमशब्दावव्युत्पन्नौ स्वभावाद् द्वि-बहुविषये निर्धारणे वर्तते। तत्रान्यतमशब्दस्य गणे पाठाभावान्न संज्ञा। 'त्व' 'त्व' इति द्वावप्यदन्तावन्यपर्यायौ। 'एक उदात्तोऽपरोऽनुदात्तः' इत्येके। 'एकस्तान्तः' इत्यपरे।

'नेम' इत्यर्धे। समः सर्वपर्यायः। तुल्यपर्यायस्तु नेह गृह्यते, 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (सू. १२८) इति ज्ञापकात्। अन्तरं बहिर्योग—(ग) इति गणसूत्रे ४२ 'अपूरि' इति वक्तव्यम्। अन्तरायां पुरि। २१८। पूर्व-पराऽ-वर-दक्षिणोत्तराऽ-पराऽ-धराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् १।१।३४। एतेषां व्यवस्थायामसंज्ञायां सर्वनामसंज्ञा गणपाठात् सर्वत्र या प्राप्ता सा जसि वा स्यात्। पूर्वे-पूर्वाः। स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था। 'व्यवस्थायां' किम्? दक्षिणा गाथकाः। कुशला इत्यर्थः। 'असंज्ञायां' किम्? उत्तरा कुरवः।

---

स्वाभिधेया—अयम्भावः, 'पूर्वापरे'ति सूत्रे स्वस्य पूर्वादिशब्दस्याभिधेयं वाच्यं तेन अपेक्षस्याऽपेक्ष्यमाणस्य अवधेर्नियमः व्यवस्थाशब्देन विवक्षितः इत्यर्थः। तेन 'दक्षिणा गाथकाः' इत्यत्र कुशलवाचिदक्षिणशब्दस्य सर्वनामसंज्ञा नेति।

---

पूर्वपरा—पूर्वादि सातों को प्राप्त जो सर्वनामसंज्ञा वह व्यवस्था और असंज्ञा अर्थ मे जस् के परे विकल्प से होती है।

नोट—'पूर्वपरा' सूत्र का निष्कृष्ट अर्थ यह है कि—'नियमेन अवधिसापेक्षार्थे संज्ञाभिन्नार्थे च वर्तमानानां पूर्वादीनां (सप्तानां) जसि सर्वनामसंज्ञा विकल्पो न त्वन्यत्र'। अर्थात् जहां पर वह इससे पूर्व है, पर है, अवर है, दक्षिण है, उत्तर है, अपर है या अधर है इस प्रकार नियम से अवधि की आकांक्षा हो, वहां पर और संज्ञा से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त पूर्वादि शब्दों की जस् के परे सर्वनामसंज्ञा होती है। इसीलिए 'दक्षिणा गाथकाः (गाथकाः = गायकाः, दक्षिणाः = कुशलाः = चतुराः) यहां दक्षिण शब्द का कुशल अर्थ है, अतः अवधि की आकांक्षा नहीं होने से सर्वनामसंज्ञा नहीं हुई। असंज्ञायां का प्रत्युदाहरण—'उत्तराः कुरवः' है। यहां उत्तर शब्द 'उत्तर कुरुदेश' की संज्ञा है, इसलिये सर्वनामसंज्ञा नहीं हुई।

२१९। स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् ।१।१।३५। ज्ञातिधनान्यवाचिनः स्वशब्दस्य या प्राप्ता संज्ञा सा जसि वा स्यात्। स्वे—स्वाः। आत्मीया इत्यर्थः। आत्मान इति वा। ज्ञातिधनवाचिनस्तु स्वाः, ज्ञातयोऽर्था वा। २२०। अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः १।१।३६। बाह्ये परिधानीये चार्थेऽन्तरशब्दस्य या प्राप्ता संज्ञा सा जसि वा स्यात्। अन्तरे-अन्तरा वा गृहाः। बाह्या इत्यर्थः। अन्तरे—अन्तरा वा शाटकाः। परिधानीया इत्यर्थः। २२१ पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा ७।१।१६। एभ्यो नवभ्यो ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ वा स्तः। पूर्वस्मात्—पूर्वात्। पूर्वस्मिन्-पूर्वे। एवं परादीनामपि। शेषं सर्ववत्। एकशब्दः संख्यायां नित्यैकवचनान्तः। २२२। न बहुव्रीहौ १।१।२९। बहुव्रीहौ चिकीर्षिते सर्वनामसंज्ञा न स्यात्। त्वकं पिता यस्य स त्वत्कपितृकः। अहकं पिता यस्य स मत्क-

---

स्वे (ई. ६९)—स्वशब्दात् जस्विभक्तौ 'स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्' इत्यनेन सर्वनामत्वे 'जसः शी' इति शीभावे गुणे 'स्वे' इति। स्वशब्दस्य चत्वारोऽर्थाः, तथा चामरः—'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने' इति। अत्र 'स्वो ज्ञातावात्मनि' इत्येकं वाक्यम्। ज्ञातावात्मनि च 'स्व' शब्दः पुंलिङ्ग इत्यर्थः, 'स्वं त्रिष्वात्मीये' इति द्वितीयं वाक्यम्। आत्मीये स्वशब्दो विशेष्यनिघ्न इत्यर्थः। 'स्वोऽस्त्रियां धने' इति तृतीयं वाक्यम्। धने स्वशब्दः पुन्नपुंसक इत्यर्थः। 'स्वः स्यात् पुंस्यात्मनि ज्ञातौ त्रिष्वात्मीयेऽस्त्रियां धने' इति मेदिनीकोशः।

त्वत्कपितृकः (ई. ५७, ५९)—त्वकं पिता यस्य अहकं पिता यस्येति लौकिकविग्रहे युष्मद् सु पितृ सु, अस्मद् सु पितृ सु—इत्यलौकिकविग्रहे बहुव्रीहि-

---

स्वमज्ञा—ज्ञाति (सम्बन्धी) और धनवाची से भिन्न जो आत्मा-आत्मीय वाची 'स्व' शब्द उसको गणसूत्र से प्राप्त जो सर्वनामसंज्ञा वह जस् के परे विकल्प से होती है।

अन्तरं—बाह्य (बहिर्योग) और परिधानीय (उपसंख्यान) अर्थ में अन्तर शब्द को प्राप्त सर्वनामसंज्ञा जस् के परे विकल्प से होती है।

पूर्वा—पूर्वादि नव शब्दों से परे ङसि और ङि के स्थान में यथाक्रम स्मात्, स्मिन् आदेश हों, विकल्प से।

न बहु—बहुव्रीहि समास के प्रसंग में सर्वादि शब्दों की सर्वनामसंज्ञा होती है।

पितृकः। इह समासात् प्रागेव प्रक्रियावाक्ये सर्वनामसंज्ञा निषिद्ध्यते अन्यथा लौकिके विग्रहवाक्य इव तत्राप्यकच्प्रवर्तेत। स च समासेऽपि श्रूयेत। 'अतिक्रान्तो भवकन्तम्, अतिभवकान्, इतिवत्। भाष्यकारस्तु 'त्वकत्पितृकः' 'मकत्पितृकः' इति रूपे इष्टापत्तिं कृत्वैतत्सूत्रं प्रत्याचख्यौ। यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्। संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः, महासंज्ञाकरणेन तदनुगुणानामेव गणे सन्निवेशात्। अतः संज्ञाकार्यमन्तर्गणकार्यं च तेषां न भवति। सर्वो नाम कश्चित्तस्मै सर्वाय देहि। अतिक्रान्तः सर्वमतिसर्वस्तस्मै अतिसर्वाय देहि।

---

समासात् प्रागेव न बहुव्रीहाविति सर्वनामसंज्ञानिषेधेऽकचोऽप्राप्त्या के, प्रत्ययोत्तरपदयोश्चेति त्वमादेशे नद्यृतश्चेति कपि त्वत्कपितृको मत्कपितृक इति सिद्धम्। न बहुव्रीहावित्यस्याभावे भवकन्तमतिक्रान्तोऽतिभवकानित्यत्रेव समासेऽप्यकचः श्रवणापत्तावुक्तरूपासिद्धेरिति पाणिनिमतम्। भाष्यकारस्तु 'अकच्स्वरौ तु कर्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयौ' इत्युक्त्वा त्वकत्पितृको मकत्पितृक इति रूपे इष्टापत्तिं कृत्वा न बहुव्रीहाविति सूत्रं प्रत्याचख्यौ, एवं च यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यमिति बलाद् भाष्यकारमतस्यैव प्रामाण्यमिति बोध्यम्।

संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः (ई. ६२)—'सर्वादीनि सर्वनामानि' इति सूत्रे सर्वनाम इति महासंज्ञाकरणेन तस्याश्चान्वर्थतया सर्वान्नमयन्ति सर्वेषां नामानि इति वा विग्रहेण प्राधान्येन—इतराविशेषणत्वेन, स्वीयसर्वार्थोपस्थापक इत्यर्थलाभात् तादृशसर्वादिगणपठितशब्दानामेव सर्वनामसंज्ञा। सर्वनामसंज्ञोद्देश्यसर्वादीनां शब्दानां प्राधान्येन स्वीयसर्वार्थोपस्थापकानामेव च गणे सन्निवेशेन-त्यदादयः शब्दा अपि तादृशा एव पठ्यन्ते इति 'त्यदादीनामः' इत्यत्वं 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' इति सत्वम्, 'अद्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः' इत्यदडादेशश्च तादृशार्थोपस्थापकशब्दानामेवेति संज्ञायामुपसर्जनत्वे च सर्वादीनामसंज्ञा अत्वं सत्वम् अद्डडादेशश्च न भवन्तीति क्रमेण सर्वो नाम कश्चित् तस्मै सर्वाय देहि अतिक्रान्तः सर्वम् अतिसर्वः तस्मै अतिसर्वाय देहि। अतिकतरं कुलम्, अतितत्, इत्युदाहरणानि।

अतिसर्वाय—अतिक्रान्तः सर्वमतिसर्वः तस्मै 'अतिसर्वाय' इति। अत्र अन्यविशेषणत्वेन 'स्वार्थोपस्थापकत्वमुपसर्जनत्वमि'त्युपसर्जनलक्षणसत्त्वेन सर्वशब्दस्य समासे उपसर्जनीभूतत्वात् 'संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः' इति निषेधात् सर्वनामसंज्ञाऽभावेन स्मायादेशाऽप्राप्त्या 'ङेर्यः' इति ङेयदिशे 'सुपि चे'ति दीर्घे 'अतिसर्वाय' इति सिद्धम्।

अतिकतरं कुलम्। अतितत्। २२३। तृतीयासमासे १।१।३०। अत्र सर्वनामता न स्यात्। मासपूर्वाय। तृतीयासमासार्थवाक्येऽपि न। मासेन पूर्वाय। २२४। द्वन्द्वे च १।१।३१। द्वन्द्वे उक्ता संज्ञा न। वर्णाश्रमेतराणाम्। समुदायस्याऽयं निषेधो नत्ववयवानाम्। न चैवं तदन्तविधिना सुट्प्रसङ्गः, 'सर्वनाम्नो विहितस्याम: सुट्' इति व्याख्यातत्वात्।

२२५। विभाषा जसि १।१।३२। जसाधारं यत्कार्यं शीभावाख्यं तत्र कर्तव्ये द्वन्द्वे उक्ता संज्ञा वा स्यात्। वर्णाश्रमेतरे-वर्णाश्रमेतराः। शीभावं प्रत्येव विभाषेत्युक्तम्। अतो नाकच्, किन्तु कप्रत्यय एव, वर्णाश्रमेतरकाः।

---

ननु प्रतिपदोक्तपरिभाषया अतिसर्वशब्दस्य सर्वनामसंज्ञाप्राप्तिरेव कथमिति चेन्न, एवं सति 'वर्णाश्रमेतराणाम्' इत्यादौ वर्णाश्रमेतरशब्दस्याऽपि सर्वनामत्वाऽभावादेव सुटोऽप्राप्त्या 'द्वन्द्वे चे'ति सूत्रं व्यर्थं स्यात्, तदेव व्यर्थीभूय ज्ञापयति 'तदन्तस्यापीयं संज्ञा' इति।

वर्णाश्रमेतराणाम् (ई. ५०, ६३, ६५, ६९)—वर्णश्च आश्रमश्च इतरश्चेति वर्णाश्रमेतराः, तेषां वर्णाश्रमेतराणाम्। अत्र वर्णाश्रमेतरशब्दात् आमि नुटि 'नामी'ति दीर्घे णत्वे उक्तं रूपं सिद्धम्। नन्वत्र 'वर्णाश्रमेतर' इति समुदायस्य तदन्तविधिना 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इत्यनेन सर्वनामसंज्ञा कुतो नेति चेन्न, 'द्वन्द्वे च' इति निषेधात्। न च प्रकृतसूत्रेण वर्णाश्रमेतर इति समुदायस्य सर्वनामसंज्ञानिषेधेऽपि 'इतर' शब्दस्य सर्वनामत्वमस्तीति ततः परस्य आम्विभक्तेः 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इति सुट् कुतो नेति वाच्यम्, तत्र सूत्रे सर्वनाम्नः इति पञ्चम्याः विहितविशेषणत्वस्वीकारेण अवर्णान्तादङ्गात्परस्य सर्वनाम्नो विहितस्याम: सुट् भवतीत्यर्थेनाऽत्र इतरशब्दात् सुटो विहितत्वाभावेन तदप्रवृत्तेः।

वर्णाश्रमेतरकाः (ई. ७०, ७२)—द्वन्द्वसमासनिष्पन्नात् वर्णाश्रमेतर-शब्दात् कप्रत्यये कृते 'वर्णाश्रमेतरकः' इति। तस्मात् जसि अनुबन्धलोपे सवर्ण-दीर्घे सकारस्य रुत्वे विसर्गे उक्तं रूपं सिद्धम्। ननु वर्णाश्रमेतरशब्दात् अकच्

---

तृतीया—तृतीया तत्पुरुष समास के प्रसंग में सर्वादि की सर्वनामसंज्ञा नहीं होती। द्वन्द्वे—द्वन्द्व समास में भी सर्वादि की सर्वनामसंज्ञा नहीं होती।

विभाषा—किन्तु द्वन्द्व समास में जस्सम्बन्धी कार्यों के प्रसंग में सर्वादि की सर्वनामसंज्ञा विकल्प से होती है।

२२६। प्रथम-चरम-तयाल्पार्धकतिपय-नेमाश्च १।१।३३। एते जसः कार्यं प्रत्युक्तसंज्ञा वा स्युः। प्रथमे-प्रथमाः। शेषं रामवत्। तयप् प्रत्ययः, ततस्तदन्ता ग्राह्याः। द्वितीये-द्वितीयाः। शेषं रामवत्। नेमे-नेमाः। शेषं सर्ववत्। ४३ विभाषाप्रकरणे तीयस्य ङित्सूपसंख्यानम्*। द्वितीयस्मै-द्वितीयाय। इत्यादि। एवं तृतीयः। अर्थवद्ग्रहणान्नेह—पटुजातीयाय। निर्जरः। २२७। जराया जरसन्यतरस्याम् ७।२।१०१। जराशब्दस्य 'जरस्' वा स्यादजादौ विभक्तौ। 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' (प २९)। अनेकाल्त्वात्सर्वादेशे प्राप्ते 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' (प १२)। एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् जरशब्दस्य जरस्। निर्जरसौ। निर्जरसः। इनादीन्बा-

---

कुतो नेति चेन्न, 'सर्वादीनि' इत्यनेन प्राप्तसर्वनामसंज्ञायाः 'द्वन्द्वे च' इत्यनेन निषेधात्। न च 'विभाषा जसि' इति विभाषया सर्वनामसंज्ञासत्वे अकच् स्यादिति वाच्यम्, 'विभाषा जसि' इति शीभावे कर्तव्ये एव विभाषया सर्वनामसंज्ञाविधानात्।

निर्जरसौ (ई. ६३)–निर्जरशब्दात् औविभक्तौ 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इति जरसादेशे 'निर्जरसौ' इति। नच जराशब्दस्य विधीयमानो जरसादेशः निर्जरशब्दे कथमिति वाच्यम्, जरसादेशस्य अङ्गाधिकारस्थत्वेन 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' इति परिभाषया निर्जरशब्दस्याऽपि जरसादेशोचितत्वात्, नन्वेवमपि जराशब्दान्तस्य विधीयमानो जरसादेशः अनेकाल्त्वात् निर्जरशब्दस्य कृत्स्नस्यैव स्यादिति चेन्न, 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इति परिभाषायाः जागरूकत्वात्। नन्वेवमपि निर्जरशब्दस्य जराशब्दान्तत्वं कथमिति वाच्यम्' एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति परिभाषया अर्थात् 'छिन्ने पुच्छेऽपि श्वा श्वैव,

---

प्रथम—प्रथम, चरम, तयप्प्रत्ययान्त शब्द, अल्प, अर्ध कतिपय तथा नेम शब्दों की भी जस्सम्बन्धी कार्य के प्रसंग में सर्वनामसंज्ञा विकल्प से होती है।

विभाषा—इस विभाषा (विकल्प) प्रकरण में तीय प्रत्ययान्त शब्दों की ङकारेत्संज्ञक विभक्ति के परे रहते सर्वनामसंज्ञा करनी चाहिए।

जराया—जरा शब्द के स्थान में विकल्प से जरस् आदेश होता है, अजादि विभक्ति के परे।

नोट—सु, भ्याम्, भिस्, भ्यस् और सुप् विभक्ति को छोड़कर निर्जर शब्द को सर्वत्र जरसादेश विकल्प से होता है।

धित्वा परत्वाज्जरस् । निर्जरसा । निर्जरसे । निर्जरसः २ । पक्षे हलादौ च रामवत् । वृत्तिकृता तु "पूर्वविप्रतिषेधेन इनातोः कृतयोः 'सन्निपात' ( प ८६ ) परिभाषाया अनित्यत्वमाश्रित्य जरसि कृते 'निर्जरसिन्' 'निर्जरसात्' इति रूपे, न तु 'निर्जरसा' 'निर्जरसः' इति केचित्" इत्युक्तम् । तथा भिसि 'निर्जरसैः' इति रूपान्तरमुक्तम् । तदनुसारिभिश्च षष्ठ्येकवचने 'निर्जरस्य' इत्येव रूपमिति स्वीकृतम् । एतच्च भाष्यविरुद्धम् । २२८ । पदन्नोमास्-हृन्निशसन्-यूषन्-दोषन्-यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु ६।१।६३ । पाद दन्त नासिका

---

नाऽश्वो नच गर्दभः' इति न्यायेन निर्जरशब्दान्तत्वस्य सुलभत्वात् । जरसादेशाभावपक्षे तु 'वृद्धिरेऽचि' इति वृद्धौ 'निर्जरौ' इति ।

निर्जरसे ( ई. ५९, ६२ )—निर्जरशब्दाच्चतुर्थ्येकवचने 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इत्यनेन जरसादेशे उक्तं रूपं सिद्धम् । ननु 'जरा' शब्दस्य विधीयमानो जरसादेशः निर्जरशब्दे कथमिति चेन्न, जरसादेशस्य अंगाधिकारस्थत्वेन 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' इतिपरिभाषया निर्जरशब्दस्याऽपि जरसादेशोचितत्वात् । न चैवमपि जराशब्दान्तस्य विधीयमानो जरसादेशः अनेकाल्त्वात् निर्जरशब्दस्य कृत्स्नस्य स्यादिति चेन्न, 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इति परिभाषायाः जागरूकत्वात् । नचैवमपि निर्जरशब्दस्य जराशब्दान्तत्वं कथमिति वाच्यम्, 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति परिभाषया निर्जरशब्देऽपि जराशब्दान्तत्वस्य सुलभत्वात् ।

निर्जरसिन् ( ई. ५८ )—जरसादेशाद्विभक्त्यादेशाः पूर्वविप्रतिषेधेन भवन्तीति स्वीकृत्य सन्निपातपरिभाषायाश्च 'अतो भिस ऐस्' इति सूत्रेऽदन्तात्परस्य भिस ऐसादेशविधानेन वृद्ध्येष्टसिद्धावैस्करणसामर्थ्येन जरसादेशविषये अनित्यत्वमाश्रित्य निर्जरशब्दात् तृतीयैकवचने टाप्रत्यये पञ्चम्येकवचने ङसि प्रत्यये वा पूर्वमिनादेशे 'आत्' आदेशे च कृते सन्निपातपरिभाषायाः अनित्यत्वेनाऽप्रवृत्त्या जरसादेशे 'निर्जरसिन्' 'निर्जरसात्' इति केषाञ्चिन्मतं वृत्तिकारेणोक्तम् । तन्मते च तृतीयाबहुवचने जरसादेशात् पूर्वं भिसः स्थाने ऐसादेशे सन्निपातपरिभाषायाः

---

पद्दन्नो—शस्-प्रभृति प्रत्ययों के परे—पाद, दन्त, नासिका, मास, हृदय, निशा, असृज्, पूष, दोष, यकृत्, शकृत्, उदक और आसन शब्दों के स्थान में क्रमशः—पद्, दत्, नस्, मास्, हृत्, निश्, असन्, पूषन्, दोषन्, यकन्, शकन्, उदन् तथा आसन् आदेश होते हैं ।

मास हृदय निशा असृज् यूष दोष् यकृत् शकृत् उदक आस्य एषां पदादय आदेशाः स्युः शसादौ वा । यत्तु 'आसनशब्दस्यासन्नादेशः' इति काशिकायामुक्तं, तत्प्रामादिकम् । पादः । पादौ । पादाः । पादम् । पादौ । पदः-पादान् । पदा पादेन इत्यादि । २२९ । सुडनपुंसकस्य । १।१।४३ । 'सुट्' इति प्रत्याहारः । स्वादिपञ्चवचनानि सर्वनामस्थानसंज्ञानि स्युरक्लीबस्य । २३० । स्वादिष्व-सर्वनामस्थाने १।४।१७ । कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु परतः

---

अनित्यत्वेन जरसादेशे 'निर्जरसैः' इति रूपं भवतीत्युक्तम् । तदनुसारिभिश्च पूर्वं ङसः स्यादेशेऽजादित्वाभावेन जरसादेशाप्रवृत्त्या 'निर्जरस्य' इत्येवं रूपं भवतीति स्वीकृतम् । परन्तु सर्वमेतद्भाष्यविरुद्धम् । भाष्यकृता हि इनादेशस्येकारस्य 'आत्' आदेशस्य च दीर्घकरणं प्रत्याख्यातम् । 'ओसि च' इत्येत्सूत्रात्परत्र 'आङ्भि चापः' इत्यत्र 'आङि' इति योगं विभज्य आङि परेऽत भवतीत्यर्थेन रामशब्दात् टाप्रत्ययस्य स्थाने 'न' आदेशे एत्वे णत्वे च कृते 'रामेण' इति, रामशब्दात् ङस्प्रत्ययस्य 'अत्' आदेशेऽकारोच्चारणसामर्थ्येन 'अतो गुणे' इति पररूपबाधे सवर्णदीर्घेण च 'रामात्' इति च रूपसिद्धेः । तथा च तन्मते 'नर्जरसिन्' इत्यादिरूपासिद्धेः प्रत्याख्यानासंगतिः स्यादतो जरसादेशः परत्वाद् विभक्त्यादेशेभ्यः पूर्वं भवतीत्येव राद्धान्त इति ।

पदः ( ई. ६७ ) पादशब्दाच्छसि 'पद्दन्नोमास—' इति पादशब्दस्य विभाषया पदादेशे सस्य रुत्वे विसर्गे 'पदः' इति । पक्षे पूर्वसवर्णदीर्घे 'तस्माच्छसो नः—' इति नत्वे 'पादान्' इति ।

स्वादिष्वसर्वनामस्थाने ( ई. ६६, ७२ )—कप्प्रत्यावधिषु स्वादिष्व-सर्वनामस्थानेषु परतः पूर्वं पदसंज्ञं स्यादित्यर्थः । 'दद्भ्याम्' 'राजभ्याम्' इत्या-द्युदाहरणानि । तत्र 'दत् भ्याम्' इति स्थिते अनेन पदत्वाज्जश्त्वसिद्धिः । एवं 'राजन् भ्याम्' इति स्थिते अनेन पदत्वान्नलोपसिद्धिः ।

---

सुडन—स्वादि पंचवचनों ( सु, औ, जस्, अम्, औट् ) की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है, नपुंसकलिंग को छोड़ कर ।

नोट—स्मरण रहे कि नपुंसकलिंग में जस् और शस् स्थानिक 'शि' मात्र की सर्वनामसंज्ञा होती है ( दे० सूत्र 'शि सर्वनाम०' )

स्वादिष्व—'सु' प्रत्यय से लेकर 'कप्' प्रत्यय पर्यन्त सर्वनामस्थानभिन्न प्रत्यय पर रहने से पूर्व की पदसंज्ञा होती है ।

पूर्वं पदसञ्ज्ञं स्यात् । २३१ । यचि भम् १।४।१८ । यकारादिष्वजादिषु च कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु परतः पूर्वं भसंज्ञं स्यात् । २३२ । आकडारादेका संज्ञा १।४।१। इत ऊर्ध्वं 'कडाराः कर्मधारये' ( सू ७५२ ) इत्यतः प्रागेकस्यैकैव संज्ञा ज्ञेया । या परा अनवकाशा च । तेन शसादावचि भसंज्ञैव, न पदत्वम् । अतो जश्त्वं न । दतः । दता । जश्त्वं, दद्भ्याम् । इत्यादि । मासः । मासा । भ्यामि रुत्वे यत्वे च यलोपः । माभ्याम् । माभिः इत्यादि । २३३ । भस्य ६।४।१२९ । अधिकारोऽयम् ।२३४ । अल्लोपोऽनः ६।४।१३४ । अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिपरो योऽन् तस्याकारस्य लोपः स्यात् । २३५ । रषाभ्यां नो णः समानपदे ८।४।१। एकपदस्थाभ्यां

---

दतः ( ई. ५८, ६० )—दन्तशब्दात् शसि 'दन्त अस्' इति स्थिते 'पद्दन्नो-मास' इति ददादेशे 'दत् अस्' इति स्थिते 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इत्य-नेन पदसंज्ञायां 'यचि भम्' इत्यनेन भसंज्ञायां च प्राप्तायाम् 'आ कडारादेका संज्ञा' इति नियमात् शसादावचि भसंज्ञस्यैव प्राबल्येन पदत्वाभावेन जश्त्वाऽभावे सकारस्य रुत्वे विसर्गे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

माभ्याम् ( ई. ६०, ७० )—मासशब्दात् भ्यामि 'पद्दन्न' इति सूत्रेण मासशब्दस्य 'मास्' इत्यादेशे 'स्वादिष्वि'ति पदत्वे 'ससजुषो रुः' इति सकारस्य रुत्वे 'भोभगो' इति यत्वे 'हलि सर्वेषाम्' इति यलोपे उक्तं रूपं जातम् ।

---

यचि—सर्वनामस्थान संज्ञक से भिन्न 'सु' से लेकर 'कप्' प्रत्ययपर्यन्त जो यकारादि या अजादि प्रत्यय उसके परे पूर्व की भसंज्ञा होती है ।

आकडा—यहाँ से (प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद से लेकर आगे) 'कडाराः कर्मधारये' सूत्र से पूर्व तक एक की एक ही संज्ञा होती है ( जो अष्टाध्यायी के क्रम से पर हो या अनवकाश हो ) ।

भस्य—यहाँ से ( षष्ठाध्याय के चतुर्थ पाद से ) भसंज्ञा का अधिकार जानना चाहिए ।

अल्लो—अङ्गावयव, असर्वनामस्थान यादि तथा अजादि प्रत्ययपरक 'अन्' के अकार का लोप होता है ।

रषा—एक पद में स्थित रेफ या षकार से पर नकार को णत्व ( णकार ) होता है ।

रेफषकाराभ्यां परस्य नस्य णः स्यात् । यूष्णः । यूष्णा । 'पूर्वस्मादपि विधौ स्थानिवद्भावः' इति पक्षे तु 'अड्व्यवाये' ( सू १९७ ) इत्येवात्र णत्वम् । ४४ पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत् ॥ इति तु इह नास्ति, ४५ तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु* । इति निषेधात् । २३६ । न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७। 'न' इति 'प्रातिपदिक' इति च लुप्तषष्ठीके पदे । प्रातिपदिकसंज्ञकं यत्पदं तदन्तस्य नकारस्य लोपः स्यात् । नलोपस्यासिद्धत्वाद् दीर्घत्वमेत्वमैस्त्वं च न । यूषभ्याम् । यूषभिः । यूषभ्यः । इत्यादि । २३७ । विभाषा ङिश्योः ६।४।१३५ । अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिपरो योऽन् तस्याकारस्य लोपो वा स्यात् ङिश्योः परयोः । यूष्णि-यूषणि । पक्षे

यूष्णः ( ई. ६०, ६३, ७० )—यूषशब्दाच्छसि 'पद्दन्न' इत्यादिसूत्रेण यूषशब्दस्य 'यूषन्' आदेशे 'यूषन् अस्' इति स्थिते भसंज्ञायाम् 'अल्लोपोऽन' इत्यल्लोपे 'यूषन् अस्' इति स्थिते 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' इत्यत्र 'पूर्वस्मात् विधिः पूर्वविधिः' इति पञ्चमीसमासाश्रयणेन षकारात् परस्य नकारस्य णत्वे कर्तव्ये अल्लोपस्य स्थानिवद्भावेन अकारव्यवधानात् 'रषाभ्याम्' इत्यस्य प्रवृत्त्यभावेऽपि 'अटकुप्वाङ्नुम्व्यवायेपि' इति अड्व्यवायेऽपि णत्वे सकारस्य रुत्वे विसर्गे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

यूषभिः ( ई. ७४ )—यूषशब्दात् भिसि 'पद्दनोमास' इत्यादिसूत्रेण यूषशब्दस्य यूषन्नादेशे 'स्वादिष्वि'ति पदत्वे 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे ततो नलोपस्याऽसिद्धत्वात् 'अतो भिस ऐस्' इत्यस्याप्रवृत्तौ सकारस्य रुत्वे विसर्गे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

यूष्णि ( ई. ५८, ६६ )—यूषशब्दात् ङिविभक्तौ पद्दन्निति यूषन्नादेशे 'विभाषा ङिश्योः' इति 'अन्' इत्यस्य लोपे 'रषाभ्या'मिति णत्वे 'यूष्णि' इति, लोपाभावपक्षे 'यूषणि' इत्यपि भवति ।

न लोपः—प्रातिपदिक संज्ञक जो पद उसका अन्त्यावयव नकार का लोप होता है ।

विभाषा-अङ्गावयव असर्वनामस्थान यादि तथा अजादि स्वादि प्रत्यय परक 'अन्' के अकार का लोप होता है, ङी और शि के परे विकल्प से ।

नोट—'यजादि' में—'य्, अच् आदि' ऐसा समझना चाहिए । अर्थात् 'यज् + आदि = यजादि' ऐसा अर्थ करना अशुद्ध है ।

रामवत् । 'पद्दन्न—' ( सू २२८ ) इति सूत्रे प्रभृतिग्रहणं प्रकारार्थम् । तथा च औङः श्यामपि दोषन्नादेशो भाष्ये ककुद्दोषणी, इत्युदाहृतः । तेन 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' 'स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इति चामरः सङ्गच्छते । 'आसन्यं प्राणमूचुः' इति च । आस्ये भवः आसन्यः । 'दोष्' शब्दस्य नपुंसकत्वमप्यत एव भाष्यात् । तेन 'दक्षिणं दोर्निशाचरः' इति सङ्गच्छते । भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्यमरः इति साहचर्यात् पुंस्त्वमपि । 'दोषं तस्य तथाविधस्य भजतः' इति। द्वयोरह्नोर्भवो द्व्यह्नः ।२३८। संख्या-वि-साय-पूर्वस्याऽह्नस्याऽहन्नन्यतरस्यां ङौ ६।३।११० । सङ्ख्यादिपूर्वस्याह्नस्याहन्नादेशो वा स्यात ङौ । द्व्यह्नि-द्व्यहनि-द्व्यह्ने । विगतमहर्व्यह्नः । व्यह्नि-व्यहनि-व्यह्ने । अह्नः सायः सायाह्नः । सायाह्निः-सायाहनि-सायाह्ने । इत्यदन्ताः । विश्वपाः । २३९ ।

---

प्रभृतिग्रहणं प्रकारार्थम् ( ई. ६८ )—अयमाशयः, 'पद्दन्नि'ति सूत्रे प्रभृतिपदस्य प्रकारोऽर्थः । प्रकारो भेदसादृश्यम् । सादृश्यं चात्र सुप्त्वधर्मेण गृह्यते । तथा च यत्र सुप्त्वं स्यात्तत्रादेशा भवन्ति । एवं च दोषशब्दस्य नपुंसकलिङ्गे औङः श्यादेशे दोषन्नादेशो भवति । ततश्च 'ककुद्दोषणी' इति भाष्योदाहरणं सङ्गतम्भवति । एवमेव 'पदङ्घ्रिश्चरणः' इत्यादौ सुब्विभक्तौ पादशब्दस्य पदादेशश्च सिद्धः ।

द्व्यह्नि ( ई. ६७, ६९ )—द्वयोरह्नोर्भवः इति विग्रहे 'तद्धितार्थ' इति समासे 'कालाट्ठञ्' इति ठञि तस्य 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इति लुकि 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टचि 'अह्नोऽह्न एतेभ्यः' इति अह्नादेशे यणि 'द्व्यह्न' इति; तस्मात् द्व्यह्नशब्दात् ङौ 'संख्याविसाय' इति अहन्नादेशे निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपाये 'द्वि अ हन्' इति जाते 'विभाषा ङिश्योः' इति अल्लोपे इकारस्य यणि 'द्व्यह्नि' इति । अल्लोपाभावे 'द्व्यहनि' इति । अहन्नादेशाभावे गुणे 'द्व्यह्ने' इति च भवति ।

विश्वपः ( ई. ६३ )—विश्वपाशब्दात् द्वितीयाबहुवचने 'विश्वपा अस्' इति स्थिते 'स्वादिष्वि'ति सर्वनामस्थानभिन्नस्वादिषु शसादिषु परेषु पूर्वस्य विश्वपाशब्दस्य पदसंज्ञायां 'यचि भम्' इति सर्वनामस्थानभिन्नयजादिषु स्वादिषु परेषु भसंज्ञायां च प्राप्तायां किमत्र विधेयम् इति शङ्कायाम् 'आकडारादेका संज्ञा'

---

संख्या—संख्यावाचक, वि तथा साय शब्दों से परवर्ती अह्न शब्द के स्थान में अहन् आदेश होता है, सप्तमी एकवचन के परे, विकल्प से ।

दीर्घाज्जसि च ६।१।१०५। दीर्घाज्जसि इचि च परे प्रथमयोः पूर्वसवर्णदीर्घो न स्यात्। वृद्धिः, विश्वपौ। सवर्णदीर्घः, विश्वपाः। यद्यपीह औङि 'नादिचि' (सू १६५) इत्येव सिद्धम्, जसि तु सत्यपि पूर्वसवर्णदीर्घे क्षतिर्नास्ति तथापि 'गौर्यौ' 'गौर्यः' इत्याद्यर्थं सूत्रमिहापि न्याय्यत्वादुपन्यस्तम्। २४०। आतो धातोः ६।४।१४०। आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य भस्याङ्गस्य लोपः स्यात्। 'अलोऽन्त्यस्य' (सू ४२) विश्वपः। विश्वपा। विश्वपाभ्याम्। इत्यादि। एवं शङ्खध्मादयः। 'धातोः' किम्? हाहान्। टा सवर्णदीर्घः हाहा। ङे, वृद्धिः, हाहै। ङसिङसोर्दीर्घः, हाहाः। ओसि वृद्धिः, हाहौः। ङौ आद्गुणः, हाहे। शेषं विश्वपावत्। 'आतः' इति योगविभागादधातोरप्याकारलोपः क्वचित्। क्त्वः। स्नः। इत्यादन्ताः।

हरिः। प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (सू १६४)। हरी। २४१। जसि च ७।३।१०९। ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणः स्याज्जसि परे। हरयः। २४२। ह्रस्वस्य गुणः ७।३।१०८। ह्रस्वस्य गुणः स्यात् सम्बुद्धौ। 'एङ्ह्रस्वात्—' (सू १९३) इति सम्बुद्धिलोपः। हे हरे। हरिम्। हरी। हरीन्। २४३। शेषो घ्यसखि १।४।७। अनदीसंज्ञौ ह्रस्वौ याविवर्णोवर्णौ तदन्तं सखिवर्जं घिसंज्ञं स्यात्। 'शेषः' किम्? मत्यै। एकसंज्ञाधिकारात् सिद्धे शेषग्रहणं स्पष्टार्थम्। 'ह्रस्वौ' किम्? वातप्रम्ये। यू' किम्? मात्रे। २४४।

---

इति एकैव संज्ञा भवतीति नियमात् परत्वादनवकाशत्वाच्च भसंज्ञायां सत्याम् 'आतो धातोः' इति पूर्वसवर्णदीर्घं प्रबाध्य 'अलोन्त्य' परिभाषया पकारोत्तरवर्त्याकारस्य लोपे सस्य रुत्वे विसर्गे 'विश्वपः' इति।

यू किं मात्रे—यूग्रहणाभावे अदन्तशब्दे इनादेशादिना बाधात् धिसञ्ज्ञाफलस्य नाभावादेर्न प्रवृत्तिः। ऋदन्तशब्दे च 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इति

---

दीर्घा—दीर्घ से पर जस् अथवा इच् रहे तो पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं होता है।

आतो—आकारान्त जो धातु, तदन्त जो भसंज्ञक अङ्ग, उसका लोप होता है।

जसि च—ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण होता है, जस् के परे।

ह्रस्वस्य—ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण होता है, सम्बुद्धि सु के परे।

शेषो—नदीसंज्ञक से भिन्न जो ह्रस्व इकार-उकार, तदन्त जो सखिभिन्न शब्द, उसकी घिसंज्ञा होती है।

आङो नाऽस्त्रियाम् ७।३।१२०। घेः परस्याङो ना स्यादस्त्रियाम्। 'आङ' इति टासंज्ञा प्राचाम्। हरिणा। 'अस्त्रियाम् किम्' मत्या। २४५। घेर्ङिति ७।३।१११। घिसंज्ञकस्य ङिति सुपि गुणः स्यात्। हरये। 'घेः' किम्। सख्ये। 'ङिति' किम्? हरिभ्याम्। 'सुपि' किम्? पट्वी। 'घेर्ङिति' (सू २४५) इति गुणे कृते। २४६। ङसिङसोश्च ६।१।११०। एङो ङसिङसोरति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। हरेः २। हर्योः। हरीणाम्। २४७। अच्च घेः ७।३।११९। इदुद्भ्यामुत्तरस्य ङेरौत् स्यात्, घेरन्तादेशश्चाकारः। वृद्धिः, हरौ। हर्योः। हरिषु। एवं श्रीपत्यग्निरविकव्यादयः। २४८। अनङ् सौ ७।१।९३। सख्युरङ्गस्यानङादेशः स्यादसम्बुद्धौ सौ परे। 'ङिच्च' (सू ४३) इत्यन्तादेशः। २४९। अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा १।१।६५। अन्त्यादलः पूर्वो वर्ण उपधासंज्ञः स्यात्। २५० सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ ६।४।८।

---

सूत्रे, ङिग्रहणेन ङित्सु ऋदन्तस्य गुणश्चेत्तर्हि ङावेवेति नियमेन गुणादिर्न अभविष्यदिति पद्दन्निति सूत्रे यूग्रहणफलं परिच्छेत्तृवाचकमातृशब्दात् टाविभक्तौ परे नाभावाभाव इत्यलम्।

हरौ (ई. ६७)—हरिशब्दात् सप्तम्येकवचने 'हरि इ' इति स्थिते 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायां 'घेर्ङिति' इति गुणे प्राप्ते तम्प्रबाध्य 'अच्च घेः' इति ङेरौत्वे घिसंज्ञकस्याकारान्तादेशे च कृते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'हरौ' इति।

---

आङो—घिसंज्ञक से पर 'आङ्' (टा) को 'ना' आदेश होता है, स्त्रीलिंग को छोड़कर।

घेर्ङि—घिसंज्ञक को गुण होता है, ङित्-सुप् विभक्ति के परे।

ङसि—एङ् से पर ङसि-ङस् सम्बन्धी अकार को पूर्वरूप एक आदेश होता है।

अच्च—ह्रस्व इकार-उकार से पर 'ङि' को 'औत्' और घिसंज्ञक को अकारान्त आदेश होता है।

अनङ्—'सखि' रूपी अङ्ग को 'औत्' आदेश होता है। सम्बुद्धि से भिन्न 'सु' के परे।

अलो—अन्त्य अल् से पूर्व वर्ण की उपधासंज्ञा होती है।

सर्व—नान्त की उपधा को दीर्घ होता है। सम्बुद्धि से भिन्न सर्वनाम-स्थान के परे।

नान्तस्योपधाया दीर्घः स्यादसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे। २५१। अपृक्त एकाल्प्रत्ययः १।२।४१। एकाल्प्रत्ययो यः सोऽपृक्तसंज्ञः स्यात्। २५२। हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् ६।१।६८। हलन्तात्परं दीर्घौ यौ ङ्यापौ तदन्ताच्च परं सु ति सि इत्येतदपृक्तहल् लुप्यते। 'हल्ङ्याब्भ्यः' किम्? ग्रामणीः। 'दीर्घात्' किम्? निष्कौशाम्बिः। अतिखट्वः। 'सुतिसि' इति किम्? अभैत्सीत्। तिपा सहचरितस्य सिपो ग्रहणात्सिचो ग्रहणं नास्ति। 'अपृक्तम्' इति किम् बिभर्ति। 'हल्' किम्? बिभेद। 'प्रथमहल्' किम्? राजा। नलोपो न स्यात्, संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वात्। सखा। हे सखे। २५३। सख्युरसम्बुद्धौ ७।१।९२। सख्युरङ्गात्परं सम्बुद्धिवर्जं सर्वनामस्थानं णित्कार्यकृत्स्यात्। २५४। अचो ञ्णिति ७।२।११५। ञिति णिति च परेऽजन्ताङ्गस्य वृद्धिः स्यात्।

---

दीर्घात्किम्–(ई. ६६) हल्ङ्याबितिसूत्रे दीर्घग्रहणाभावे निष्कौशाम्बिरतिखट्वः इत्यत्र गोस्त्रियोरिति ह्रस्वे स्थानिवत्त्वेन ङीप्त्वाप्त्वे आदाय सुलोपापत्तेः, दीर्घग्रहणे कृते तु दीर्घत्वधर्मस्याल्मात्रवृत्तित्वेनानल्विधाविति निषेधान्न दोषः।

हल् किम् (ई. ६८)—ननु अनङ्सावित्यत्र सोङिति न्यासेन सखेति सिद्धौ हल्ङ्याविति सूत्रे हल्ग्रहणं व्यर्थम्, राजेत्यादौ संयोगान्तलोपेनैव सिद्धेरिति चेन्न, संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वान्नलोपानापत्तेरिति।

सखा (ई. ७२)—सखिशब्दात् प्रथमैकवचने सौ 'यस्मात्प्रत्यय—' इत्यङ्गसंज्ञायाम् 'अनङ् सौ' इति 'ङिच्चे'ति सूत्रबलात् सखिशब्दान्तस्य अनङि अनुबन्धलोपे 'सखन् स्' इति जाते 'अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा' इत्युपधासंज्ञायां "सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इत्युपधायाः दीर्घे 'सखान् स्' इति स्थिते 'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः इति सस्य अपृक्तसंज्ञायां 'हल्ङ्याब्भ्यः—' इति सलोपे 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे 'सखा' इति।

---

अपृक्त—एक अल् मात्ररूप जो प्रत्यय, वह अपृक्त संज्ञक होता है।

हल्—हलन्त से पर जो सु-ति-सि-सम्बन्धी अपृक्तसंज्ञक 'हल्' और दीर्घरूपी 'ङी-आप्' तदन्त से पर जो सु-सम्बन्धी अपृक्तसंज्ञक 'हल्' उसका लोप होता है।

सख्यु—सखि रूप अंग से पर जो सम्बुद्धि से भिन्न सर्वनामस्थान वह णित्-वत् होता है अर्थात् 'णित्' के परे जो वृद्धयादि कार्य होता है, वह उसके परे भी होता है।

अचो—अजन्त अङ्ग को वृद्धि होता है, ञित्-णित् प्रत्यय के परे।

सखायौ । सखायः । सखायम् । सखायौ । घिसंज्ञाभावान्न तत् कार्यम् । सख्या । सख्ये । २५५ । ख्यत्यात् परस्य ६।१।११२ खितिशब्दाभ्यां खीतीशब्दाभ्यां कृतयणादेशाभ्यां परस्य ङसिङसोरत उत्स्यात् । सख्युः । २५६ । औत् ७।३।११८ इदुद्भ्यां परस्य ङेरौत् स्यात् । उकारानुवृत्तिरुत्तरार्था । सख्यौ । शेषं हरिवत् । शोभनः सखा सुसखा । सुसखायौ । सुसखायः । अनङ्णिद्वद्भावयोराङ्गत्वात्तदन्तेऽपि प्रवृत्तिः । समुदायस्य सखिरूपत्वाभावात्, '–असखि' ( सू २४३ ) इति निषेधाप्रवृत्तेर्घिसंज्ञा । सुसखिना । सुसखये । ङसिङसोर्गुणे कृते कृतयणादेशत्वाभावात् 'ख्यत्यात् ' ( सू २५५ ) इत्युत्त्वं न । सुसखेः । सुसखौ । इत्यादि । एवमतिशयितः सखा अतिसखा । 'परमः सखा यस्य' इति

---

सुसखा ( ई. ७० ) शोभनः सखेत्यर्थे समासात्सौ 'अनङ् सौ' 'सख्युरसम्बुद्धौ' इति सूत्रयोरङ्गत्वात्तदन्तेऽपि प्रवृत्त्या सुसखा इति । एवं शोभनः सखा यस्येति बहुव्रीहावपि सुसखेति । न चान्यपदार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताश्रयत्वमुपसर्जनत्वं चेति प्राचीनमते गौणत्वाद् गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्यय इति परिभाषया कथमत्रानयोः प्रवृत्तिरिति वाच्यम्, स्त्रीत्वानिमित्तत्वे सति सुब्विभक्त्यनिमित्तकत्वं पदकार्यत्वं यत्र तत्रैवोक्तपरिभाषा प्रवर्तते न तु प्रातिपदिककार्ये इत्यदोषात् ।

सुसखिना ( ई. ६७, ६९, ७१ )—'शेषो घ्यसखि' इति सूत्रे 'असखि' इति पदस्य वर्णसञ्ज्ञापक्षे सखिभिन्नावयवौ याविदुतौ तयोर्घिसञ्ज्ञेत्यर्थः । तथा-चात्र सुसखिशब्दस्य सखिभिन्नत्वेन तदवयवस्य इकारस्य घिसञ्ज्ञायां नादेशे च 'सुसखिना' इति । सखिभिन्नं यद् इकारान्तमुकारान्तं तस्य घिसञ्ज्ञेति तदन्तपक्षेऽपि सुसखिशब्दे समुदायस्य 'सुसखि' इत्यस्य सखिभिन्नत्वात् सुलभैव घिसञ्ज्ञा । भाष्यकृन्मते तु प्रकृते घिसञ्ज्ञा नैव लभ्यते । सखिशब्दस्य तदवयवे लक्षणया सख्यवयवभिन्नयोरिदुतोः तयोर्वा घित्वम् इत्यर्थे सुसखिघटकेकारस्य सख्यवयत्वेन तद्भिन्नत्वाभावात् सूत्राप्रवृत्तेरिति दिक् ।

अतिसखिः ( ई. ६८ )—सखीमतिक्रान्त इत्यर्थे समासे घटघटीग्रहणे लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया अनित्यत्वाद्राजाहः सखिभ्यष्टजिति टचोऽप्राप्त्या

---

ख्यत्यात्—कृत-यणादेशक जो ह्रस्व 'खि' शब्द, 'ति' शब्द और दीर्घ 'खी' शब्द 'ती' शब्द, उससे पर 'ङि' को 'औत्' आदेश होता है ।

औत्—ह्रस्व इकार-उकार से पर 'ङि' को 'औत्' आदेश होता है ।

विग्रहे परमसखा। परमसखायौ। इत्यादि। गौणत्वेऽप्यनङ्णित्त्वे प्रवर्तेते। सखीमतिक्रान्तोऽतिसखिः। '-लिङ्गविशिष्ट' ( पृ० ७३ ) परिभाषाया अनित्यत्वान्न टच्। हरिवत्। इहानङ्णित्त्वे न भवतः, 'गोस्त्रियोः—' (सू६५७) इति ह्रस्वत्वेन सखिशब्दस्य लाक्षणिकत्वात्। 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणात्' ( पृ ११४ ) २५७। पतिः समास एव १।४।८। पतिशब्दः समास एव घिसंज्ञः स्यात्। पत्या। पत्ये। पत्युः २। पत्यौ। शेषं हरिवत्। समासे तु भूपतिना। भूपतये। कतिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। २५८। बहु-गुण-वतु-डति-सङ्ख्या १।१।२८। एते सङ्ख्यासंज्ञाः स्युः। २५९। डति च १।१।२५। डत्यन्ता सङ्ख्या षट्संज्ञा स्यात्। २६०। प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः १।१।६१। लुक्श्लुलुप्शब्दैः कृतं प्रत्ययादर्शनं क्रमात्तत्तत्संज्ञं स्यात्।

---

गोस्त्रियोरिति ह्रस्वे समासात्स्वादौ लाक्षणिकत्वेन अनङ् सावित्यादेरप्राप्तौ अतिसखिः इति।

बहुगणेति ( ई. ७३ )—बहुश्च, गणश्च, वतुश्च डतिश्चेति समाहारद्वन्द्वः। एतत् संख्यासंज्ञं स्यादित्यर्थः। उदाहरणं यथा—बहुकः, गणकः, यावान्, कति, इत्यादि। बहुगणशब्दाविह त्रित्वादिपरार्धान्तसंख्याव्यापकधर्मविशेषवाचिनौ गृह्येते, न तु वैपुल्यसंघवाचिनौ, संख्यायतेऽनयेन्वर्थसंज्ञाविधानात्। वतुडती प्रत्ययौ संज्ञाविधावपि इह तदन्तग्रहणं, केवलयोः प्रयोगाार्हत्वात्।

---

पतिः—पति शब्द समास में ही घिसंज्ञक होता है अर्थात् केवल पति शब्द की घिसंज्ञा नहीं होती है।

बहुगण— बहु शब्द, गण शब्द तथा वतु-प्रत्ययान्त, डति-प्रत्ययान्त की संख्या-संज्ञा होती है।

नोट—वतु-प्रत्ययान्त से 'यत्तदेभ्यः परिमाणे वतुप्' इस सूत्र से निष्पन्न 'यावत्, तावत्, आदि और डति-प्रत्ययान्त से 'किमः संख्यापरिमाणे डति च' इस सूत्र से निष्पन्न कति शब्द लिये जाते हैं। ( कति शब्द का प्रयोग बहुवचन में ही होता है )।

डति—( षान्त, नान्त शब्द के समान ) उत्पन्न संख्यावाचक शब्द की भी षट्संज्ञा होती है।

प्रत्यय—लुक्, श्लु या लुप् इनमें से किसी भी शब्द से किया गया जो प्रत्यय का अदर्शन ( लोप ), वह लुक्, श्लु, लुप् संज्ञक होता है।

२६१। षड्भ्यो लुक् ७।१।२२। षड्भ्यः परयोर्जश्शसोर्लुक् स्यात्। २६२। प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् १।१।६२। प्रत्यये लुप्तेऽपि तदाश्रितं कार्यं स्यात्। इति 'जसि च' (सू २४१) इति गुणे प्राप्ते। २६३। न लुमताऽङ्गस्य १।१।६३। लुक् श्लु लुप् एते लुमन्तः। लुमता शब्देन लुप्तं तन्निमित्तमङ्गकार्यं न स्यात्। कति। कति। कतिभिः। कतिभ्यः। कतिभ्यः। कतीनाम्। कतिषु। अस्मद्युष्मद्षट्संज्ञकास्त्रिषु सरूपाः। त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। त्रयः। त्रीन्। त्रिभिः। त्रिभ्यः २। २६४। त्रेस्त्रयः ७।१।५३। त्रिशब्दस्य त्रयादेशः स्यादामि। त्रयाणाम्। परमत्रयाणाम्। गौणत्वे तु नेति केचित्। प्रियत्रीणाम्। वस्तुतस्तु प्रियत्रयाणाम्। त्रिषु। द्विशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः।

---

कति (ई. ६१)—का संख्या परिमाणमस्येति विग्रहे डतिः। बहुत्व-विशिष्टवाचकात् डत्यन्तात् कतिशब्दात् जसि शसि च विभक्तौ 'बहुगणवतु-डतिसंख्या' इति संख्यासंज्ञायां 'डति च' इति षट्संज्ञायां 'षड्भ्यो लुक्' इति जश्शसोर्लुकि 'कति' इति। नच जसि विभक्तौ 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' इति परिभाषया प्रत्ययलक्षणेन 'जसि च' इति इकारस्य गुणः कुतो नेति वाच्यम् 'न लुमताङ्गस्य' इति प्रत्ययलक्षणनिषेधात्।

प्रियत्रयाणाम् (ई. ६२)—प्रियत्रिशब्दादामि 'त्रेस्त्रयः' इति 'पदाङ्गा-धिकारे'ति परिभाषया त्रिशब्दान्तस्यापि त्रयादेशे 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटि अनुबन्धलोपे 'नामि' इति दीर्घे 'अट्कुप्वाङ्—' इति णत्वे उक्तं रूपं

---

षड्भ्यो— षट्संज्ञक से पर जस् या शस् का लुक् (अदर्शन) होता है।

प्रत्यय—प्रत्यय का लोप होने पर भी प्रत्ययाश्रित कार्य होता है।

न लुमता—लुक्, श्लु या लुप् शब्द से प्रत्यय का लोप (अदर्शन) होने पर (प्रत्यय लक्षण से) तदाश्रित कार्य नहीं होता है।

त्रेस्त्रयः—'त्रि' शब्द को त्रय आदेश होता है, आम् के परे।

नोट—'प्रियास्त्रयो यस्य' इस विग्रह में 'इतरपदार्थनिष्ठ-विशेष्यता निरूपित-प्रकारताश्रयत्वं गौणत्वम्' अथवा 'स्वान्तसमुदाय-पर्याप्तशक्तिनि-रूपकार्थनिष्ठ-विशेष्यतानिरूपितप्रकारतावच्छेदकताप्रयोजकत्वं गौणत्वम्' इस लक्षण से प्रियत्रिघटक 'त्रि' को गौण होने पर भी 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्य-सम्प्रत्ययः' इस न्याय से 'प्रियत्रयाणाम्' यहां पर निषेध नहीं हुआ क्योंकि इस न्याय की पदकार्य में ही प्रवृत्ति होती है—ऐसा आचार्यों का सिद्धान्त है।

२६५। त्यदादीनामः ७।२।१०२। एषामकारोऽन्तादेशः स्याद्विभक्तौ। ४६ द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः *। द्वौ २। द्वाभ्याम् ३। द्वयोः २। 'द्विपर्यन्तानाम्' किम्? भवान्। भवन्तौ। भवन्तः। संज्ञायामुपसर्जनत्वे च नात्वम्, सर्वाद्यन्तर्गणकार्यत्वात्। द्विर्नाम कश्चित्। द्विः। द्वी। द्वावतिक्रान्तोऽतिद्विः। हरिवत्। प्राधान्ये तु 'परमद्वौ' इत्यादि। औडुलोमिः। औडुलोमी। बहुवचने तु—उडुलोमाः। लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः'* (वा ३००)। बाह्वादीञोऽपवादः। औडुलोमिम्। औडुलोमी। उडुलोमान्। इति इदन्ताः।

'वातप्रमीः' (उ ४४१) इत्युणादिसूत्रेण माङ ईप्रत्ययः। स च कित्,

---

सिद्धम्। नच 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इति न्यायस्य जागरूकत्वेन त्रिशब्दस्यात्र अन्यपदार्थे विशेषणात् गौणत्वेन त्रयादेशः कथमिति वाच्यम्, गौणमुख्यन्यायस्य पदकार्यविषयत्वात्।

द्विपर्यन्तानां—'त्यदादीनामः' इति सूत्रे त्यच्छब्दादारभ्य सर्वेषां शब्दानां ग्रहणे भवच्छब्देऽपि 'त्यादीनामः' इति तकारस्याकारे नलोपादिकार्ये च कृते 'भवा' इति रूपमनिष्टं स्यान्नतु भवानिति, भवच्छब्दस्य त्यच्छब्दात्प्राक् पाठे कृते भवानिति रूपसिद्धेऽपि 'त्यादादीनां मिथः सहोक्तौ' इति वार्तिके भवदादीनां मिथः इति पाठेनोक्तवार्तिकेन स च भवांश्चेति विग्रहे तच्छब्दस्यैव, एकदेशे भवन्ताविति रूपासिद्धिरिति द्विशब्दपर्यन्तमेव त्यदादिग्राह्यमिति।

उडुलोमाः—(ई. ६४, ७०)—उडुलोमस्यापत्यम् 'औडुलोमिः', तस्य बहुवचने तु 'लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः' इति वार्तिकेन 'बह्वादिभ्यश्च' इति सूत्रं प्रबाध्य अकारप्रत्यये 'उडुलोमन् अ' इति स्थिते 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे ञित्वाऽभावात् कित्वाभावाच्च आदिवृद्ध्यभावे आकारान्तात् उडुलोमशब्दाज्जसि पूर्वसवर्णदीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे उक्तं रूपं सिद्धम्।

वातप्रमीः (ई. ६४)—वातं प्रमीमीते इति 'वातप्रमीः'। वातमित्युप-

---

त्यदादी—त्यदादि (त्यद् आदि) शब्दों के स्थान में अकारान्त आदेश होता है, विभक्ति के परे।

द्विप—सर्वादि गणपठित जो त्यदादि हैं, उनमें 'त्यद्' से लेकर 'द्वि' शब्दपर्यन्त ही त्यदादि से भाष्यकार को इष्ट है।

लोम्नो—उडुलोमि मुनि के पुंस्त्व विशिष्ट अनेक अपत्य (सन्तान) अर्थ में 'इञ्' प्रत्यय को बाध कर 'अ' प्रत्यय होता है—ऐसा कहना चाहिए।

वातं प्रमिमीते वातप्रमीः। 'दीर्घाज्जसि च' ( सू २३९ ) वातप्रम्यौ। वातप्रम्यः। हे वातप्रमीः। 'अमि पूर्वः' ( सू १९४ ) वातप्रमीम्। वातप्रम्यौ। वातप्रमीन्। वातप्रम्या। वातप्रमीभ्याम् ३। वातप्रम्ये। वातप्रम्यः २। वातप्रम्योः २। वातप्रम्याम्। दीर्घत्वान्न नुट्। ङौ तु सवर्णदीर्घः, वातप्रमी। वातप्रमीषु। एवं ययीपप्यादयः। यान्त्यनेनेति ययीमार्गः। पाति लोकमिति पपीः सूर्यः। 'यापोः किद् द्वे च' ( ४३९ ) इति ईप्रत्ययः। क्विबन्तवातप्रमीशब्दस्य तु अमि शसि ङौ च विशेषः। वातप्रम्यि। 'एरनेकाचः' ( सू २७२) इति वक्ष्यमाणो यण्। प्रधीवत्। बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी। दीर्घङ्यन्तत्वात् 'हल्ङ्याप्' ( सू २५२ ) इति सुलोपः। २६६। यूस्त्र्याख्यौ नदी १।४।३। ईदूदन्तौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ नदीसंज्ञौ स्तः। ४७ प्रथमलिङ्गग्रहणं च* पूर्वं स्त्र्याख्यस्योपसर्जनत्वेऽपि नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः। २६७। अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः ७।३।१०७। अम्बार्थानां नद्यन्तानां च ह्रस्वः स्यात्संबुद्धौ। हे बहुश्रेयसि। शसि बहुश्रेयसीन्। २६८। आण्नद्याः ७।३।११२। नद्यन्तात्परेषां ङिता-

---

पदे 'माङ् माने' इति धातोः 'वातप्रमीः' इत्युणादिसूत्रेण ईप्रत्यये निपातनात् कित्त्वे च जाते 'आतो लोप इटि च' इत्यालोपे 'उपपदमतिङ्' इति समासे समासात् सुबुत्पत्तौ विभक्तिकार्ये 'वातप्रमीः' इति। अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः।

हे बहुश्रेयसि ( ई. ६६ )—बहुश्रेयसीशब्दात् सम्बोधनविवक्षायां सौ 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' इति नदीसंज्ञायाम् 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इति ह्रस्वे सम्बुद्धिलोपे 'हे बहुश्रेयसि' इति। ह्रस्वविधिसामर्थ्यादत्र गुणो नेति भाष्ये स्पष्टम्।

---

यूस्त्र्याख्यौ—दीर्घ ईकारान्त और दीर्घ ऊकारान्त नित्यस्त्रीलिंग शब्द की नदीसंज्ञा होती है।

प्रथम—जो शब्द पहले नित्य स्त्रीलिंग हो और बाद में समास आदि वृत्ति होने पर नित्य स्त्रीलिंग न भी रहे तो उसकी नदीसंज्ञा होती है-ऐसा कहना चाहिए।

अम्बा—जननीरूप मातृ-अर्थवाचक शब्दों का एवं नदीसंज्ञक शब्दों का अवयव ( अन्त्याच् ) का ह्रस्व होता है—सम्बुद्धि संज्ञक प्रत्यय के परे।

आण्—नद्यन्त शब्द से उत्तर ङकारेत्संज्ञक प्रत्ययों को आट् का आगम होता है।

माडागमः स्यात् । २६९ । आटश्च ६।१।९० । आटोऽचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । बहुश्रेयस्यै । बहुश्रेयस्याः नद्यन्तात्परत्वान्नुट्, बहुश्रेयसीनाम् । २७० । ङेराम्नद्याम्नीभ्यः ७।३।११६ । नद्यन्तादाबन्तान्नीशब्दाच्च ङेराम् स्यात् । इह परत्वादाटा नुट् बाध्यते । बहुश्रेयस्याम् । शेषमीप्रत्ययान्तत्वात् प्रमीवत् । अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः, अतिलक्ष्मीः । शेषं बहुश्रेयसीवत् । कुमारीमिच्छन् कुमारीवाऽऽचरन् वा ब्राह्मणः कुमारी । क्यजन्ताचारक्विबन्ताद्वा कर्तरि क्विप् । 'हल्ङ्याप्-' ( सू २५२ ) इति सुलोपः । २७१ । अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ६।४।७७। श्नुप्रत्ययान्तस्य इवर्णोवर्णान्तधातोः 'भ्रू' इत्यस्य चाङ्गस्येयङुवङौ स्तोऽजादौ प्रत्यये परे । 'ङिच्च' ( सू ४३ ) इत्यन्तादेशः । आन्तरतम्यादेरियङ्, ओरुवङ् । इतीयङि प्राप्ते । २७२ । एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ६।४।८२ । धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य इवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादजादौ प्रत्यये परे । इति यण्, कुमार्यौ ।

---

बहुश्रेयस्याम् ( ई. ७२ )—बहुश्रेयसीशब्दात् सप्तम्येकवचने ङिविभक्तौ 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' इति नदीसंज्ञायां 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' इति ङेरामि 'बहुश्रेयसी आम्' इति स्थिते स्थानिवद्भावेन ङित्वमादाय 'आण्नद्याः' इत्यादि 'आटश्च' इति वृद्धौ यणि उक्तं रूपं सिद्धम् । न च ङेरामि कृते 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटि ततः 'यदागमाः' इति न्यायेन नामोऽप्यामुग्रहणेन ग्रहणात् आट् कुतो नेति वाच्यम्, परत्वादाटा नुटो बाधसम्भवात् । ननु परत्वात् नुटं प्रबाध्य कृतेप्याडागमे नुट् कुतो नेति चेन्न, 'विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेवे'ति न्यायस्य जागरूकत्वात् ।

कुमार्यौ ( ई. ७३, ७४ )—कुमारीमिच्छन्, कुमारीवाचरन् वेति विग्रहे

---

अटश्च—आट् से पर अच् हो तो पूर्व-पर के स्थान में वृद्धिरूप एकादेश होता है ।

ङेराम्—नद्यन्त, आबन्त और 'नी' शब्द से पर जो 'ङि' उसको आम् आदेश होता है ।

अचि—'श्नु' प्रत्ययान्त और इवर्णान्त-उवर्णान्त जो धातु तथा 'भ्रू' रूप जो अंग; उनको यथाक्रम इयङ् और उवङ् आदेश होता है, अजादि प्रत्यय के परे ।

एरने—धात्ववयव संयोग पूर्व में न हो, ऐसा जो इवर्ण, तदन्त जो धातु, तदन्त जो अनेकाच् अंग, उसको यण् होता है, अजादि प्रत्यय के परे ।

कुमार्यः । हे कुमारि । अमि शसि च कुमार्यम्, कुमार्यः । कुमार्यै । कुमार्याः २ । कुमारीणाम् । प्रधीः । प्रध्यौ । प्रध्यः । उन्नयतीत्युन्नीः । धातुना संयोगस्य विशेषणादिह स्यादेव यण्, उन्न्यौ । उन्न्यः । हे उन्नीः । उन्न्यम् । ङेराम्, उन्न्याम् । एवं ग्रामणीः । 'अनेकाचः' किम् ? नीः । नियौ । नियः । अमि शसि च परत्वादियङ्, नियम् । नियः । ङेराम्, नियाम् । 'असंयोगपूर्वस्य' किम् ? सुश्रियौ । यवक्रियौ । ४८ गति-कारकेतर-पूर्वपदस्य यण् नेष्यते* । शुद्धधियौ । परमधियौ । कथं तर्हि 'दुर्धियः' 'वृश्चिकभियः' इत्यादि । उच्यते, 'दुःस्थिता

---

क्यचि क्यजन्तस्य धातुत्वात् सुपो लुकि ततः कर्तरि क्विपि क्विपो लोपे 'अतो लोपः' इत्यलोपे यलोपे 'कुमारी' इति । तस्मात् औविभक्तौ 'कुमारी औ' इति स्थिते 'अचि श्नुधातु' इत्यादिना प्राप्तमियङ् बाधित्वा 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इति यणि 'कुमार्यौ' इति ।

नियाम् ( ई. ७०, ७२ )–'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इति सूत्रे 'अनेकाचः' इत्यस्य प्रत्युदाहरणमेतत् । तत्र हि 'अनेकाचः' इत्यस्याऽभावे नीशब्दात् ङीविभक्तौ नदीत्वाऽभावेऽपि 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' इति सूत्रे नीशब्दस्य पृथग्ग्रहणाद् आमि 'नी आम्' इति स्थिते 'अचिश्नुधात्वि'ति इयङं बाधित्वा यणि 'न्याम्' इति स्यात् ।

शुद्धधियौ ( ई. ५९ )—शुद्धा धीर्यस्येति विग्रहे निष्पन्नात् शुद्धधीशब्दात् औविभक्तौ 'शुद्धधी औ' इति स्थिते 'गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते' इति शुद्धशब्दस्य गतिकारकेतरत्वात् तत्पूर्वकस्य धीशब्दस्येकारस्य 'एरनेकाचः—' इति प्राप्तयणो निषेधे 'अचिश्नुधातु—' इति इयङि 'शुद्धधियौ' इति । ( शुद्धं ब्रह्म तं ध्यायतीति विग्रहे तु कारकपूर्वकत्वात् स्यादेव यण्–'शुद्धध्यौ' इति )

कथं तर्हि ( ई. ६९, ७२ )–दुःस्थिता धीर्येषामिति विग्रहे 'प्रादयो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' इति बहुव्रीहौ पूर्वपदे उत्तरखण्डस्य लोपे च कृते 'दुर्धी' इति । तस्माज्जसि 'अचि श्नुधातु' इति इयङि सस्य रुत्वे विसर्गे

---

गति—( प्रादि की क्रिया के योग में गतिसंज्ञा होती है, उन ) गति एवं कारक से अन्य जहां पूर्व पद में रहें वहाँ इवर्णान्त धातु को यण् नहीं होता है–ऐसा समझना चाहिए ।

नोट—जहाँ केवल इकारान्त धातु रहे या गति या कारक पूर्वक इकारान्त धातु रहे, वहीं । 'एरनेकाच्' सूत्र से यण् होता है ( यही निष्कृष्टार्थ है ) ।

धीर्येषाम्' इति विग्रहे 'दुर्' इत्यस्य धीशब्दं प्रति गतित्वमेव नास्ति। यत्क्रियायुक्ताः प्रादयस्तं प्रत्येव गत्युपसर्गसंज्ञाः। वृश्चिकशब्दस्य बुद्धिकृतमपादानत्वं नेह विवक्षितम्। वृश्चिकसम्बन्धिनी भीर्वृश्चिकभीरित्युत्तरपदलोपो वा। २७३। न भूसुधियोः ६।४।८५। एतयोर्यण् न स्यादचि सुपि। सुधियौ। सुधियः। इत्यादि। सखायमिच्छति सखीयति। ततः क्विप्। अल्लोपस्य स्थानिवत्वाद्यणि प्राप्ते ४९ क्वौ लुप्तं न स्थानिवत्*। एकदेशविकृतस्यानन्यतयाऽनङ्णित्वे, सखा। सखायौ। सखायः। हे सखीः। अमि पूर्वरूपात् परत्वाद्यणि प्राप्ते तल्लोऽपि परत्वात् 'सख्युरसंबुद्धौ' (सू १५२) इति प्रवर्तते

---

'दुर्धियः' इति। नच 'गतिकारके'ति वार्तिकेन यदा गतिकारकेतरपूर्वपदस्यैव यण् पर्युदस्यते तदा प्रकृते दुरित्यस्य ध्याधातुयोगे 'गतिश्च' इति गतित्वाद् 'एरनेकाचः' इति यण् कुतो नेति वाच्यम्। 'उपसर्गाः क्रियायोगे' इति सूत्रे योगग्रहणेन 'यत्क्रियायुक्ताः प्रादयः तं प्रत्येव गत्युपसर्गसंज्ञा' इति नियमात् 'दुःस्थिता धीर्येषाम्' इत्यर्थे दुःशब्दार्थस्य दुष्टत्वस्य स्थाधात्वर्थेऽन्वयेन ध्याधात्वर्थेऽन्वयाभावेन गतित्वाभावात्।

नन्वेवं 'वृश्चिकभियः' इत्यत्र 'भी' इत्यस्य कारकपूर्वकत्वात् 'गतिकारके'ति निषेधाभावेन 'एरनेकाचः' इति यण् कुतो नेति चेन्न, वृश्चिकाद् भीः वृश्चिकाभीः' इति बुद्धिकृतापादनकारकत्वाविवक्षणेनात्र कारकत्वाभावेन 'गतिकारके'ति यण्निषेधात्। 'वृश्चिकभियः' इत्यत्र तु वृश्चिकस्य भीः वृश्चिकभीः अथवा वृश्चिकसम्बन्धिनी भीः वृश्चिकभीः, इति विग्रहे 'शाकपार्थिवादीनामि'त्युत्तरपदलोपिसमासे (षष्ठ्याः कारकत्वाऽभावात्) 'गतिकारके'ति यण् निषेधो बोध्यः।

सखायमिच्छति (ई. ५८)—सखायमिच्छतीति विग्रहे 'सुप आत्मनः—' इति क्यचि 'अकृत्सार्वधातुकयोः—' इति दीर्घे 'सखीयति' इति। तस्मात् सखीयशब्दात् 'सनाद्यन्ताः—' इति धातुसंज्ञकात् क्विपि क्विपः सर्वापहारे 'अतो लोपः' इत्यलोपे, 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'सखी' इति ईदन्तं प्रातिपदिकं सिद्धम्। यलोपे कर्तव्ये अल्लोपस्तु न स्थानिवत् 'न पदान्त—' इति यलोपे स्थानिवत्वनिषेधात्। अचः परस्मिन्—' इति अल्लोपस्य स्थानिवत्वे 'इको यणचि' इति यणादेशोऽपि न 'क्वौ लुप्तं न स्थानिवत्' इति निषेधात्।

---

न भू—अजादि सुप् के परे भू और सुधी को यण् नहीं होता है।

सखायम् । सखायौ । शसि यण्, सख्यः । सह खेन वर्तत इति सखः । तमिच्छतीति सखीः । सुखमिच्छतीति । सुखीः । सुतमिच्छतीति सुतीः । सख्यौ । सुख्यौ । सुत्यौ । 'ख्यत्यात्' ( सू २५५ ) इति दीर्घस्यापि ग्रहणादुकारः, सख्युः । सुख्युः । सुत्युः । लूनमिच्छतीति लूनीः । क्षाममिच्छतीति क्षामीः । प्रस्तीममिच्छतीति प्रस्तीमीः । एषां ङसिङसोर्यण् । 'नत्वमत्वयोरसिद्धत्वात् 'ख्यत्यात्'— ( सू २५५ ) इत्युत्वम्, लून्युः । क्षाम्युः । प्रस्तीम्युः । शुष्कीयतेः क्विप्, शुष्कीः । इयङ्, शुष्कियौ । शुष्कियः । ङसिङसोः शुष्कियः । इत्यादि । इति इदन्ताः ।

शम्भुर्हरिवत् । एवं विष्णुवायुभान्वादयः । २७४ । तृज्वत्क्रोष्टुः ७।१।९५ । क्रोष्टुशब्दस्तृजन्तेन तुल्यं वर्तते असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे । क्रोष्टुशब्दस्य स्थाने क्रोष्टृशब्दः प्रोक्तव्य इत्यर्थः । २७५ । ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः ७।३।११० । ङौ सर्वनामस्थाने च परे ऋदन्ताङ्गस्य गुणः स्यात् । इति प्राप्ते । २७६ । ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च ७।१।९४। ऋदन्तानामुशनसादीनां चानङ् स्यादसम्बुद्धौ सौ परे ।२७७। अप्-तृन्-तृच्-स्वसृ-नप्तृ-नेष्टृ-

---

लून्युः ( ई. ६६, ६९ )—'लूञ् छेदने' इत्यस्माद्धातोः क्तप्रत्यये 'ल्वादिभ्यः' इति नत्वे 'क्यचि च' इति ईत्वे 'लूनी' इति । तस्मात् ङसि 'एरनेकाचः' इति यणि नत्वस्यासिद्धत्वात् 'ख्यत्यात्परस्य' इति उत्वे सकारस्य रुत्वे विसर्गे च 'लून्युः' इति ।

अप्तृन्तृजिति ( ई. ७२ )—अप्तृन्निति सूत्रे 'तुरिष्ठेमेयस्सु' इतिवत् 'तृ' इत्येव सिद्धे तृन्तृचोर्भेदेन उपादानं 'क्वचित् सामान्योक्तावपि विशेष एव गृह्यते' इति ज्ञापनार्थम् । अत एव 'न कोपधायाः' इत्यत्र सामान्योक्तावपि वृतद्धि-

---

तृज्वत्—असम्बुद्धि सर्वनामस्थान के परे क्रोष्टु शब्द को तृजन्तवत् रूप हो, अर्थात् क्रोष्टु शब्द के स्थान में क्रोष्टृ आदेश हो ।

ऋतो—ऋदन्त अङ्ग को गुण हो, ङि और सर्वनामस्थान के परे ।

ऋदु—ऋदन्त तथा उशनस्, पुरुदंसस् और अनेहस् शब्दों को अनङ् आदेश होता है, सम्बुद्धिभिन्न 'सु' के परे ।

अप्तृन्—अप् शब्द तथा तृन्-तृच् प्रत्ययान्त और स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ तथा प्रशास्तृ शब्दों की उपधा को दीर्घ होता है, असम्बुद्धि सर्वनामस्थान के परे ।

त्वष्टृ-क्षत्तृ-होतृ-पोतृ-प्रशास्तॄणाम् ६।४।११। अबादीनामुपधाया दीर्घः स्याद-सम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे। नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्—उणादि-निष्पन्नानां तृन्तृजन्तानां चेद्भवति तर्हि नप्त्रादीनामेव। तेन पितृभ्रातृप्रभृतीनां न। उद्गातृशब्दस्य तु भवत्येव, 'समर्थ'–( सू ६४८ ) सूत्रे 'उद्गातारः' इति भाष्यप्रयोगात्। क्रोष्टा। क्रोष्टारौ। क्रोष्टारः। क्रोष्टारम्। क्रोष्टारौ। क्रोष्टून्। २७८। विभाषा तृतीयादिष्वचि ७।१।९७। अजादिषु तृतीयादिषु क्रोष्टुर्वा तृज्वत्। क्रोष्ट्रा। क्रोष्ट्रे। २७९। ऋत उत् ६।१।१११। ऋदन्तान्ङसिङसोरति परे उकार एकादेशः स्यात्। रपरत्वम्। २८०। रात् सस्य ८।२।२४। रेफात् संयोगान्तस्य सस्यैव लोपः, नान्यस्य। रेफस्य विसर्गः, क्रोष्टुः। आमि

---

तयोरेव को गृह्यते यद्वा 'अप्तृ' इत्येव वक्तव्ये तृन्तृजिति भेदेनोपादानम् 'अवर्णस्तृ—' व्यावृत्तये इत्यवसेयम्।

नप्त्रादिग्रहणं ( ई. ६०, ७०, ७३ )—अयम्भावः अप्तृन्नि'ति सूत्रे 'उणादयो व्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानी'ति पक्षे नप्त्रादीनां सप्तानां तृन्नन्तत्वात्तृ-जन्तत्वाच्च तृन्-तृच्ग्रहणेनैव दीर्घे सिद्धे नप्त्रादिग्रहणं, 'सिद्धे सत्यारभ्यमाणो विधिर्नियमार्थो भवती'ति सिद्धान्तात्, नियमयति-'तृन्तृजन्तानां चेत्तर्हि नप्त्रा-दीनामेवे'ति नियमेन च स्वेतरस्वजातीयव्यावृत्तिः क्रियते, इति नप्त्रादीत-रोणादिनिष्पन्नतृन्नन्ततृजन्तशब्दानां पितृ-भ्रातृ-प्रभृतीनां न दीर्घः इति।

क्रोष्टा ( ई. ६८ )—क्रोष्टुशब्दात् सौ अनुबन्धलोपे 'तृज्वत्क्रोष्टुः' इति तृज्वद्भावे कृते 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इति गुणे प्राप्ते तम्प्रबाध्य 'ऋदुशन-स्पुरुदंसोऽनेहसां च' इत्यनङि अनुबन्धलोपे 'अप्तृन्तृच्—' इति दीर्घे 'हल्-ङ्याब्भ्यः' इति सुलोपे 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति न लोपे 'क्रोष्टा' इति।

क्रोष्टुः ( ई. ६७, ७२ )—क्रोष्टुशब्दात् ङसि अनुबन्धलोपे 'विभाषा

---

विभाषा—क्रोष्टु शब्द को तृज्वद्भाव ( क्रोष्टृ आदेश ) होता है, अजादि तृतीयादि (टा, ङे, ङसि, ङस्, ओस्, आम्, ङि) विभक्ति के परे, विकल्प से।

ऋत्—ऋकारान्त शब्द से पर ङसि या ङस् सम्बन्धी अकार के परे ऋकार एवं अकार को उकार आदेश होता है ( ऋकार-स्थानिक 'अण्' रपर होता है )।

रात्—रेफ से पर यदि 'संयोगान्त' का लोप हो तो सकार का ही लोप हो–अन्य का नहीं।

परत्वात्तृज्वद्भावे प्राप्ते ५० नुमचिर-तृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन*
क्रोष्टूनाम् । क्रोष्टरि । क्रोष्टोः । पक्षे हलादौ च शम्भुवत् । इत्युदन्ताः ।

हूहूः । हूह्वौ । हूह्वः । हूहूम् । हूह्वौ । हूहून् । इत्यादि । अतिचमूशब्दे तु नदीकार्यं विशेषः । हे अतिचमु । अतिचम्वै अतिचम्वाः २ । अतिचमूनाम् । अतिचम्वाम् । खलपूः । २८१ । ओः सुपि ६।४।८३। धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य उवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादजादौ सुपि । 'गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते' ( वा ४८ ) खलप्वौ । खलप्वः । इत्यादि

---

तृतीयादिष्वचि' इति तृज्वद्भावे 'ऋत उत्' इति उत्वे रपरत्वे 'रात्सस्य' इति सलोपे 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गे 'क्रोष्टुः' इति । तृज्वद्भावाभावे 'शेषो ध्यसखि' इति घिसंज्ञायां 'घेर्ङिति' इति गुणे 'ङसिङसोश्च' इति पूर्वरूपे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'क्रोष्टोः' इति भवति ।

नुमचिरेति ( ई. ६७ )—'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमः पूर्वम्, 'अचि र ऋतः' इति रेफात् पूर्वं, 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' इति तृज्वद्भावाच्च पूर्वविप्रतिषेधेन नुमेवेति वार्तिकार्थः । वारीणाम्, क्रोष्टूनाम्, इति क्रमेणोदाहरणानि ।

क्रोष्टूनाम् ( ई. ६९,७१, ७३ )—क्रोष्टुशब्दात् आमि 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इति वार्तिकेन परत्वात् प्राप्तं तृजत्वं बाधित्वा नुटि 'नामि' इति दीर्घे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

---

नुम्—नुम्, अजादि विभक्ति परक ऋकार को रेफादेश एवं तृज्वद्भाव, इनको नुट् पूर्वविप्रतिषेध से बाध करता है । ( इस वार्तिक को 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' का बाधक समझना चाहिए ) ।

नोट—'क्रोष्टूनाम्' में नुट् होने पर अच्परकत्व का नाश हो जाता है, अतः तृज्वद्भाव की पुनः प्राप्ति नहीं होती । एवं 'तिसृणाम्' और 'वारीणाम्' में भी नुट् होने पर अच्परकत्व का नाश हो जाता है, अतः 'तिसृणाम्' में 'अचि र ऋतः' से रभाव और 'वारीणाम्' में 'इकोऽचि विभक्तौ' से नुम् नहीं होते हैं ) ।

ओः सुपि—धात्ववय संयोग पूर्व में नहीं है, ऐसा जो उवर्ण, तदन्त जो धातु, तदन्त जो अनेकाच् अंग, उसको यण् हो—अजादि विभक्ति के परे ।

गति—गति एवं कारकसंज्ञक से अन्य पूर्वपद रहने पर यण् नहीं होता है ।

एवं सुल्वादयः। 'अनेकाचः' किम्? लूः। लुवौ। लुवः। 'धात्ववयव-'इति किम्? उल्लूः। उल्लवौ। उल्लवः। 'असंयोगपूर्वस्य' किम्? कटप्रुवौ। कटप्रुवः। 'गति' इत्यादि किम्? परमलुवौ। 'सुपि' किम्? लुलुवतुः। स्वभूः। 'न भूसुधियोः' (सू. २७३) स्वभुवौ। स्वभुवः। २८२। वर्षाभ्वश्च ६।४।८४। अस्योवर्णस्य यण् स्यादचि सुपि। वर्षाभ्वौ। वर्षाभ्वः। दृम्भतीति दृम्भूः। 'अन्दू-दृम्भू-जम्बूक-फेलू-कर्कन्धू-दिधिषूः' (उ ९३) इत्युणादिसूत्रेण व्युत्पादितः। दृम्भ्वौ। दृम्भ्वः। दृम्भूम्। दृम्भ्वौ। दृम्भून्। शेषं हूहूवत्। 'दृन्' इति नान्ते हिंसार्थेऽव्यये भुवः क्विप्। दृन्भूः। ५१ दृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः*। दृन्भ्वौ। दृन्भ्वः। इत्यादि खलपूवत्। करभ्वौ। करभ्वः। दीर्घपाठे तु 'करः' एव 'कारः' स्वार्थिकः प्रज्ञाद्यण्। कारभ्वौ। कारभ्वः। पुनर्भूः यौगिकः पुंसि। पुनर्भ्वौ। इत्यादि। 'दृन्भू' 'काराभू' शब्दौ स्वयम्भूवत्। इत्यूदन्ताः।

धाता। हे धातः। धातारौ। धातारः। ५२ ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्*। धातॄणाम्। इत्यादि। एवं नप्त्रादयः। उद्गातारौ। पिता। व्युत्पत्तिपक्षे नप्त्रादिग्रहणस्य नियमार्थत्वान्न दीर्घः, पितरौ। पितरः। पितरम्। पितरौ। शेषं धातृवत्। एवं जामातृभ्रात्रादयः। ना। नरौ। नरः। हे नः।

---

स्वभुवौ (ई. ७९)—स्वस्मात् भवतीति विग्रहे स्वभूशब्दात् क्विपि सर्वापहारे 'स्वभू' इति, तस्मात् औ 'स्वभू औ' इति स्थिते कारकपूर्वकत्वात् 'ओः सुपि' इति यणि प्राप्ते 'न भूसुधियोः' इति निषेधे उवङि उक्तं रूपं सिद्धम्।

पितरौ (ई. ६०, ७२)—पितृशब्दादौ विभक्तौ 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इति गुणे रपरत्वे च कृते 'पितरौ' इति। अत्र व्युत्पत्तिपक्षे नप्त्रादिग्रहणस्य नियमार्थत्वात् 'अप्तृन्नि'ति दीर्घो न। अव्युत्पत्तिपक्षे तु—तृन्तृजादिष्वनन्तर्भावात् दीर्घशङ्कैव नोदेतीति।

---

वर्षा—वर्षाभू शब्द को यण् होता है, अजादि सुप् विभक्ति के परे।

दृन्—दृन्, कर तथा पुनर् पूर्वक 'भू' को यण् होता है, अजादि सुप् विभक्ति के परे—ऐसा कहना चाहिए।

ऋवर्णा—ऋवर्ण से पर नकार को णत्व होता है—ऐसा कहना चाहिए।

२८३। नृ च ६।४।६। 'नृ' इत्येतस्य नामि वा दीर्घः स्यात्। नृणाम्—नॄणाम्। इत्यृदन्ताः।

'कॄ' 'तॄ' अनयोरनुकरणे 'प्रकृतिवदनुकरणम्–' (प ३७) इति वैकल्पिकातिदेशादित्वे रपरत्वम्, कीः। किरौ। किरः। तीः। तिरौ। तिरः। इत्यादि गीर्वत्। इत्त्वाभावपक्षे तु 'ऋदुशन–' (सू० २७६) इति 'ऋतो ङि–' (सू० २७५) इति च तपरकरणादनङ्गुणौ न। कॄः। क्रौ। क्रः। कॄम्। क्रौ। कॄन्। क्रा। क्रे। इत्यादि। इत्यॄदन्ताः।

'गम्ऌ' 'शक्ऌ' अनयोरनुकरणे अनङ्, गमा। शका। गुणविषये तु लपरत्वम्, गमलौ। गमलः। गमलम्। गमलौ। गमॄन्। गम्ला। गम्ले। ङसिङसोस्तु 'ऋत उत्' (सू २७९) इत्युत्वे लपरत्वे 'संयोगान्तस्य लोपः' (सू ५४)। गमुल्। शकुल्। इत्यादि। इति ऌदन्ताः।

सेः। सयौ। सयः। स्मृतेः स्मृतयौ। स्मृतयः। इत्येदन्ताः।

२८४। गोतो णित् ७।१।९०। गोशब्दात्परं सर्वनामस्थानं णिद्वत् स्यात्। गौः। गावौ। गावः। २८५। औतोऽम्शसोः ६।१।९३। 'आ ओतः' इति

---

नृणाम् (ई. ७४)—नृशब्दादामि 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटि अनुबन्धलोपे 'नृ नाम्' इति स्थिते 'नामि' इति सूत्रं प्रबाध्य 'नृ च' इति विभाषया दीर्घे 'ऋवर्णान्नस्ये'ति णत्वे 'नॄणाम्' इति। अत्र 'नामी'ति दीर्घस्तु न 'सकृद्गतौ यद्बाधितं तद्बाधितमेवे'ति न्यायस्य जागरूकत्वात्।

कीः (ई. ७१)—'कॄ विक्षेपे' इति धातुः। तस्यानुकरणे 'अनुकरणं प्रकृतिवद्भवति' इति पक्षे 'कॄ' इत्यस्यार्थवत्त्वेन प्रातिपदिकात् सौ ॠकारस्य इत्वे रपरत्वे 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' इति दीर्घे सोर्हल्ङ्यादिलोपे रेफस्य विसर्गे उक्तं रूपं सिद्धम्। (इना सह वर्तत इति'सेः')।

गौः (ई. ७५)—गोशब्दात् सौ 'गोतो णित्' इति ओकारात्परस्य सर्वनामस्थानस्य 'सु' इत्यस्य णिद्वद्भावे 'अचोऽञ्णिति' इति वृद्धौ सस्य रुत्वे विसर्गे 'गौः' इति सिद्धम्। (अयं गौः, इत्यस्य अयं वृषभः इत्यर्थः)।

---

नृ च—'नृ' के ऋकार का दीर्घ होता है नाम् के परे—विकल्प से।

गोतो—'गो' शब्द से पर जो सर्वनामस्थान वह णिद्वत् होता है।

औतो—ओकार से पर अम् तथा शस् सम्बन्धी अच् रहे तो पूर्व-पर के स्थान में आकार एक आदेश होता है।

च्छेदः। ओकारादम्शसोरचि परे आकार एकादेशः स्यात्। शसा साहचर्यात् सुबेव अम् गृह्यते। नेह—अचिनवम्। असुनवम्। गाम्। गावौ। गाः। गवा। गवे। गोः। इत्यादि। ५३ ओतो णिदिति वाच्यं, विहितविशेषणं च ※। तेन—सुद्यौः। सुद्यावौ। सुद्यावः। 'ओकारान्ताद्विहितं सर्वनामस्थानम्' इति व्याख्यानान्नेह—हे भानो। हे भानवः। उः शम्भुः स्मृतो येन स स्मृतोः। स्मृतावौ। स्मृतावः। स्मृताम्। स्मृतावौ। स्मृताः। इत्यादि। इत्योदन्ताः।

२८६। रायो हलि ७।२।८५। रैशब्दस्य आकारोऽन्तादेशः स्याद्धलि विभक्तौ। राः। अच्यायादेशः, रायौ। रायः। रायम्। रायौ। रायः। राया। राभ्याम्। इत्यादि। इत्यैदन्ताः।

---

गाम् (ई. ६८)—गोशब्दात् अमि 'गो अम्' इति स्थिते 'औतोऽम्शसोः' इत्यनेन ओकाराकारयोराकारादेशे उक्तं रूपं सिद्धम्। न चेह आरादेशो न स्यात्, परत्वात् णिद्वद्भावप्रवृत्तौ वृद्धिप्रसङ्गादिति वाच्यम्? निरवकाशतया आत्त्वविधेः णिद्वद्भावबाधकत्वात्। नहि वृद्धिविषयादन्यत्र आत्त्वविधेः प्रसक्तिरस्तीति भावः।

ओकारान्तादिति—अयम्भावः "यदि सम्बुद्धिविषये ओकारस्यौत्वं त्यात्तर्हि सम्बुद्धिविषये सर्वत्र ओकाराभावेन 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' इति सूत्रमेव व्यर्थं स्यात्। तदेव व्यर्थं सत् सम्बुद्धौ ओकारस्यौत्वन्न भवतीति ज्ञापयति, तेन हे भानो इत्यत्र दोषाऽभावेऽपि जस्विभक्तौ गुणे कृते, भानो अस् इति स्थिते ओतः परत्वाण्णिद्वत्त्वे वृद्धौ आवादेशे भानावः इति स्यादित्यभिप्रेत्याह— हे भानव इति।

राः (ई. ७६)—रैशब्दात् सौ विभक्तौ 'रायो हलि' इति रैशब्दस्य ऐकारस्य आकारादेशे सस्य रुत्वे विसर्गे 'राः' इति।

—:o:—

---

ओतो—ओकारान्त से विहित सर्वनामस्थान प्रत्यय णिद्वत् होता है—ऐसा कहना चाहिए।

रायो—'रै' शब्द को आकारान्त आदेश होता है, हलादि विभक्ति के परे।

इस प्रकार 'इन्दुमती' हिन्दी टीका में अजन्तपुँल्लिङ्ग समाप्त।

—:o:—

ग्लौः । ग्लावौ । ग्लावः । ग्लावम् । ग्लावौ । ग्लावः । इत्यादि । 'औतोऽम्शसोः' ( सू. २८५ ) इतीह न प्रवर्तते 'ऐऔच्' (म. सू ४) इति सूत्रेण ओदौतोः सावर्ण्याभावज्ञापनात् । इत्यौदन्ताः ।

इत्यजन्तपुंल्लिङ्गप्रकरणम् ।

—:※:—

# अथ अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्

रमा । २८७ । औङ आपः ७।१।१८। आबन्तादङ्गात् परस्यौङः शी स्यात् । औङ् इत्याकारविभक्तेः संज्ञा । रमे । रमाः । २८८ । सम्बुद्धौ च ७।३।१०६। आप एकारः स्यात् सम्बुद्धौ । एङ्ह्रस्वात्—' ( सू १९३ ) इति सम्बुद्धिलोपः । हे रमे । हे रमे । हे रमाः । रमाम् । रमे । रमाः, स्त्रीत्वान्नत्वाभावः । २८९ । आङि चापः ७।३।१०५। आङि ओसि च परे आबन्तस्याङ्गस्यैकारः स्यात् । रमया । रमाभ्याम् । रमाभिः । २९० । याडापः ७।३।११३ । आपः परस्य ङिद्वचनस्य याडागमः स्यात् । 'वृद्धिरेचि' (सू७७)। रमायै। सवर्णदीर्घः, रमायाः २ । रमयोः । रमाणाम् । रमायाम् । रमयोः । रमासु । एवं दुर्गादयः । २९१ । सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च ७।३।११४।

---

( रै + ईशः = रायीशः, 'रयीश' इति भाषायाम् ) ।

इति 'इन्दुमती' टीकायाम् अजन्तपुंल्लिगप्रकरणम् ।

रमायाम् ( ई. ६७ )—रमाशब्दात् ङीविभक्तौ 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' इत्यामदेशे 'याडापः' इत्याडागमे सवर्णदीर्घे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

---

औङ—आबन्त अङ्ग से पर औङ् को शी आदेश होता है ।

नोट—इस सूत्र में 'आप्' से टाप्, चाप् दोनों का ग्रहण है तथा 'औ' की औङ् संज्ञा है ।

सम्बु—आबन्त अङ्ग को एकार आदेश होता है, सम्बुद्धि के परे ।

आङि—आङ् एवं ओस् के परे आबन्त अङ्ग को एकार आदेश होता है ।

याडापः—आबन्त अङ्ग से पर ङित् विभक्ति को याट् का आगम होता है ।

सर्व—आबन्त सर्वनाम से पर ङकारेत्संज्ञक प्रत्ययों को याट् का आगम होता है और आप् के आकार का ह्रस्व होता है ।

आबन्तात् सर्वनाम्नः परस्य ङितः स्याट् स्यादापश्च ह्रस्वः । याटोऽपवादः । सर्वस्यै । सर्वस्याः २ । एकादेशस्य पूर्वान्तत्वेन ग्रहणात् 'आमि सर्वनाम्नः—' (सू २१७) इति सुट्, सर्वासाम् । सर्वस्याम् । सर्वयोः । सर्वासु । एवं विश्वादय आबन्ताः । २९२ । **विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ** १।१।२८ । अत्र सर्वनामता वा स्यात् । उत्तरपूर्वस्यै-उत्तरपूर्वायै । 'दिङ्नामान्यन्तराले' ( सू ८४६ ) इति प्रतिपदोक्तस्य दिक्समासस्य ग्रहणान्नेह – योत्तरा सा पूर्वा यस्या उन्मुग्धायास्तस्यै उत्तरपूर्वायै । बहुव्रीहिग्रहणं स्पष्टार्थम् । अन्तरस्यै शालायै । बाह्यायै इत्यर्थः ।–'अपुरि–' ( वा ४२ ) इत्युक्तेर्नेह–अन्तरायै नगर्यै । २९३ । **विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्याम्** ७।३।११५ । आभ्यां ङितः स्याट् वा स्यादापश्च

---

सर्वासाम् ( ई. ७४ )—सर्वाशब्दात् आमि 'सर्वा आम्' इति स्थिते 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इति सुटि 'सर्वासाम्' इति । नचात्र आमः अवर्णान्तसर्वनामाविहितत्वाभावे कथं सुडिति वाच्यम्, सवर्णदीर्घैकादेशस्य पूर्वान्तत्वेन ग्रहणात् । किंच परादिवद्भावेन आबन्तत्वमादाय तस्य लिङ्गविशिष्टपरिभाषया नामत्वमिति न दोषः ।

उत्तरपूर्वस्यै ( ई. ७५ )—उत्तरस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालमिति 'विग्रहे 'दिङ्नामान्यन्तराले' इति समासनिष्पन्नात् उत्तरपूर्वाशब्दात् ङेविभक्तौ 'विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ' इति विभाषया सर्वनामसंज्ञायां 'सर्वनाम्नः स्याड्—' इति स्याडागमे ह्रस्वे च कृते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'उत्तरपूर्वस्यै' इति । पक्षे सर्वनामसंज्ञाऽभावे 'याडापः' इति याटि वृद्धौ 'उत्तरपूर्वायै' इति ।

उत्तरपूर्वायै ( ई. ६८ )—'विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ' इति लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया 'दिङ्नामान्यन्तराले' इति दिक्छब्दमुच्चार्य निष्पन्नप्रतिपदोक्तदिक्समास एव सर्वनामसंज्ञाविधानात् 'योत्तरा सा पूर्वा यस्याः उन्मुग्धायाः' इति विग्रहे 'अनेकमन्यपदार्थे' इति बहुव्रीहिसमासनिष्पन्न 'उत्तरपूर्वाशब्दात्' ङे विभक्तौ 'याडापः' इति याटि 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'उत्तरपूर्वायै' इति ।

---

विभाषा—बहुव्रीहि समास में दिग्वाचक शब्दों की विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है ।

विभाषा द्वि—द्वितीया तथा तृतीया से उत्तरवर्ती ङित् प्रत्ययों को विकल्प से स्याट् का आगम होता है ।

ह्रस्वः। इदं सूत्रं त्यक्तुं शक्यम् तीयस्य, ङित्सूपसङ्ख्यानात्। द्वितीयस्यै–द्वितीयायै। द्वितीयस्याः—द्वितीयायाः २। द्वितीयस्याम्–द्वितीयायाम्। शेषं रमावत्। एवं तृतीया। 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' (सू २६७) हे अम्ब। हे अक्क। हे अल्ल। ५४ असंयुक्ता ये डलकास्तद्वतां ह्रस्वो न०* हे अम्बाडे। हे अम्बाले। हे अम्बिके। जरा। जरसौ। शीभावात् परत्वाज्जरस्। आमि नुटः परत्वात् जरस्, जरसाम्। इत्यादि। पक्षे हलादौ च रमावत्। इह पूर्वविप्रतिषेधेन शीभावं कृत्वा सन्निपातपरिभाषाया अनित्यतां चाश्रित्य 'जरसी' इति केचिदाहुः। तन्निर्मूलम्। यद्यपि जरसादेशस्य स्थानिवद्भावेनाबन्ततामा-

---

हे अम्बिके (ई. ७३)—अत्र 'सम्बुद्धौ च' इति आकारस्य एकारे कृते 'एङ्ह्रस्वादि'ति सुलोपो भवति। 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वन्तु न भवति, 'असंयुक्ता ये डलकास्तद्वतां न' इति वार्तिकेन निषेधात्।

जरसौ (ई. ७७)—जराशब्दात् औविभक्तौ शीभावात् परत्वाज्जरसादेशे 'जरसौ' इति। अत्र जरसादेशस्य स्थानिवत्त्वेन आबन्तत्वमादाय श्यादेशस्तु न, आ आबिति प्रश्लिष्य आकाररूपस्यैवापः सर्वत्र ग्रहणेन अल्विधत्वात् स्थानिवत्त्वाऽप्राप्तेः।

जरसाम् (ई. ७४, ७८)—जराशब्दादामि 'जरा आम्' इति स्थिते 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति प्राप्तं नुटं बाधित्वा 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इति परत्वाज्जरसादेशे उक्तं रूपं सिद्धम्। न च परत्वाज्जरसादेशेऽपि तस्य स्थानिवत्त्वेन आबन्ततया 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुट् स्यादिति वाच्यम्, 'अनल्विधौ' इत्यनेन स्थानिवद्भावनिषेधात्। नन्वाप्त्वस्याल्मात्रवृत्तित्वाऽभावात् कथं स्थानिवद्भावनिषेध इति चेन्न, 'ह्रस्वनद्यापः' इत्यत्र आप्पदे आकारात्पूर्वं सवर्णदीर्घेणाकारं प्रश्लिष्य—आकाररूपो य आप् तदन्तादङ्गादित्यर्थस्वीकारेण आप्त्वे 'अनल्विधौ' इत्यस्याऽप्रवृत्तावपि आप्त्वस्य आमात्रवृत्तिधर्मत्वेन 'अनल्विधा' विति निषेधात्।

यद्यपि जरसादेशस्येति। अयं भावः—जरसावित्यादौ जरसादेशस्य स्थानिद्भावेनाबन्तत्वमाश्रित्य 'औङ आपः' 'आङि चापः' 'याडापः' 'ह्रस्व-

---

असंयुक्ता—असंयुक्त डकार, लकार, ककार घटित अम्बार्थक शब्दों का सम्बुद्धि में ह्रस्व का प्रतिषेध समझना चाहिए।

श्रित्य 'औङ आपः' ( सू २८७ ) 'आङि चापः' (सू २८९,) 'याडापः' (सू२९०) 'ह्रस्वनद्यापः—' ( सू २०८ ) 'ङेराम्—' ( सू २७० ) इति पञ्चापि विधयः प्राप्ताः। एवं नस्निश्पृत्सु। तथाप्यनल्विधावित्युक्तेर्न भवन्ति, 'आ आप्' इति प्रश्लिष्याऽऽकाररूपस्यैवापः सर्वत्र ग्रहणात्। एवं 'हल्यादि—' ( सू २५२ ) सूत्रेऽपि 'आ आप्' 'ङी ई' इति प्रश्लेषात् 'अतिखट्वः' 'निष्कौशाम्बिः' इत्यादिसिद्धे दीर्घग्रहणं प्रत्याख्येयम्। न चैवमपि 'अतिखट्वाय' इत्यत्र स्वाश्रयमाकारत्वं स्थानिवद्भावेनाप्त्वं चाश्रित्य याट् स्यादिति वाच्यम्, आबन्तं यदङ्गं ततः परस्य याड्विधानात्, उपसर्जनस्त्रीप्रत्यये तदादिनियमात्। 'पद्दन्—' ( सू २२८ ) इति नासिकाया नस्। नसः। नसा। नोभ्याम्। इत्यादि। पक्षे सुटि च रमावत्। निशाया निश्। निशः। निशा।

२९४। व्रश्च-भ्रस्ज-सृज-मृज-यज-राज-भ्राजच्छशां षः ८।२।३६।

---

न्द्यापः' 'ङेराम्' इति पञ्चापि कार्याणि पाप्नुवन्ति, परञ्च 'अनल्विधौ' इति निषेधेन स्थानिवद्भावाभावेनाबन्तत्वाभावान्न भवन्ति। 'नचाबन्तत्वधर्मस्याल्मात्रवृत्तित्वाभावेन 'अनल्विधौ' इति निषेधो न स्यादिति वाच्यम्। 'औङ आपः' इत्यादिसूत्रे आकारस्य प्रश्लेषेण आकाररूपो य आप् तदन्तात्परस्य औङः शी स्यादित्याद्यर्थात्। तथाच—आकाररूपत्वधर्मः स्थानिवद्भावेन नह्यायास्यतीति पञ्चापि कार्याणि न भवन्ति, इत्थञ्च 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सूत्रे ङी ई आ आप् इति प्रश्लेषेण निष्कौशाम्बिरतिखट्व इत्यादि आकाररूपत्वधर्मस्यानयनं न स्यादिति सुलोपस्य प्रसङ्ग एव नास्तीति तदर्थं सूत्रे दीर्घग्रहणं कर्त्तव्यमिति।

नचाकाररूपो य आप् तदन्तमित्याद्यर्थेऽपि अतिखट्वायेत्यत्र श्रूयमाणाऽकारः स्थानिवद्भावेनात्वञ्चाश्रित्य याट् स्यादिति वाच्यम्। आबन्ततदाद्यभिन्नं यदङ्गं ततः परस्य याट् स्यादित्यर्थात्। एवञ्चात्र यत् खट्वा इति आबन्ततदादि न च तदङ्गमस्ति, यच्चाङ्गं वर्तते अतिखट्वेति न च तत् आबन्ततदादीति याडप्रवृत्तिः।

अतिखट्वाय ( ई. ६९ )—ननु याडाप इति सूत्रे आकारप्रश्लेषेऽपि अत्र दीर्घोत्तरमाकाररूपत्वस्य विद्यमानत्वेन स्थानिवत्वेनाप्त्वमाश्रित्य याट् कुतो नेति चेन्न, स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जनेनेति बलात् आबन्तं यत्तदादि तद्रूपादङ्गात् परस्य याडित्यर्थेनादोषात्।

---

व्रश्च— व्रश्च, भ्रस्ज, सृज, मृज, यज, राज, भ्राज एवं छकारान्त और शकारान्त धातुओं को झल् के परे अथवा पदान्त में षकारादेश होता है।

व्रश्चादीनां सप्तानां छशान्तयोश्च षकारोऽन्तादेशः स्याज्झलि पदान्ते च। षस्य जश्त्वेन डकारः। निड्भ्याम्। निडभिः। सुपि 'डः सि' (सू १३१) इति पक्षे धुट्। चर्त्वम्। तस्यासिद्धत्वात् 'चयो द्वितीयाः–' (वा ३०) इति टतयोष्ठथौ न। 'न पदान्ताट्टोः–' (सू ११४) इति ष्टुत्वं न। निट्त्सु-निट्सु। २९५। षढोः कः सि ८।२।४१। षस्य ढस्य च कः स्यात् सकारे परे। इति तु न भवति, जश्त्वं प्रत्यसिद्धत्वात्। केचित्तु व्रश्चादिसूत्रे 'दादेर्धातोः–' (सू ३२५) इति सूत्रात् 'धातोः' इत्यनुवर्तयन्ति। तन्मते जश्त्वेन जकारे निज्भ्याम्। निज्भिः। जश्त्वम्। श्चुत्वम्। चर्त्वम्, निच्शु। छत्वम्, निच्छु।

---

निटत्सु (ई. ६९, ७१)–निशाशब्दस्य सप्तमीबहुवचने 'पद्दन्न–' इति 'नश्' आदेशे 'निश् सु' इति स्थिते 'व्रश्चे'ति शस्य षत्वे तस्य जश्त्वेन डकारे 'डः सि धुट्' इति धुटि डस्य धस्य च यथासंख्येन चर्त्वे उक्तं रूपं सिद्धम्। धुडभावपक्षे 'निट्सु' इति। ननु 'निट् त् सु' इति स्थिते तकारस्य ष्टुत्वं कुतो नेति चेन्न, 'स्वादिष्वि'ति पदत्वेन 'न पदान्ताट्टोरनाम्' इति निषेधात्। नच 'चयोः द्वितीया' इत्यनेन धुट्पक्षे तस्य थः' कुतो नेति वाच्यम्, 'नादिन्याक्रोशे' इति सूत्रभाष्ये 'चयो द्वितीया' इत्यस्य पाठदर्शनेन तत्कर्तव्ये चर्त्वस्य परत्वेन असिद्धत्वात्। नच जश्त्वात् प्राक् 'षढोः कः सि' इति षकारस्य ककारः शङ्क्यः, जश्त्वं प्रत्यसिद्धत्वात्।

निज्भ्याम् (ई. ७८)—केचित्तु 'एकाचो वशः' इत्युत्तरसूत्रे धातोरित्यस्यानुवृत्त्या मध्ये व्रश्चादिसूत्रेपि 'दादेर्धातोर्घः' इति सूत्राद्धातोरित्यनुवर्तयन्ति तन्मते निशाशब्दस्य भ्यामि 'पद्दन्न' इति सूत्रेण निशादेशे 'नश्भ्याम्' इति स्थिते निशित्यस्य धातुत्वाऽभावात् षत्वाऽभावे 'झलाञ्जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन शकारस्य स्थानसाम्याज्जकारे उक्तं रूपं सिद्धम्। कुत्वं तु न, जश्त्वस्याऽसिद्धत्वात्।

निच्शु (ई. ७१, ७५)–मतान्तरे इदम्। सिद्धान्तिनस्तु—'निट्त्सु—' 'निट्सु' इति वदन्ति। वस्तुतस्तु-तन्मन्दम्। 'एकाचो वशो भषझषन्तस्य स्ध्वोः' इत्युत्तरसूत्रे 'धातोः' इत्यस्यानुवृत्त्या तन्मध्यपतित 'व्रश्चा'दि सूत्रेऽपि तदनुवृत्तेरौचित्यात्। एवञ्च 'निश् सु' इति स्थिते शान्तस्य धातुत्वाभावेन 'व्रश्च-भ्रस्ज–सृज–मृज–यज–राज–भ्राज–च्छशां षः' इत्यस्याऽप्रवृत्त्या 'झलां जशोन्ते'

---

षढोः—सकार के परे षकार एवं ढकार को ककार हो जाता है।

'चोः कुः' ( सू ३७८ ) इति कुत्वं तु न भवति, जश्त्वस्यासिद्धत्वात् । ५५ मांस-पृतना-सानूनां मांस्-पृत्-स्नवो वाच्याः शसादौ वा ॐ । पृतः । पृता । पृद्भ्याम् । पक्षे सुटि च रमावत् । गोपा विश्वपावत् । इत्यादन्ताः ।

मतिः । प्रायेण हरिवत् । स्त्रीत्वान्नत्वाभावः, मतीः । नात्वं न । मत्या । २९६ । ङिति ह्रस्वश्च १।४।६ । इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ ह्रस्वौ चेवर्णोवर्णौ स्त्रियां वा नदीसंज्ञौ स्तो ङिति परे । 'आण्नद्याः' ( सू २६८ ) मत्यै-मतये । मत्याः-मतेः २ । नदीत्वपक्षे 'औत्' ( सू २५६ ) इति ङेरौत्वे प्राप्ते । २९७ । इदुद्भ्याम् ७।३।११७ । नदीसंज्ञ-

---

इति जश्त्वेन शकारस्य स्थानसाम्यात् यकारे कृते 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति श्चुत्वेन शकारे कृते 'खरि च' इति चर्त्वे 'निच्शु' इति । 'शश्छोटि' इति छत्वपक्षे निच्छु' इत्यपि ज्ञेयम् ।

ङिति ह्रस्वश्च—अत्र सूत्रे 'ङिति' इत्येकं वाक्यम् । इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्दाभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ ङिति नदीसंज्ञौ वा स्तः इति तस्यार्थः । 'ह्रस्वश्च' इत्यपरं वाक्यम् । 'ह्रस्वौ इवर्णोवर्णौ ङिति स्त्रियां नदीसंज्ञौ वा स्तः' इति तस्यार्थः । अत्र 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इत्यतो अनुवृत्तम् अस्त्रीति तु इयङुवङ्स्थानावित्यादिप्रथमवाक्यविहितनदीत्वस्यैव पर्युदासः, न तु ह्रस्वावित्यादिद्वितीयवाक्यविहितनदीत्वस्याऽपि, तत्सम्बद्धस्यैवानुवृत्तेः ।

मत्यै ( ई. ६३, ७० )—मतिशब्दात् ङेविभक्तौ अनुबन्धलोपे 'मति ए' इति जाते 'ङिति ह्रस्वश्च' इति नदीसंज्ञायाम् 'आण्नद्याः' इत्याटि 'आटश्च' इति वृद्धौ 'इको यणचि' इति यणि 'मत्यै' इति । नदीत्वाभावे 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायां 'घेर्ङिति' इति गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्ययादेशे 'मतये' इति सिद्धम् ।

---

मांस—मांस, पृतना, सानु—इन तीनों के स्थान में क्रमशः मांस्, पृत् एवं स्नु आदेश होता है, शसादि विभक्ति के परे, विकल्प से—ऐसा कहना चाहिए ।

ङिति—ङित् के परे ह्रस्व इकारान्त तथा ह्रस्व उकारान्त स्त्रीवाचक शब्दों की तथा इयङ् और उवङ् आदेशों के स्थानी स्त्रीशब्दभिन्न शब्दों की नदीसंज्ञा होती है, विकल्प से ।

इदुद्—नदीसंज्ञक इकार और उकार से उत्तरवर्ती ङिप्रत्यय के स्थान में 'आम्' आदेश होता है ।

काभ्यामिदुद्भ्यां परस्य ङेराम् स्यात्। पक्षे 'अच्च घे:' (सू २४७) मत्याम् मतौ। एवं श्रुतिस्मृत्यादय:। २९८। त्रिचतुरो: स्त्रियां तिसृचतसृ ७।२।९९। स्त्रीलिङ्गयोरेतयोरेतावादेशौ स्तो विभक्तौ परत:। २९९। अचि र ऋत: ७।२।१००। तिसृ चतसृ एतयोर्ऋकारस्य रेफादेश: स्यादचि। गुण-दीर्घोत्वानामपवाद:। तिस्र: २। आमि 'नुमचिर—' (वा ५०) इति नुट्। ३००। न तिसृचतसृ ६।४।४ एतयोर्नामि दीर्घो न स्यात् तिसृणाम्।

---

मत्याम् (ई. ६२, ६८, ७१)—मतिशब्दात् ङिविभक्तौ 'ङिति ह्रस्वश्च' इति नदीसंज्ञायाम् 'इदुद्भ्याम्' इति ङेरामि कृते स्थानिवद्भावेन ङित्वमादाय 'आण्नद्या:' इत्यादि 'आटश्च' इति वृद्धौ 'इको यणचि' इति यणि 'मत्याम्' इति। 'नदीसंज्ञाभावे' शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायाम् 'अच्च घे:' इति ङेरौत्वे घेरका-रादेशे च कृते 'वृद्धि रेऽचि' इति वृद्धौ 'मतौ' इति।

तिस्र: (ई. ७५)—त्रिशब्दाज्जसि शसि च विभक्तौ 'त्रिचतुरो: स्त्रियां तिसृचतसृ' इति तिस्रादेशे 'ऋतो ङि—' इति गुणं प्रबाध्य पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते तमपि प्रबाध्य 'अचिर ऋत:' इति रेफादेशे सस्य रुत्वे विसर्गे 'तिस्र:' इति।

तिसृणाम् (ई. ७३)—त्रिशब्दादामि विभक्तौ 'त्रिचतुरो: स्त्रियां तिसृ-चतसृ' इति त्रिशब्दस्य तिस्रादेशे 'तिसृ आम्' इति स्थिते 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इत्युक्त्या 'अचि र ऋत:' इति प्राप्तं रेफादेशं बाधित्वा 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटि अनुबन्धलोपे 'नामि' इति दीर्घे प्राप्ते 'न तिसृ-चतसृ' इति निषेधे 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' इति णत्वे 'तिसृणाम्' इति।

---

त्रिच—स्त्रीलिंग में वर्तमान त्रि तथा चतुर् शब्दों के स्थान में विभक्ति के परे क्रमश: तिसृ तथा चतसृ आदेश होते हैं।

अचि—अजादि विभक्ति के परे तिसृ तथा चतसृ के स्थान में रेफ आदेश होता है।

गुणदीर्घो—ङि और जस् विभक्ति में 'ऋतो ङि' से प्राप्त गुण और जस् में 'प्रथमयो: पूर्वसवर्ण' से प्राप्त दीर्घ एवं ङसि और ङस् में 'ऋत उत्' से प्राप्त उत् का रेफादेश बाधक है।

न तिसृ—(षष्ठी बहुवचन) नाम् के परे तिसृ तथा चतसृ शब्दों को दीर्घ नहीं होता है।

तिसृषु । 'स्त्रियाम्' इति त्रिचतुरोर्विशेषणान्नेह-प्रियास्त्रयस्त्रीणि वा यस्याः सा प्रियत्रि । मतिवत् । आमि तु 'प्रियत्रयाणाम्' इति विशेषः । 'प्रियास्तिस्रो यस्य सः' इति विग्रहे तु प्रियतिसा । प्रियतिस्रौ । प्रियतिस्रः । प्रियतिस्रम् । इत्यादि । प्रियास्तिस्रो यस्य तत्कुलं प्रियत्रि । स्वमोर्लुका लुप्तत्वेन प्रत्यय-लक्षणाभावान्न तिस्रादेशः । 'न लुमता—' ( सू २६३ ) इति निषेधस्यानि-त्यत्वात्पक्षे प्रियतिसृ । ५६ रादेशात् पूर्वविप्रतिषेधेन नुम्* । प्रियतिसृणी ।

---

स्त्रियामिति त्रिचतुरोः ( ई. ७१ )—अयं भावः श्रुतानुमितयोः श्रुत-सम्बन्धो बलीयानिति न्यायेन स्त्रियामित्यस्य त्रिचतुरोरेव विशेषणत्वन्नत्वङ्गस्य, तेन प्रियास्त्रयस्त्रीणि वा यस्या इत्यर्थे प्रियत्रिशब्दस्य मतिवद्रूपम् । आमि तु प्रियत्रयाणामिति विशेषः । प्रियास्तिस्रो यस्येत्यर्थे तिस्रादेशे प्रियतिस्रावित्यादि । प्रियास्तिस्रो यस्य तत्कुलमित्यर्थे स्वमोर्लुक्यपि न लुमतेति निषेधस्यानित्यत्वात्पक्षे तिस्रादेशे प्रियत्रि प्रियतिसृ इति । अन्यत्र रादेशात्पूर्वविप्रतिषेधेन नुमि प्रियतिसृणी इत्यादि, टादौ तृतीयादिष्विति पुंवद्भावे प्रियतिस्रा प्रियतिसृणेत्यादीति ।

प्रियतिसा ( ई. ७४ )—'श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलीयान्' इति न्यायेन स्त्रियामित्यस्य त्रिचतुरोरेव विशेषणं न त्वङ्गस्य, तेन 'प्रियास्तिस्रो यस्य इति विग्रहे समासे 'स्त्रियाः पुंवत्' इति प्रियशब्दस्य पुंवद्भावे 'प्रियत्रि' इति । तस्मात् सौ, प्रियत्रिशब्दस्य पुंल्लिगत्वेपि त्रिशब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वात् तिस्रादेशे 'ऋदुशनस' इत्यनङि, दीर्घे, सुलोपे 'प्रियतिसा' इति सिद्धम् ।

प्रियत्रि ( ई. ७०, ७२ )–प्रियास्तिस्रो यस्य यत्कुलमिति विग्रहे त्रिशब्दस्य स्त्रियां वर्तमानत्वेऽपि 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' इति तिस्रादेशो न भवति, प्रियत्रिशब्दात् परस्य प्रथमैकवचनविभक्तेः सकारस्य 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति लुप्तत्वात्, 'न लुमताङ्गस्त' इति प्रत्ययलक्षणनिषेधाच्च । 'इकोऽचि विभक्तौ' इति सूत्रस्य—अचिग्रहणेन 'न लुमताङ्गस्य' इत्यस्यानित्यत्वपक्षे तु प्रत्ययलक्षणेन विभक्तिपरकत्वात् तिस्रादेशे 'प्रियतिसृ' इति केचित् ।

प्रियतिसृ ( ई. ७४ )—प्रियास्तिस्रो यस्य तत्कुलं 'प्रियतिसृ' इति । प्रियत्रिशब्दात् सौ तस्य लुकि 'न लुमते'त्यस्य अनित्यत्वपक्षे प्रत्ययलक्षणेन विभक्ति-परकत्वात् 'त्रिचतुरोऽ' इति तिस्रादेशे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

'न लुमते'त्यस्यानित्यत्वे 'इकोऽचि विभक्तौ' इति सूत्रस्य 'अज् ग्रहणं

---

*रादेशात्–(प्रियतिसृणी में) रादेशात् प्राक् पूर्वविप्रतिषेधेन नुम् ही होता है ।

प्रियतिसृणि। तृतीयादिषु वक्ष्यमाणपुंवद्भावविकल्पात् पर्यायेण नुम्रभावौ, प्रियतिस्रा। प्रियतिसृणा। इत्यादि। द्वे रत्वे सत्याप्। द्वे २। द्वाभ्याम् ३। द्वयोः २। इति इदन्ताः।

गौरी। गौर्यौ। गौर्यः। नदीकार्यम्—हे गौरि। गौर्यै। इत्यादि। एवं वाणीनद्यादयः। प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणादनङि णिद्वद्भावे च प्राप्ते 'विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाऽग्रहणम्' (प ७४)। सखी। सख्यौ। सख्यः। इत्यादि। गौरीवत्। अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः लक्ष्मीः। शेषं गौरीवत्। एवं तरीतन्त्र्यादयः। स्त्री। हे स्त्रि। ३०१। स्त्रियाः ६।४।७९। स्त्रीशब्द-

---

लिङ्गम्। तत्र हि हलादिषु भ्यामादिषु सत्यपि नुमि 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इत्यनेनैव लोपसम्भवात् अचीचि व्यर्थं स्यात्। नच सम्बुद्धिव्यावृत्त्यर्थमज्ग्रहणं, तत्रहि नुमि सति 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इति निषेधेन नकारश्रवणादिति वाच्यम्, सम्बुद्धेर्लुका लुप्ततया प्रत्ययलक्षणाभावेन तत्र नुमः प्राप्तेरभावात्। अत एव 'हे त्रपो, हे त्रपु' इति भाष्योदाहरणं सङ्गच्छते।

प्रियतिस्रा (ई. ६८)—प्रियास्तिस्रो यस्य तत्कुलं 'प्रियत्रि' इति। अस्मात् प्रियत्रिशब्दात् टाविभक्तौ अनुबन्धलोपे 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य' इति पुंवद्भावपक्षे नुमभावात् 'अचि र ऋतः' इति रत्वे तिस्रादेशे उक्तं रूपं सिद्धम्। पुंवत्त्वाभावपक्षे तु तिस्रादेशे 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमि णत्वे 'प्रियतिसृणा' इति।

सखी (ई. ७१)—'सख्यशिश्वीति भाषायाम्' इति सखिशब्दात् ङीषि सखीशब्दः, तस्य सौ 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति परिभाषया 'अनङ् सौ' इत्यनङि णिद्वद्भावे च प्राप्ते 'विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणम्' इति निषेधे हल्ङ्यादिना सोर्लोपे 'सखी' इति।

---

विभक्तौ—विभक्तिनिमित्तक कार्य कर्तव्य हो तो 'लिङ्गविशिष्ट' परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। ( अत एव सहेलीवाचक 'सखी' शब्द में सखिशब्दत्व का ग्रहण नहीं होता है।

**एवं तरी—अवी-तन्त्री-तरी-लक्ष्मी-धी-ह्री-श्रीणामुणादिषु।**
**सप्त-स्त्रीलिङ्गशब्दानां न सुलोपः कदाचन॥**

स्त्रियाः—'स्त्री' शब्द को इयङ् आदेश होता है, अजादि प्रत्यय के परे।

स्येयङ् स्यादजादौ प्रत्यये परे। स्त्रियौ। स्त्रियः। ३०२। वाऽम् शसोः ६।३।८०। अमि शसि च स्त्रिया इयङ् वा स्यात्। स्त्रियम्–स्त्रीम्। स्त्रियौ। स्त्रियः–स्त्रीः। स्त्रिया। स्त्रियै। स्त्रियाः २। स्त्रियोः परत्वान्नुट् स्त्रीणाम्। स्त्रियाम्। स्त्रियोः। स्त्रीषु। स्त्रियमतिक्रान्तोऽतिस्त्रिः। अतिस्त्रियौ।

**'गुणनाभावौत्त्वनुड्भिः परत्वात् पुंसि बाध्यते।**
**क्लीबे नुमा च स्त्रीशब्दस्येयङित्यवधार्यताम्॥'**

'जसि च' (सू २४१) अतिस्त्रयः। हे अतिस्त्रे। हे अतिस्त्रियौ। हे अतिस्त्रयः 'वाऽम्शसोः' (सू ३०२)। अतिस्त्रियम्। अतिस्त्रिम्। अतिस्त्रि-

---

स्त्रियमतिक्रान्तः अतिस्त्रिः—अत्र 'अत्यादयः' इति समासः, 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वत्वम्, दीर्घङ्यन्तत्वाऽभावात् हल्ङ्यादिलोपो न। 'अतिस्त्रियौ' इत्यत्र तु एकदेशविकृतन्यायेन 'स्त्रियाः' इत्यनेन इयङ्।

गुणनाभावेति—जस्, टा, ङे, ङसि, ङस्, आम्, ङि—इत्येतेषु अतिस्त्री-शब्दस्य इयङ् नेत्येतत् पद्येन संगृह्णाति मूले–गुणनाभावेत्यादिना—
पुंसि–( जसि चेति, घेर्ङितीति च ) गुणेन, (आङो नाऽस्त्रियाम् इति ) नाभावेन, ( अच्च घेः इति ) औत्वेन, ( ह्रस्वनद्यापः इति ) नुटा, (तथा) क्लीबे (इकोऽचि विभक्तौ ) इति नुमा च परत्वात् स्त्रीशब्दस्य इयङ् बाध्यते, इत्यवधार्यता मित्यन्वयः।

---

वाऽम्—अम् और शस विभक्ति के परे स्त्री शब्द को इयङ् आदेश होता है, विकल्प से।

गुणनाभाव—'स्त्रियमतिक्रान्तः' इस विग्रह में समास होने पर विशेषणी-भूत अर्थ का वाचक होने से अतिस्त्री शब्द पुंल्लिग हो जाता है, अतः 'जसि च' तथा 'घेर्ङिति' से विहित गुण इयङ् विधायक 'स्त्रियाः' सूत्र से पर है—अतः परत्वात् इयङ् को गुण बाध लेता है। इसी प्रकार 'आङो ना, अच्च घेः, ह्रस्वनद्यापो नुट्' ये सूत्र भी पर होने से 'स्त्रियाः' सूत्र को परत्वात् बाध लेते हैं ( इनके विषय में इयङ् नहीं होता है )। इसी प्रकार ( स्त्रियमतिक्रान्तं कुलम्, इस विग्रह में भी ) कुलरूपार्थ में विशेषणीभूत स्त्रीशब्द नपुंसक होने से क्लीब ( नपुंसक ) लिंग में भी 'स्त्रियाः' सूत्र से प्राप्त इयङ् को 'इकोऽचि विभक्तौ' से प्राप्त नुम् परत्वात् बाध लेता है। अतः इनसे अन्यत्र ही स्त्रीशब्द को 'स्त्रियाः' सूत्र से इयङ् होता है—यह समझना चाहिए।

यौ। अतिस्त्रियः-अतिस्त्रीन्। अतिस्त्रिणा। 'घेर्ङिति' (सू २४५)। अतिस्त्रये। अतिस्त्रेः २। अतिस्त्रियोः २। अतिस्त्रीणाम्। 'अच्च घेः' (सू २४७)। अतिस्त्रौ।

**'ओस्यौकारे च नित्यं स्यादम्शसोस्तु विभाषया।**
**इयादेशोऽचि नान्यत्र स्त्रियाः पुंस्युपसर्जने॥'**

क्लीबे तु नुम्। अतिस्त्रि। अतिस्त्रिणी। अतिस्त्रीणि। अतिस्त्रिणा। अतिस्त्रिणे। ङेप्रभृतावजादौ वक्ष्यमाणपुंवद्भावात् पक्षे प्राग्वद्रूपम्। अतिस्त्रये। अतिस्त्रिणः। अतिस्त्रेः २। अतिस्त्रिणोः-अतिस्त्रियोः २। इत्यादि। स्त्रियां तु प्रायेण पुंवत्। शसि, अतिस्त्रीः। अतिस्त्रिया। 'ङिति ह्रस्वश्च' (सू २९६) इति ह्रस्वान्तत्वप्रयुक्तो विकल्पः। 'अस्त्री' इति तु इयङुवङ्स्थानावित्यस्यैव पर्युदासः, तत्सम्बद्धस्यैवानुवृत्तेः दीर्घस्यायं निषेधः, न तु ह्रस्वस्य। अति-

---

अतिस्त्रये (ई. ६३, ६८, ७२)—स्त्रियमतिक्रान्तः इति विग्रहे अतिस्त्रिशब्दात् ङेविभक्तौ 'गुणनाभावौत्वनुड्भिः परत्वात् पुंसि बाध्यते' इति हरिकारिकोक्तत्वात् इयङ बाधित्वा 'घेर्ङिति' इति घित्वाद् गुणे अयादेशे उक्तं रूपं सिद्धम्। स्त्रियमतिक्रान्तेति विग्रहे तु 'ङिति ह्रस्वश्च' इति नदीत्वादाटि इयङि 'अतिस्त्रियै' इति नदीत्वाभावे 'अतिस्त्रये' इति।

ओस्यौकारे चेति—अथ पुंसि पूर्वोक्त 'गुणनाभावेति' श्लोकसिद्धमेवार्थं बालानां सुखबोधाय संगृह्णाति मूले—ओस्योकार इति। उपसर्जने पुंसि विद्यमानस्य स्त्रीशब्दस्य अचि यः इयादेशः 'स्त्रियाः' इति सूत्रविहितः सः ओसि (षष्ठी-सप्तम्योर्द्विवचने), औकारे (प्रथमा-द्वितीयाद्विवचने) च नित्यं स्यात्, अम्-शसोस्तु विभाषया = विकल्पेन स्यात् (उक्तचतुर्भ्योऽन्यत्र तु अचि सर्वत्र इयादेशो न स्यादिति भावः)।

---

ओस्याकारे—पूर्वोक्त 'गुणनाभाव' कारिका का ही सुखबोधार्थ मूलकार 'इयङ्' विधान का स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं—स्त्री शब्द समास होने पर उपसर्जन होकर पुँल्लिग हो जाता है तो ओस् (षष्ठी तथा सप्तमी द्विवचन) तथा औकार (प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन) प्रत्यय पर में रहने पर 'स्त्री' को 'स्त्रियाः' सूत्र से इयङ् आदेश नित्य होता है और अम् तथा शस् विभक्ति पर में रहें तो 'वाऽम् शसोः' सूत्र से विभाषया (विकल्प से) इयङादेश होता है और इससे अन्यत्र अजादि विभक्ति पर में रहने पर इयङ् नहीं होता है।

स्त्रियै–अतिस्त्रये । अतिस्त्रियाः २–अतिस्त्रेः २ । अतिस्त्रीणाम् । अतिस्त्रियाम्–अतिस्त्रौ । श्रीः श्रियौ श्रियः । ३०३ । नेयङुवङ्स्थानावस्त्री १।४।४। इयङुवङोः स्थितिर्ययोस्तावीदूतौ नदीसंज्ञौ न स्तः, न तु स्त्री । हे श्रीः । श्रियै -श्रिये श्रियाः श्रियः । ३०४ । वाऽऽमि १।४।५। इयङुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू आमि वा नदीसंज्ञौ स्तः, न तु स्त्री । श्रीणाम्–श्रियाम् । श्रियि–श्रीयाम् । 'प्रधी'–शब्दस्य तु वृत्तिकारादीनां मते लक्ष्मीवद्रूपम्, 'पदान्तरं विनापि स्त्रियां वर्तमानत्वं नित्यस्त्रीत्वम्' इति स्वीकारात् । 'लिङ्गान्तरानभिधायकत्वं तत्' इति कैयटमते तु पुंवद्रूपम् । 'प्रकृष्टाः धीः' इति विग्रहे तु 'लक्ष्मी'–वत् । अमि

---

हे श्रीः ( ई. ६८ )—श्रीशब्दात् सम्बुद्धिविवक्षायां सौ सकारस्य रुत्वे विसर्गे रूपं सिद्धम् । 'यूस्त्र्याख्यौ नदी' इति नदीत्वात् 'अम्बार्थे'ति ह्रस्वत्वं तु न 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति नदीत्वाप्रतिषेधात् । सुलोपस्तु न, अङ्यन्तत्वात् ।

श्रीणाम् ( ई. ७६, ७८ )—श्रीशब्दादामि विभक्तौ 'वाऽऽमि' इति नदीसंज्ञायां ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटि अनुबन्धलोपे पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्या 'नामि' इति दीर्घे 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति णत्वे 'श्रीणाम्' इति । नदीत्वाभावे अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' इति इयङि 'श्रियाम्' इति भवति ।

प्रधीशब्दस्येति—( ई. ६८,७० )—आध्यै प्रध्यै ब्राह्मण्यै इति भाष्यप्रयोगेण पदान्तरं विनापि स्त्रियां वर्तमानत्वं नित्यस्त्रीत्वमिति वृत्तिकारमते प्रकृष्टं ध्यायतीत्यर्थे प्रधीशब्दस्य नित्यस्त्रीलिङ्गतया लक्ष्मीवद् रूपम् । उक्तभाष्यप्रयोगे बहुव्रीहिमाश्रित्य लिङ्गान्तरानभिधायकत्वं नित्यस्त्रीत्वमिति कैयटमते उक्तेऽर्थे प्रधीशब्दस्य पुंवद् रूपम् । प्रकृष्टा धीरित्यर्थे उभयमते लक्ष्मीवद्रूपम् । एवं सुष्ठु ध्यायतीत्यर्थे सुधीशब्दस्य वृत्तिकारमते लक्ष्मीवत्, कैयटमते पुंवत् । ग्रामणी-कटप्रू-खलपू-इत्यादीनामुभयमतेऽपि पुंवदेव, ग्रामनयनादेः स्वभावतः पुंसो धर्मत्वात् ।

---

नेयङ्—जहाँ ईकारान्त और ऊकारान्त शब्दों को इयङ्, उवङ् की स्थिति प्राप्त होती है, वहाँ ( ङिति ह्रस्वश्च से ) नदीसंज्ञा नहीं होती है, किन्तु 'स्त्री' शब्द को वह निषेध नहीं करता ।

वाऽऽमि—इयङ् अथवा उवङ् के स्थानी दीर्घ ईकार या दीर्घ ऊकार जिनके अन्त में रहें ऐसे ईत्, ऊत् नित्य स्त्रीलिंग शब्द को आम् के परे विकल्प से नदीसंज्ञा का निषेध होता है अर्थात् ( विकल्प से नदीसंज्ञा होती है ) ।

शसि च 'प्रध्यम्' 'प्रध्यः' इति विशेषः। सुष्ठु धीर्यस्याः सुष्ठु ध्यायति वेति विग्रहे तु वृत्तिकारमते सुधीः 'श्री'वत्। मतान्तरे तु पुंवत्। 'सुष्ठु धीः' इति विग्रहे तु 'श्री'वदेव। 'ग्रामणीः' पुंवत्, ग्रामनयनस्योत्सर्गतः पुंधर्मतया पदान्तरं विना स्त्रियामप्रवृत्तेः। एवं खलपवनादेरपि पुंधर्मत्वमौत्सर्गिकं बोध्यम्। इति ईदन्ता।

धेनुः। 'मति'वत्। ३०५। स्त्रियां च ७।१।९६। स्त्रीवाची क्रोष्टुशब्दस्तृजन्तवद्रूपं लभते। ३०६। ऋन्नेभ्यो ङीप् ४।१।५। ऋदन्तेभ्यो नान्तेभ्यश्च स्त्रियां ङीप् स्यात्। क्रोष्ट्री। क्रोष्ट्र्यौ। क्रोष्ट्र्यः। इत्युदन्ताः।

वधूः। गौरीवत्। भ्रूः। श्रीवत्। हे सुभ्रूः। कथं तर्हि, 'हा पितः क्वासि हे सुभ्रु' इति भट्टिः। प्रमाद एवायमिति बहवः। खलपूः। पुंवत्। पुनर्भूः। 'दृन्कर—' (वा ५१) इति यणा उवङो बाधनात् 'नेयङुवङ्—' (सू ३०३) इति निषेधो न। हे पुनर्भु। पुनर्भ्वम्। पुनर्भ्वौ। पुनर्भ्वः। ३०७। एकाजुत्तरपदे णः ८।४।१२। एकाजुत्तरपदं यस्य तस्मिन् समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तात् परस्य प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिस्थस्य नस्य नित्यं णत्वं स्यात् आरम्भसामर्थ्यान्नित्यत्वे सिद्धे पुनर्णग्रहणं स्पष्टार्थम्। यणं बाधित्वा परत्वान्नुट्। पुनर्भूणाम्। वर्षाभूः। भेकजातौ नित्यस्त्रीत्वाभावात् 'हे वर्षाभूः' कैयटमते।

---

कथं तर्हि (ई. ६५) ऊङ्प्रत्ययान्तोऽयं सुभ्रूशब्दः। तेन 'हे सुभ्रूः' इत्यत्र अस्त्रीप्रत्यायान्तत्वात् 'गोस्त्रियोः—' इति ह्रस्वो न भवति। 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति निषेधेन नदीत्वाभावात् 'अम्बार्थेति' ह्रस्वत्वं च न भवति। ननु तर्हि 'हा पितः क्वाऽसि हे सुभ्रु' इति भट्टिप्रयोगः कथमिति चेदुच्यते 'प्रमाद एवाऽयमिति बहवः'। केचित्तु सामान्ये नपुंसकत्वमाश्रित्य कथंचित् समादधुः।

पुनर्भूणाम् (ई. ७०, ७३)—पुनर्भूशब्दात् आमि 'दृन्करपुनः पूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः' इति प्राप्तं यणं प्रबाध्य परत्वात् नद्यन्तत्वान्नुटि दीर्घे 'एकाजुत्तरपदे णः' इति णत्वे उक्तं रूपं सिद्धम्।

---

स्त्रियां—स्त्रीवाची क्रोष्टु शब्द तृजन्त (क्रोष्टृ) के सदृश रूप को प्राप्त करे, अर्थात् पुंल्लिंग के समान स्त्रीलिंग में भी ऋकारान्त बन जाता है।

ऋन्ने—ऋदन्त और नान्त शब्दों से ङीप् प्रत्यय हो स्त्रीलिंग में।

एकाजु—एक अच् (स्वर) है उत्तर पद में जिस समास में ऐसा जो समास, उस समास में पूर्वपदस्थ निमित्त (रेफ-षकार) से पर जो प्रातिपदिकान्त नकार, नुमघटक नकार और विभक्तिस्थ नकार उसको णकार हो।

मतान्तरे तु—हे वर्षाभु। पुनर्नवायां तु—हे वर्षाभु। भेक्यां पुनर्नवायां स्त्री वर्षाभूर्दर्दुरे पुमान्' इति यादवः। वर्षाभ्वौ। वर्षाभ्वः। स्वयम्भूः। पुंवत्। इत्यूदन्ताः।

३०८। न षट्स्वस्रादिभ्यः ४।१।१०। षट्संज्ञकेभ्यः स्वस्रादिभ्यश्च ङीप्टापौ न स्तः।

'स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा।
याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः॥

'अप्तृन्—' (सू २७७) इति दीर्घः। स्वसा। स्वसारौ स्वसारः। माता। पितृवत्। शसि मातॄः। इत्यृदन्ताः।

द्यौः। गोवत्। इत्योदन्ताः। राः। पुंवत्। इत्यैदन्ताः। नौः ग्लौवत्। इत्यौदन्ताः।

इत्यजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्।

---

स्वसा (ई. ७७)—स्वसृशब्दात् सौ 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीपि प्राप्ते 'न षट्स्वस्रादिभ्यः पञ्चभ्यः' इति तन्निषेधे 'ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसां च' इत्यनङि अनुबन्धलोपे 'स्वसन् स्' इति जाते 'अप्तृन्तृच्—' इति दीर्घे हल्ङ्यादिलोपे 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे स्वसा इति।

इति 'इन्दुमती' टीकायाम् अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्

—❀❀❀—

---

न षट्—षट्संज्ञक और स्वस्रादि (स्वसृ, तिसृ, चतसृ, ननान्दृ, दुहितृ, यातृ, मातृ) शब्दों से ङीप् और टाप् प्रत्यय नहीं होते हैं।

इस प्रकार 'इन्दुमती' हिन्दी टीका में अजन्तस्त्रीलिंग समाप्त।

—❀❀❀—

# अथ अजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

३०९। अतोऽम् ७।१।२४। अतोऽङ्गात् क्लीबात् स्वमोरम्-स्यात्। 'अमि पूर्वः' (सू १९४) ज्ञानम्। 'एङ्ह्रस्वात्—' (सू १९३) इति हल्मात्र-लोपः, हे ज्ञान। ३१०। नपुंसकाच्च ७।१।१९। क्लीबात् परस्यौङः शी स्यात्। भसंज्ञायाम्। ३११। यस्येति च ६।४।१४८। भस्येवर्णावर्णयोर्लोपः स्यादीकारे तद्धिते च परे। इत्यकारलोपे प्राप्ते। औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः॥ ज्ञाने। ३१२। जश्शसोः शिः ७।१।२०। क्लीबादनयोः शिः स्यात्। ३१३। शि सर्वनामस्थानम् १।१।४२। 'शि' इत्येतदुक्तसंज्ञं स्यात्। ३१४। नपुंसकस्य झलचः ७।१।७२। झलन्तस्याजन्तस्य च क्लीबस्य नुमागमः स्यात् सर्वनामस्थाने परे। उपधादीर्घः, ज्ञानानि। पुनस्तद्वत्। शेषं रामवत्। एवं धनवनफलादयः।

---

ज्ञानानि (ई. ६१, ६३)—ज्ञानशब्दात् जसि शसि च विभक्तौ 'जश्शसोः शिः' इति श्यादेशे 'शि सर्वनामस्थानम्' इति 'शि' इत्यस्य सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि अनुबन्धलोपे 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इति दीर्घे 'ज्ञानानि' इति।

---

अतो—नपुंसक लिङ्गार्थक अदन्त अंग से पर सु और अम् को अम् आदेश होता है।

नपुं—नपुंसक लिङ्गार्थक शब्द से पर औङ् (औ) के स्थान में 'शी' आदेश होता है।

यस्येति—भसंज्ञक इकार और अकार का लोप होता है, ईकार और तद्धित के परे।

जश्शसोः—नपुंसक लिंगवृत्ती जश् तथा शस् के स्थान में 'शि' आदेश होता है। शि सर्व—(और) उस 'शि' की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है।

नपुं—झलन्त तथा अजन्त नपुंसक शब्दों को भी सर्वनामस्थान के परे नुम् का आगम होता है।

३१५। अद्ड्-डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः ७।१।२५। एभ्यः क्लीबेभ्यः स्व-मोरद्डादेशः स्यात्। ३१६। टेः ६।४।१४३। डिति परे भस्य टेर्लोपः स्यात्। 'वाऽवसाने' (सू २०६) कतरत्-कतरद्। कतरे। कतराणि। 'भस्य' इति किम्? पञ्चमः। टेर्लुप्तत्वात् 'प्रथमयोः—' (सू १६४) इति पूर्वसवर्णदीर्घः 'एङ्ह्रस्वात्–' (सू १९३) इति सम्बुद्धिलोपश्च न भवति। हे कतरत्। पुनस्तद्वत्। शेषं पुंवत्। कतमत्। अन्यत्। अन्यतरत्। इतरत्। अन्यतम-शब्दस्य तु 'अन्यतमम्' इत्येव। ५८ एकतरात् प्रतिषेधो वक्तव्यः *। एकतरम्। सोरमादेशे कृते सन्निपातपरिभाषया न जरस्, अजरम्। अजरसी-अजरे। परत्वाज्जरसि कृते झलन्तत्वान्नुम्। ३१७। सान्तमहतः संयोगस्य ६।४।१०। सान्तसंयोगस्य महतश्च यो नकारस्तस्योपधाया दीर्घः स्यादसम्बुद्धौ

---

कतरत् (ई. ६७) — कतरशब्दात् सौ 'अतोऽम्' इति सूत्रं प्रबाध्य 'अद-ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः' इति सोरद्डि अनुबन्धलोपे 'कतर अद्' इति दशायां क्लीबे 'शि' इत्यस्यैव सर्वनामस्थानसंज्ञाविधानात् असर्वनामस्थानिके 'अदि' परे 'यचि भम्' इति 'कतर' इत्यस्य भसंज्ञायां 'टेः' इति टिलोपे 'वाऽवसाने' इति चर्त्वे 'कतरत्' इति। चर्त्वाऽभावे 'कतरद्' इति।

हे कतरद् (ई. ६७)—कतरशब्दात् सम्बोधनविवक्षायां सौ तस्य 'अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः' इत्यनेन अद्डादेशे डित्वात् 'टेः' इति टिलोपे हल्ङ्यादिना सुलोपे 'वावसाने' इति चर्त्वे उक्तं रूपं सिद्धम्। ननु अद्विधा-नेनैव पररूपेण इष्टसिद्धेः डित्करणं किमर्थमिति चेन्न, तथासति पररूपं बाधि-त्वा पूर्वसवर्णदीर्घापत्तेः। नचैवं पूर्वसवर्णदीर्घाऽभावाय सौर्दकार एव विधीयता-मिति वाच्यम्, सौर्दकारादेशे सति तस्य स्थानिवत्त्वेन सम्बुद्धित्वात् ह्रस्वान्ता-ङ्गात्परत्वाच्च 'एङः ह्रस्वादि'ति सम्बुद्धिलोपः स्यात्।

---

अद्ड्—नपुंसकलिंग में वर्तमान डतर तथा डतम प्रत्ययान्त एवं अन्य, अन्यतर, इतर शब्दों से पर सु तथा अम् के स्थान में अदड् आदेश होता है।

टेः—भसंज्ञक अंग की 'टि' का लोप होता है, डकारेत्संज्ञक प्रत्यय के परे।

एकत—नपुंसक में वर्तमान एकतर शब्द से पर सु और अम् को अद्ड् आदेश नहीं होता है–ऐसा कहना चाहिए।

सान्त—सकारान्त अंग तथा महत् शब्द की उपधा को दीर्घ होता है, असम्बुद्धि सर्वनाम स्थान के परे।

सर्वनामस्थाने परे। अजरांसि—अजराणि। अमि लुकोऽपवादमम्भावं बाधित्वा परत्वाज्जरस्। ततः सन्निपातपरिभाषया न लुक्। अजरसम्—अजरम्। अजरसी—अजरे। अजरांसि—अजराणि। शेषं पुंवत्। 'पद्दन्न—' (सू २२८) इति हृदयोदकास्यानां हृद उदन् आसन्। हृन्दि। हृदा। हृद्भ्याम्। इत्यादि। उदानि। उद्ना। उद्भ्याम्। इत्यादि। आसानि। आस्ना। आसभ्याम्। इत्यादि। मांसि। मांसा। मान्भ्याम्। इत्यादि। वस्तुतस्तु प्रभृतिग्रहणं प्रकारार्थमित्युक्तम्। अत एव भाष्ये 'मांस्पचन्या उखायाः' इत्युदाहृतम्। अयस्मयादित्वेन भत्वात् संयोगान्तलोपो न। 'पद्दन्न—' (सू २२८) इत्यत्र हि 'छन्दसि' इत्यनुवर्तितं वृत्तौ। तथापि 'अपो भि' (सू ४४३) इत्यत्र 'मासश्छन्दसि' इति वार्तिके 'छन्दोग्रहणसामर्थ्याल्लोकेऽपि क्वचित्' इति कैयटोक्तरीत्या प्रयोगमनुसृत्य पदादयः प्रयोक्तव्या इति बोध्यम्। इत्यदन्तप्रकरणम्।

३१८। ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य १।२।४७। क्लीबे प्रातिपदिकस्याजन्तस्य ह्रस्वः स्यात्। श्रीपम्। ज्ञानवत्। श्रीपाय। अत्र सन्निपातपरिभाषया 'आतो धातोः' (सू २४०) इत्याकारलोपो न। इत्यादन्ताः।

---

अजरसम् (ई. ७२, ७४)—'अजर अम्' इति स्थिते 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति लुक्प्राप्तस्तं बाधित्वा तदपवादः 'अतोऽम्' इत्यम्भावः प्राप्तः, तं बाधित्वा 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इति परत्वाज्जरस्, 'अजरसम्' इति। न च लुगपवादस्याम्भावस्य जरसादेशेन बाधितत्वात् 'अपवादे निषिद्धे पुनरुत्सर्गस्य स्थितिः' इति न्यायात् अमो लुक् स्यादिति वाच्यम्? जरसादेशान्तरम्—अम्सन्निपातमाश्रित्य प्रवृत्तस्य जरसः अमो लुकि निमित्तत्वाभावादित्यलम्!

अजरांसि (ई. ७०, ७३, ७५)—अजरशब्दात् जसि अनुबन्धलोपे 'अजर अस्' इतिस्थिते जरसः पूर्वमेव शिभावे कृते तस्य सर्वनामस्थानत्वात् तस्मिन् परे नुमजरसोः प्राप्तयोः, नुमपेक्षया परत्वाज्जरसि ततो झलन्तत्वान्नुमि 'सान्तमहतः संयोगस्य' इति दीर्घे 'नश्चापदान्तस्य झलि' इत्यनुस्वारे 'अजरांसि' इति।

श्रीपाय (ई. ६०, ६६, ६९)—श्रीपाशब्दात् ङौ 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति ह्रस्वत्वे ङेर्यादेशे 'सुपि च' इति दीर्घे 'श्रीपाय' इति। सन्नि-

---

ह्रस्वो—नपुंसकलिंग में वर्तमान अजन्त प्रातिपदिक के अन्तिम स्वर को ह्रस्व होता है।

३१९। स्वमोर्नपुंसकात् ७।१।२३। क्लीबादङ्गात् परयोः स्वमोर्लुक् स्यात्। वारि। ३२०। इकोऽचि विभक्तौ ६।१।७३। इगन्तस्य क्लीबस्य नुमागमः स्यादचि विभक्तौ। वारिणि। वारीणी। 'न लुमता—' (सू २६३) इति निषेधस्यानित्यत्वात् पक्षे सम्बुद्धिनिमित्तो गुणः, हे वारे—हे वारि। 'आङो

---

पातपरिभाषा' तु 'कष्टाय क्रमणे' इति निर्देशात् न प्रवर्तते। नन्वत्र ह्रस्वत्वे कृतेऽपि 'प' इत्यस्य 'एकदेशविकृत' न्यायेन धातुत्वानपायात् दीर्घे कृते आकारान्तत्वाच्च 'आतो धातोः' इत्याल्लोपः स्यात्, यादेशस्य स्वतो यकारादितया स्थानिवत्त्वेन स्वादिप्रत्ययतया च तस्मिन् परे भत्वस्यापि सत्त्वादिति चेन्न, 'सन्निपातपरिभाषा' विरोधात्। तथाहि—ह्रस्वत्वमवर्णत्वञ्च समुदित यादेशस्य उपजीव्यम्, तत्र 'कष्टाय' इति निर्देशात् सन्निपातपरिभाषां बाधित्वा कृतेऽपि दीर्घे ह्रस्वांश एव निवृत्तिः। अवर्णत्वांशस्त्वनुवृत्त एव, तस्याल्लोपेन निवृत्तौ उपजीव्यविघातः स्यादेवेति, भवेदेव सन्निपातपरिभाषाविरोधः। वस्तुतस्तु—'आतो धातोः' इत्यत्र 'लक्षणप्रतिपदोक्त' परिभाषया प्रतिपदोक्ताऽऽकारस्य ग्रहणात् प्रकृते आकारस्य लाक्षणिकत्वेन लोपप्रसक्तिरेव नास्तीति दिक्।

'न लुमते'त्यस्याऽनित्यत्वे किं मानम्?—'इकोऽचि विभक्तौ' इत्यत्र अज्ग्रहणं किमर्थम्, हलादिषु भ्यामादिषु हि सत्यपि नुमि 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्ये'ति नस्य लोपसम्भवात्। न च सम्बुद्धिव्यावृत्यर्थमज्ग्रहणम्, अन्यथा तत्र नुमि सति 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इति निषेधेन नकारश्रवणप्रसङ्गः स्यादिति वाच्यम्, सम्बुद्धेर्लुका लुप्ततया प्रत्ययलक्षणाभावेन तत्र नुमः प्राप्तेरभावात्। 'न लुमते'त्यस्याऽनित्यत्वे तु सम्बुद्धौ प्रत्ययलक्षणेन प्राप्तं नुमं वारयितुम् अज्ग्रहणं सफलमित्यज्ग्रहणं 'न लुमते'त्याऽनित्यत्वे लिङ्गमिति।

हे वारे (ई. ६५)—वारिशब्दात् सम्बोधनैकवचने सौ 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लुकि 'न लुमताङ्गस्य' इत्यस्यानित्यत्वपक्षे 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' इति प्रत्ययलक्षणेन 'ह्रस्वस्य गुणः' इति सम्बुद्धिनिमित्तके गुणे 'हे वारे' इति। 'न लुमते' त्यस्य नित्यत्वपक्षे तु 'हे वारि' इति। अत एव 'हे त्रपो—हे त्रपु' इति भाष्योदाहरणं सङ्गच्छते।

---

स्वमो—नपुंसकलिंग में वर्तमान अंग से पर सु एवं अम् का लुक् (लोप) होता है।

इकोऽचि—इगन्त नपुंसक अंग को नुमागम होता है, अजादि विभक्ति के परे।

ना-' ( सू २४४ ), वारिणा । 'घेर्ङिति' ( सू २४५ ) इति गुणे प्राप्ते ५९ वृद्धचौत्व-तृज्वद्भाव-गुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन* । वारिणे । वारिणः । वारिणोः । 'नुमचिर-' ( वा ५० ) इति नुट्, नामि (सू२०६) इति दीर्घः, वारीणाम् । वारिणि । वारिणोः । हलादौ हरिवत् । ३२१ । तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य ७।१।७४। प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुंस्कमिगन्तं

---

वृद्धचौत्वेति ( ई. ५८, ६७ )—'अचोञ्णिति इति वृद्धेः, अच्च घेः इति औत्वात्, 'तृज्वत्क्रोष्टुः' इति तृज्वद्भावात्, घेर्ङिति इति गुणात् पूर्वं पूर्वविप्रतिषेधेन 'नुम्' इति वार्तिकस्यार्थः । 'अतिसखीनो' 'वारिणि' प्रियक्रोष्टूनि' 'वारिणे' इति क्रमेण उदाहरणानि ।

वारिणे ( ई. ६४ )—वारिशब्दात् चतुर्थ्येकवचने 'वारि ए' इति दशायां 'शेषो ध्यसखि' इति घिसंज्ञायां 'घेर्ङिति' इति गुणे प्राप्ते 'वृद्धचौत्वतृज्वद्भाव-गुणेभ्यो नुम्पूर्वविप्रतिषेधेन' इति पूर्वविप्रतिषेधस्य प्रबलत्वात् 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमि 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति णत्वे 'वारिणे' इति जातम् ।

वारीणाम् ( ई. ६३ )—वारिशब्दाद् आम्विभक्तौ 'वारि आम्' इति स्थिते परत्वात् नुट बाधित्वा 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमि, तं बाधित्वा-'नुमचिरे'ति नुटि 'नामि' इति दीर्घे, 'अट्कुप्वाङ्' इति णत्वे 'वारीणाम् इति । नुमि कृते 'नामि' इति दीर्घो न स्यात्, सन्निपातपरिभाषाविरोधात् ।

---

वृद्धचौत्व—वृद्धि, औत्व, तृज्वदभाव और गुण को बाधकर पूर्वविप्रतिषेध से नुम् ही होता है ।

नोट—'अतिसखीनि' में 'सख्युरसम्बुद्धौ' से णिद्वद्भावात् प्राप्त वृद्धि को, 'वारिणि' में णित्वात् 'अच्च घेः' से प्राप्त औत्व को, प्रियक्रोष्टूनि' में प्राप्त तृज्वद्भाव को और 'वारिणे' 'वारिणः' में 'घेर्ङिति' से प्राप्त गुण को बाध कर नुम् होता है ।

तृतीया—प्रवृत्ति-निमित्त एक होने पर जो भाषितपुंस्क इगन्त क्लीब, उसको पुंवदभाव ( पुंलिंग के समान कार्य ) होता है—टादि ( तृतीयादि ) अजादि विभक्ति के परे, विकल्प से ।

नोट—भाषितः पुमान् येन प्रवृत्ति-निमित्तेन, तद् भाषितपुंस्कम् अर्थात्, नपुंसके लिङ्गान्तरे च यस्य एकमेव वाच्यतावच्छेदकं तत् शब्दस्वरूपं भाषित-पुंस्कशब्देन विवक्षितम् ।

क्लीबं पुंवद्वा स्याट्टादावचि। अनादये-अनादिने। इत्यादि। शेषं वारिवत्। पीलुर्वृक्षस्तत्फलं पीलु, तस्मै पीलुने। अत्र न पुंवत्, प्रवृत्तिनिमित्तभेदात्।

३२२। अस्थि-दधि-सक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः ७।१।७५। एषामनङ् स्यात् टादावचि, स चोदात्तः। 'अल्लोपोऽनः' (सू २३४)। दध्ना। दध्ने। दध्नः२।

---

अनादये (ई. ६९, ७२)—न आदिः = अनादिः, तस्मै 'अनादये—अनादिने इति। अनादिशब्दात् ङेविभक्तौ 'तृतीयादिषु भाषितपुस्कं पुंवद्गालवस्य' इति विभाषया पुंवत्वे सति 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमोऽप्रवृत्तेः शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायां 'घेर्ङिति' इति गुणे अयादेशे 'अनादये' इति। पुंवत्त्वाऽभावपक्षे—नुमि 'अनादिने' इति।

अनादिशब्दस्य कथं भाषितपुंस्कत्वमिति चेच्छृणु-भाषितः पुमान् येन प्रवृत्तनिमित्तेन तत् भाषितपुंस्कम्, अर्थात् नपुंसकत्वे लिङ्गान्तरे च यस्य एकमेव वाच्यतावच्छेदकं तत् शब्दस्वरूपं भाषितपुंस्कशब्देन विवक्षितम्। अनादिशब्दश्च उत्पत्त्यभावात्मकमनादित्वं पुरस्कृत्य स्त्रीपुन्नपुंसकतत्तद्व्यक्तिप्रत्यायकः इति, भवति तस्य प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुंस्कतेति तत्त्वविदः। उक्तं च—

यन्निमित्तमुपादाय पुंसि शब्दः प्रवर्तते।
क्लीबवृत्ति तदेव स्यादुक्तपुंस्कं तदुच्यते॥ इति॥

शब्दः पुंस्त्वे यमर्थं भजते यच्च शब्दस्वरूपं भजते, तमेवार्थं प्रधानीकृत्य शब्द-स्वरूपमपि पुंवदेव भवेच्चेत् स शब्दः भाषितपुंस्कसंज्ञां लभते इति।

पीलुने (ई. ७०)—पीलुर्वृक्षः, तत्फलं पीलु, तस्मै 'पीलुने' इति। 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुम्। अत्र 'तृतीयादिष्वि'ति न पुंवत्वं, प्रवृत्तिनिमित्त-भेदात्। तथा हि वृक्षत्वव्याप्यजातिविशेषात्मकं पीलुत्वं वृक्षविशेषे वाच्ये प्रवृतिनिमित्तम्, फलविशेषे वाच्ये तु फलत्वव्याप्यजातिविशेषात्मकं पीलुत्वं प्रवृत्तिनिमित्तम्, इति प्रवृत्तिनिमित्तभेदेन भाषितपुंस्कत्वाभावान्न पुंवदित्युक्तिः सङ्गतेति। तदुक्तं—

पीलुर्वृक्षः फलं पीलु, तस्मै पीलुने न तु पीलवे।
वृक्षे निमित्तं पीलुत्वं तज्जत्वं तत्फले पुनः॥

---

अस्थि—नपुंसकलिंगवृत्ती अस्थि, दधि, सक्थि तथा अक्षि शब्दों को उदात्त अनङ् आदेश होता है, तृतीयादि अजादि विभक्ति के परे।

दध्नोः २। दध्नाम्। दध्नि-दधनि। शेषं वारिवत्। एवमस्थिसक्थ्य-क्षीणि। तदन्तस्याप्यनङ् अतिदध्ना। इति इदन्तप्रकरणम्।

सुधि। सुधिनी। सुधीनि। हे सुधे–हे सुधि। सुधिया–सुधिना। प्रध्या-प्रधिना। इति ईदन्तप्रकरणम्।

मधु। मधुनी। मधूनि। हे मधो–हे मधु। एवमम्ब्वादयः। 'सानु'शब्दस्य 'स्नुः' वा, स्नूनि-सानूनि। प्रियक्रोष्टु। प्रियक्रोष्टुनी। तृज्वद्भावात्पूर्वविप्रति-षेधेन नुम्। प्रियक्रोष्टूनि। टादौ पुंवत् पक्षे प्रियक्रोष्ट्रा। प्रियक्रोष्टुना। प्रिय-क्रोष्ट्रे, प्रियक्रोष्टवे। अन्यत्र तृज्वद्भावात् पूर्वविप्रतिषेधेन नुमेव। प्रियक्रोष्टुने। 'नुमचिर–' (वा ५०) इति नुट्। प्रियक्रोष्टूनाम्। इति उदन्ताः।

---

अतिदध्ना (ई. ६४)—दधि अतिक्रांतं कुलमतिदधि, तस्य तृतीयैकवचने 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' इत्यनेन विधीयमानस्यानङादेशस्य अङ्गाधि-कारस्थत्वेन 'पदाङ्गाधिकारे' इति परिभाषया तदन्तस्यातिदधिशब्दस्याप्यनङि उक्तं रूपं सिद्धम्।

सुधिया (ई. ७२)—'सुष्ठु ध्यायति' इति विग्रहे निष्पन्नात् सुधीशब्दात् तृतीयैकवचने 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य' इति पुंवद्भावे सति 'अचि श्नुधातु—' इतीयङि अनुबन्धलोपे 'सुधिया' इति 'पुंवद्भावाभावपक्षे 'ह्रस्वो नपुंसके—' इति ह्रस्वे 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमि 'सुधिना' इति, अत्र सुधातृत्वस्य, शोभनज्ञानवत्त्वस्य वा प्रवृत्तिनिमित्तस्य पुंसि नपुंसके च सत्त्वात् भाषितपुंस्कत्वमुपपन्नमिति ध्येयम्।

स्नूनि (ई. ७१, ७३)—सानुशब्दस्य द्वितीयाबहुवचने शसि 'मांसपृतना-सानूनां मांसपृत्स्नवो वाच्यः शसादौ वा' इति 'स्नु' आदेशे 'जश्शसोः शिः' इति श्यादेशे 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमि उपधादीर्घे 'स्नूनि' इति। शसादौ वेत्युक्तत्वात् पक्षे 'सानूनि' इति च भवति।

प्रियक्रोष्टूनि (ई. ६२)—प्रियक्रोष्टुशब्दाज्जसि विभक्तौ जसः शिभावे 'प्रियक्रोष्टु इ' इति स्थिते 'तृज्वत्क्रोष्टुः' इति प्राप्तं तृज्वद्भावं बाधित्वा पूर्वविप्रतिषेधे नुमि 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इति दीर्घे उक्तं रूपं सिद्धम्।

मधु—'मद्यु मद्ये पुष्परसे'—'मधुर्वसन्ते चैत्रे च' इति कोशात् मधुशब्दस्य भाषितपुंस्कत्वेऽपि पुन्नपुंसकयोः मधुत्व-वसन्तत्वादिरूप-प्रवृत्ति-निमित्तभेदात् 'मधुना' इत्यत्र 'तृतीयादिष्विति न पुंवत्।

सुलु । सुलुनी । सुलूनि । पुनस्तद्वत् । सुल्वा-सुलुना । इत्यूदन्ताः ।

धातृ । धातृणी । धातॄणि । हे धातः-हे धातृ । धात्रा-धातृणा । एवं ज्ञातृ-कर्त्रादयः । इत्यृदन्ताः ।

३२३ । एच इग्घ्रस्वादेशे १।१।४८। आदिश्यमानेषु ह्रस्वेषु मध्य एच इगेव स्यात् । प्रद्यु । प्रद्युनी । प्रद्यूनि । प्रद्युना । इत्यादि । इह न पुंवत् यदिगन्तं 'प्रद्यु' इति, तस्य भाषितपुंस्कत्वाभावात् । एवमग्र्यपि । इत्योदन्ताः ।

प्ररि । प्ररिणी । प्ररीणि । प्ररिणा । एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् 'रायो हलि' ( सू. २८६ ) इत्यात्वम् । प्राराभ्याम् । प्राराभिः । 'नुमचिर-' (वा० ५०) इति

---

सुलुना ( ई. ६४ )—सुष्ठु लुनाति = छिनत्तीति सुलु ( अस्त्रविशेषः ) । तस्य तृतीयैकवचने-'सुल्वा-' 'सुलुना' इति भवति । तत्र हि—शोभनलवन-कर्तृत्वस्य पुन्नपुंसकयोरेकमेव प्रवृत्तिनिमित्तमिति भाषितपुंस्कत्वात् 'तृतीयादिष्वि'ति पुंवत्त्वपक्षे 'ओः सुपि' इति यण् । नाभावस्तु न, पुंवत्त्वे ह्रस्वाभावेनाऽघित्वात् । पुंवत्त्वाभावपक्षे तु ह्रस्वे कृते यणं बाधित्वा नुमि 'सुलुना' इति ।

प्राराभ्याम् ( ई. ६९, ७३ )—प्रकृष्टो राः धनं यस्येति विग्रहे निष्पन्नात् प्ररैशब्दात् भ्यामि 'ह्रस्वो नपुंसके-' इति 'एच इग्घ्रस्वादेशे' इति नियमेन एच् रूपस्य ऐकारस्य इकारे ह्रस्वे कृते 'एकदेशविकृतन्यायेन, 'रायो हलि' इत्यात्वे 'प्राराभ्याम्' इति निष्पन्नम् ।

प्राराणाम् ( ई. ६४, ६८, ७० )—प्रकृष्टः राः = धनं, यस्य इति बहुव्रीहौ प्ररैशब्दः, तस्य नपुंसकह्रस्वत्वे 'प्ररि इति' तस्मादामि 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटि 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमि च प्राप्ते 'नुमचिरतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इति पूर्वविप्रषेधान्नुमं बाधित्वा नुटि 'रायो हलि' इत्यात्वे णत्वे 'प्राराणाम्' इति माधवः ।

---

एच—ह्रस्वता विधान होने पर 'एच्' के स्थान में 'इक्' ही ह्रस्व होता है, अर्थात् ए-ऐ के स्थान में 'इ' और ओ-औ के स्थान में 'उ' ही ह्रस्व वर्ण होता है ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' हिन्दी टीका में नपुंसकलिंग समाप्त ।

—❀::❀—

नुम्ब्यात्वे 'प्रराणाम्' इति माधवः। वस्तुतस्तु सन्निपातपरिभाषया नुम्ब्यात्वं न। 'नामि' (सू २०९) इति दीर्घस्त्वारम्भसामर्थ्यात् परिभाषां बाधते इत्युक्तम्। प्ररीणाम्। इत्यैदन्ताः।

सुनु। सुनुनी। सुनूनि। सुनुना। सुनुने। इत्यादि। इत्यौदन्ताः।

इत्यजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्।

—:※:—

# अथ हलन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम्

३२४। हो ढः ८।२।३१। हस्य ढः स्याज्झलि पदान्ते च। 'हल्ङ्याप्—' (सू. २५२) इति सुलोपः। पदान्तत्वाद्धस्य ढः। जश्त्वचर्त्वे, लिट्-लिड्। लिहौ। लिहः। लिहम्। लिहौ। लिहः। लिहा। लिड्भ्याम्। लिट्त्सु-लिट्सु। ३२५। दादेर्धातोर्घः ८।२।३२। उपदेशे दादेर्धातोर्हस्य घः स्याज्झलि पदान्ते च। 'उपदेशे' किम्? 'अधोक्' इत्यत्र यथा स्यात्। दामलिहमात्मनः इच्छति

---

वस्तुतस्तु ह्रस्वान्तमुवजीव्य प्रवृत्तस्य नुटस्तद्विघातकत्वं प्रति निमित्तत्वाऽसम्भवात् नुटि कृते आत्वं न भवतीति 'प्ररीणाम्' इत्येव साधु।

इति 'इन्दुमती' टीकायाम् अजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्।

—:०:—

लिट्त्सु (ई. ७३)—लिह्शब्दात्सुपि अनुबन्धलोपे 'लिह् सु' इति स्थिते 'हो ढः' इत्यनेन हस्य ढत्वे 'जलां जशोऽन्ते' इत्यनेन ढस्य जश्त्वेन डकारे 'लिड् सु' इति दशायां 'डः सि धुट्' इति डस्य धुटि अनुबन्धलोपे 'लिड् ध् सु' इति जाते 'खरि च' इत्यनेन धस्य चर्त्वेन तकारे पुनः 'खरि च' इति डस्य चर्त्वेन टकारे 'लिट्त्सु' इति। धुडभावपक्षे डकारस्य चर्त्वेन टकारे 'लिट्सु' इति।

उपदेशे किम् (ई. ६७)—अयम्भावः भाष्ये धुगित्यत्र धत्वस्यासिद्धत्वात् ढत्वं प्राप्नोतीत्याशंक्य अपवादत्वात् धत्वमिति समाधाय अथवा होढोऽदादेः, धारोर्घः' इति योगं विभज्य, उत्तरयोगे तत्रहितदादिपदानुवृत्तिरित्युक्तम्। तदनुवृत्तिर्व्यर्था सति उपदेशे इत्यर्थं बोधयति, तदभावे 'अधोग्' इत्यत्र

---

हो ढः—झल् के परे अथवा पदान्त में वर्तमान हकार के स्थान में ढकार आदेश होता है।

दादे—उपदेशावस्था में झल् के परे अथवा पदान्त में वर्तमान दकारादि धातु के हकार के स्थान में घकार आदेश होता है।

दामलिह्यति । ततः क्विपि दामलिट् । अत्र माभूत् । ३२६ । **एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः**७।२।३७ धातोरवयवो य एकाच् झषन्तस्तदवयवस्य बशः स्थाने भष् स्यात्सकारे ध्वशब्दे पदान्ते च । 'एकाचो धातोः' इति सामानाधिकरण्येनान्वये त्विह न स्यात् गर्दभमाचष्टे गर्दभयति । ततः क्विप्, णिलोपः गर्धप् । 'झलि' इति निवृत्तम् स्ध्वोर्ग्रहणसामर्थ्यात् । तेनेह न—दुग्धम् । दोग्धा । व्यपदेशिवद्भावेन धात्ववयवत्वाद्भष्भावः । जश्त्वचर्त्वे धुक् । धुग् । दुहौ । दुहः । षत्वचर्त्वे, धुक्षु । ३२७ । **वा-द्रुह-मुह-ष्णुह-ष्णिहाम्** ८।२।३३ । एषां हस्य वा घः स्याज्झलि पदान्ते च । पक्षे ढः, ध्रुक्-ध्रुग्-ध्रुट्-ध्रुड् । द्रुहौ । द्रुहः । ध्रुग्भ्याम्

---

सत्यडागमे दादित्वाऽभावात् घत्वं न स्यादित्यव्याप्तिः, दामलिहमात्मनः इच्छति दामलिह्यति ततः क्विपि अल्लोपे यलोपे च कृते प्रातिपदिकत्वात् सौ सोर्लोपे 'दामलिट्' इत्यादौ दादित्वेन घत्वं स्यादित्यतिव्याप्तिरिति भावः ।

एकाच इति—अयम्भावः—'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' इति सूत्रे 'सम्भवति सामानाधिकरण्ये वैयधिकरण्यस्यान्याय्यत्वम्' इति न्यायेन 'एकाचः' इति धातोरेव विशेषणं भवितुमर्हति । तथाच—गर्धप् गधब् इत्यादौ धातोरेकाच्त्वाभावेन भष्भावो न स्यादिति लक्ष्यानुरोधेन क्वचिद् वैयधिकरण्येनान्वयो भवति, ततश्च धातोरवयवो य एकाच् झषन्तस्तदवयवस्येत्यादिसूत्रार्थेनोक्तप्रयोगे भष्भावसिद्धिः । धुगित्यादौ धाधुरेवैकाच् न तु तदवयव इति व्यपदेशिवद्भावेनैकाच्त्वमाश्रित्य भष्भावसिद्धिः ।

गर्धप् ( ई. ६३, ६६, ६९ )—गर्दभमाचष्टे इति विग्रहे णिचि तदन्तात् कर्तरि क्विपि तस्य सर्वापहारे 'णेरनिटि' इति णिलोपे 'गर्दभ्' इति । तस्मात् गर्दभ्शब्दात् सौ 'एकाचो वशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' इति दस्य भष्भावे सुलोपे भस्य चर्त्वे 'गर्धप्' इति ।

धुक् ( ई. ६८ )—'दुह्' इति क्विबन्तप्रातिपदिकात् सौ 'हल्ङ्याभ्यः—' इति सुलोपे 'हो ढः' इति ढत्वं प्रबाध्य 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य धत्वे कृते झषन्तत्वात् 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' इति भष्भावे धस्य जश्त्वे 'वाऽ-

---

एकाचो-धात्ववयव जो झषन्त एकाच्, तदवयव जो वश् उसको भषभाव होता है, सकार और ध्व शब्द के परे, पदान्त में ।

वाद्रुह—द्रुह, मुह्, ष्णुह् और ष्णिह सम्बन्धी हकार के स्थान में घकार हो, झल् के परे, पदान्त में ।

घ्रुड्भ्याम् । घ्रुक्षु-घ्रुट्त्सु-घ्रुट्सु । एवं मुहष्णुहष्णिहाम् । विश्ववाट्-विश्ववाड् । विश्ववाहौ । विश्ववाहः । विश्ववाहम् । विश्ववाहौ । ३२८ । इग्यणः सम्प्रसारणम् १।१।४५। यणः स्थाने प्रयुज्यमानो य इक् स सम्प्रसारणसंज्ञः स्यात् । ३२९ । वाह ऊठ् ६।४।१३२। भस्य वाहः सम्प्रसारणमूठ् स्यात् ।

३३० । सम्प्रसारणाच्च ६।१।१०८। सम्प्रसारणादचि परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् 'एत्येधत्यूठ्सु' ( सू. ७३ ) विश्वौहः । विश्वौहा । इत्यादि । 'छन्दस्येव ण्विः' इति पक्षे णिजन्ताद्विच् । ३३१ । चतुरनडुहोरामुदात्तः ७।१।९८। अनयोराम् स्यात्सर्वनामस्थाने, स चोदात्तः । ३३२ । सावनडुहः ७।१।८२।

---

वसाने' इति स्य चर्त्वे 'धुक्' इति । पक्षे 'धुग्' इति । ननु धत्वे कृते 'दुघ्' इति झषन्तमेकाचकम्, तस्य धातुत्वात् धात्ववयवत्वाऽभावात् कथमिह दकारस्य भष्भावेन धकारः स्यादिति चेन्न 'राहोश्शिरः' इतिवत् व्यपदेशिवद्भावेन धात्ववयवत्वात्तत्सिद्धेः ।

विश्वौहः ( ई. ७३ )—विश्ववाह्शब्दाच्छसि विश्ववाह् अस्, इति स्थिते 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' इति 'सम्प्रसारणसंज्ञायां च कृतायां 'वाह ऊठ्' इति वकारस्य सम्प्रसारणे ऊठि 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'एत्येधत्यूठ्सु' इति वृद्धौ सकारस्य रुत्वे विसर्गे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

सावनडुहः—'सावनडुहः' इति सूत्रे 'आच्छीनद्योर्नुम्' इत्यत आदिति पदमनुवर्तते । ततश्चावर्णात्परानडुह्शब्दस्य नुम् स्यात्सौ परे इति सूत्रार्थो भवति । एवञ्च 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इति सूत्रविहितस्यामः सर्वनामस्थानविषयो भवति 'सावनडुहः' इतिविहितस्य नुमस्तु सुरेव विषय इति आदित्य-

---

इक्—यण् ( य् व् र् ल् ) के स्थान में प्रयुज्यमान जो इक् (इ उ ऋ ऌ) वह सम्प्रसारणसंज्ञक होता है ।

वाह—वाहशब्दान्त भसंज्ञक 'वाह्' को ऊठ् आदेश होता है ।

सम्प्र—सम्प्रसारण से अच् पर में रहने से पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है ।

चतुर्—चतुर् और अनडुह् शब्दान्त अंग को सर्वनामस्थान विभक्तियों के परे आम् का आगम होता है और वह आम् उदात्त भी हो जाता है ।

सावन—सु प्रत्यय के परे अंगसंज्ञक अनडुह् शब्द को नुम् का आगम होता है ।

अस्य नुम् स्यात्सौ परे। 'आत्' इत्यधिकारादवर्णात्परोऽयं नुम्। अतो विशेषविहितेनापि नुमा आम् न बाध्यते। आमा च नुम् न बाध्यते। सोर्लोपः। नुम्विधिसामर्थ्यात् 'वसुस्रंसु—' (सू. ३३४) इति दत्वं न। संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वान्नलोपो न। अनड्वान्। ३३३। अम् सम्बुद्धौ ७।१।९९। चतुरनडुहोरम् स्यात्सम्बुद्धौ। आमोऽपवादः। हे अनड्वन्। अनड्वाहौ। अनड्वाहः। अनडुहा। ३३४। वसु-स्रंसु-ध्वंस्वनडुहां दः ८।२।७२। सान्तवस्वन्तस्य स्रंसादेश्च दः स्यात् पदान्ते। अनडुद्भ्याम्। इत्यादि। सान्त इति किम्? विद्वान्। 'पदान्ते' इति किम्? स्रस्तम्। ध्वस्तम्। ३३५ सहेः साडः सः ८।३।५६। साड्रूपस्य सहेः सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात्। तुराषाट्

---

धिकारात् विशेषविहितेनापि नुमा आमो बाधको न भवति। यदि नुमा आम्बाधः स्यात्तदा 'आत्' इत्यधिकार एव व्यर्थः स्यादिति उपजीव्यविरोधः स्यात्। एवं रीत्या आमा च नुम् न बाध्यते। नुम्विधिसामर्थ्याद्दत्वं न। संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वान्नलोपो न।

अनड्वान् (ई. ६९, ७१, ७३, ७५)—अनडुह्शब्दात् सौ 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इत्यामि 'इको यणचि' इति यणादेशे 'सावनडुहः' इति नुमि सुलोपे संयोगान्तलोपे तस्यासिद्धत्वान्नलोपाभावे नुम्विधसामर्थ्यात् 'वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः' इति दत्वाभावे 'अनड्वान्' इति। अत्र विशेषविहितेन नुमा सामान्यविहितस्यामः तक्रकौण्डिन्यन्यायेन बाधात् कथम् आमिति न शंक्यम्, 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति सूत्रात् आदित्यनुवृत्त्या अनडुह्शब्दसम्बंध्यवर्णात्परो नुमित्यर्थे उपजीव्यविरोधेनाबाधात्,

तुराषाट् (ई. ६७, ६८)—तुरं सहते इति विग्रहे 'छन्दसि सहः' इति सूत्रेण ण्विप्रत्यये अनुबन्धलोपे 'नहिवृति—' इति वृद्धौ अपृक्तलोपे 'तुरासाह्' इति। लोके तु सहेर्ण्यन्तात् क्विपि अपृक्तलोपे 'अन्येषां पूर्वपदस्य दीर्घः' इति दीर्घे 'तुरासाह्' इति। तस्मात् तुरासाहशब्दात् सौ सोर्हल्ङ्यादिलोपे

---

अम्—चतुर् तथा अनडुह् शब्दों को अम् का आगम होता है, सम्बुद्धि के परे।

वसु—पदसंज्ञक सकारान्त वसु (क्वसु) प्रत्ययान्त, स्रंस् धात्वन्त तथा अनडुह् शब्द के स्थान में दकारादेश होता है।

सहेः—साट् के रूप में परिवर्तित सह् धातु के स्थान में मूर्धन्य षकार आदेश होता है।

तुराषाड् । तुरासाहौ । तुरासाहः । तुराषाड्भ्याम् । इत्यादि । 'तुरं सहते' इत्यर्थे 'छन्दसि सहः' ( सू. ३४०९ ) इति ण्विः । लोके तु साहयतेः क्विप् । 'अन्येषामपि–' ( सू. ८४८ ) इति पूर्वपदस्य दीर्घः । इति हान्ताः ।

३३६ । दिव औत् ७।१।८४। दिविति प्रातिपदिकस्य औत्स्यात्सौ परे । अल्विधित्वेन स्थानिवत्त्वाभावात् 'हल्ङ्याप्–' ( सू. २५२ ) इति सुलोपो न सुद्यौः । सुदिवौ । सुदिवः । सुदिवम् । सुदिवौ । ३३७ । दिव उत् ६।१।३१। दिवोऽन्तादेश उकारः स्यात्पदान्ते । सुद्युभ्याम् । सुद्युभिः । इति वान्ताः ।

चत्वारः । चतुरः । चतुर्भिः । चतुर्भ्यः २ ।

३३८ । षट्चतुर्भ्यश्च ७।१।५५। षट्संज्ञकेभ्यश्चतुरश्च परस्यामो नुडागमः स्यात् । णत्वम्, द्वित्वम्, चतुर्ण्णाम् । ३३९ । रोः सुपि ८।३।१६। सप्तमी-

---

'हो ढः' इति हस्य ढत्वे ढस्य जश्त्वे 'सहेः साढः सः' इति षत्वे चर्त्वे 'तुराषाट्' इति ।

णत्वं द्वित्वं चतुर्ण्णाम् — ननु 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे' इति परिभाषया द्वित्वे कर्त्तव्ये 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति सूत्राप्रवृत्त्या परत्वात् द्वित्वे ततो णत्वमित्येव लेख्यमिति चेन्न' 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे' इति परिभाषया द्वित्वे कर्त्तव्ये, अन्यदसिद्धं न भवति । द्वित्वं यदि परं स्यात्तदसिद्धं स्यादेवेत्यर्थेन द्वित्वस्यासिद्धत्वाद् णत्वं द्वित्वमिति मूलोक्तस्य युक्तत्वात् ।

चतुर्ण्णाम् ( ई. ६५, ६७, ७२ )—'चतुर्' शब्दात् आमि 'षट् चतुर्भ्यश्च' इति नुटि 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' इति णत्वे 'अचो रहाभ्यां द्वे' इति वा द्वित्वे 'चतुर्णाम्–चतुर्ण्णाम्' इति । नच पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे' इति बलात् णत्वं प्रति द्वित्वस्याऽसिद्धत्वाभावात् परत्वात् द्वित्वे णत्वं युक्तमिति वाच्यम्, 'द्वित्वे परसवर्णत्वं सिद्धं वक्तव्यम्' इति वार्तिकारम्भसामर्थ्यात् वर्णद्वित्वे तदप्रवृत्तेः । ननु वाक्क्, वाग्गिति भाष्योदाहरणेन वर्णद्वित्वेऽपि तत्प्रवृत्तिरावश्यकीति चेन्न, द्वित्वे कर्तव्येऽन्यदसिद्धं न, द्वित्वं त्वसिद्धमेवेत्यर्थकरणेनादोषात् ।

---

दिव—प्रातिपदिक दिव् को उकारान्त आदेश होता है, पदान्त में ।

षट्—षट्संज्ञक एवं चतुर् शब्द से पर आम् को नुट् का आगम होता है ।

रोः सुपि—सप्तमी बहुवचन सुप् विभक्ति के परे रु-सम्बन्धी रेफ के स्थान में ही विसर्ग होता है—अन्य रेफ को नहीं ।

बहुवचने रोरेव विसर्जनीयो नान्यरेफस्य। षत्वम्। षस्य द्वित्वे प्राप्ते। ३४०। शरोऽचि ८।४।४९। अचि परे शरो न द्वे स्तः। चतुर्षु। प्रियचत्वाः। हे प्रियचत्वः। प्रियचत्वारौ। प्रियचत्वारः। गौणत्वे तु नुट् नेष्यते। प्रियचतुराम्। प्राधान्ये तु स्यादेव। परमचतुर्णाम्। इति रेफान्ताः।

कमलं कमलां वा आचक्षाणः कमल्। कमलौ। कमलः। षत्वम् कमल्षु। इति लान्ताः।

३४१। मो नो धातोः ८।२।६४। मान्तस्य धातोर्नः स्यात् पदान्ते। मत्वस्यासिद्धत्वान्नलोपो न। प्रशाम्यतीति प्रशान्। प्रशामौ। प्रशामः। प्रशान्भ्याम् इत्यादि। ३४२। किमः कः ७।२।१०३। किमः कः स्याद्विभक्तौ। अकच्सहितस्याप्ययमादेशः। कः। कौ। के। कम्। कौ। कान्। इत्यादि सर्ववत्। ३४३। इदमो मः ७।२।१०८। इदमो मः स्यात्सौ परे। त्यदाद्यत्वापवादः।

---

चतुर्षु (ई. ७२, ७५)—'चतुर्' शब्दात् सुपि विभक्तौ 'चतुर् सु' इति स्थिते रेफस्य विसर्गे प्राप्ते 'रोः सुपि' इति निषेधे रेफस्य इण्त्वेन 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'चतुर्षु' इति। नच 'अचोरहाभ्यां द्वे' इत्यनेन षकारस्य द्वित्वं कुतो नेति वाच्यम्? 'शरोऽचि' इति निषेधात्।

प्रियचतुराम् (ई. ६७, ६९)—प्रियाश्चत्वारो यस्य स 'प्रियचत्वाः', तेषां 'प्रियचतुराम्'। बहुव्रीहौ प्रियचतुर् शब्दो विशेष्यनिघ्नः एक-द्वि-बहुवचनान्तः। अत्र तु 'प्रियचतुर् आम्' इति स्थिते इतरपदार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताश्रयत्वरूपगौणत्वस्य सत्त्वात् गौणमुख्यन्यायेन 'षट्चतुर्भ्यश्च' इत्यस्याप्रवृत्त्या नुट् न।

अकच्सहितस्याप्ययमादेशः—अयम्भावः, 'किमः कः' इति सूत्रे 'इमः अः' इति न्यासे त्यदाद्यनुवृत्त्या त्यदादेरिमोः स्यादित्यर्थेनैव सिद्धे ककारोच्चारणं व्यर्थं सत् अकच्सहितस्याप्ययमादेश इति ज्ञापयति, तेन साकचि कक इति रूपन्नेति। न च त्यदादौ किम्-शब्दस्य पाठाभावेन कथमादेश इति वाच्यम्, त्यदादौ पाठकरणेनादोषात्। कुतिहोरित्यत्र उतिहोरिति न्यासेन क्वातीत्यत्र वातीति न्यासेन च सर्वदोषपरिहार इति ज्ञेयम्।

---

मोनो—मान्त धातु के मकार को नकारादेश होता है, पदान्त में।

किमः—किम् के स्थान में 'क' आदेश होता है, विभक्ति के परे।

इदमो—इदम् शब्द के मकार को मकार ही आदेश होता है, सु के परे।

३४४। इदोऽय् पुंसि ७।२।१११। इदम इदोऽय् स्यात् सौ पुंसि। सोर्लोपः। अयम्। त्यदाद्यत्वं पररूपत्वञ्च। ३४५। दश्च ७।२।१०९। इदमो दस्य मः स्याद्विभक्तौ। इमौ। इमे। 'त्यदादेः सम्बोधनं नास्ति' इत्युत्सर्गः। ३४६। अनाप्यकः ७।२।११२। अककारस्येदम इदोऽन् स्यादापि विभक्तौ। 'आप्' इति 'टा' इत्यारभ्य सुपः पकारेण प्रत्याहारः। अनेन। ६४७। हलि लोपः ७।२।११३। अककारस्येदम इदो लोपः स्यादापि हलादौ। "नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे' (प. १०६)। ३४८। आद्यन्तवदेकस्मिन् १।१।२१। एकस्मिन्क्रियमाणं कार्यमादाविवान्त इव स्यात्। आभ्याम्।

---

आभ्याम् (ई. ६५, ६७, ७३)—इदम् शब्दात् भ्यामि विभक्तौ 'त्यदादीनामः' इति अत्वे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'इद भ्याम्' इति जाते 'हलि लोपः' इति 'अलोन्त्यस्ये'ति परिभाषया अन्त्यस्य दकारस्य लोपे प्राप्ते 'नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे' इति परिभाषया अलोन्त्यविध्यभावे इद्भागस्यैव लोपे 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इत्येकस्मिन्नेवाऽकारे अन्तवद्भावेन अदन्तत्वं मत्वा 'सुपि चे'ति दीर्घे 'आभ्याम्' इति।

---

इदोऽय—इदम् सम्बन्धी इद् के स्थान में अय आदेश होता है, सु के परे, पुंल्लिग में।

दश्च—इदम् शब्दावयव दकार को मकारादेश होता है, विभक्ति के परे।

अनाप्य—ककार से रहित इदम् शब्दावयव इद् को अन् आदेश होता है, आप् (तृतीयादि) विभक्ति के परे।

हलि ककाररहित इदम् शब्द के इद् भाग का लोप होता है, हलादि आप् (तृतीयादि) विभक्ति के परे।

नानर्थ—अभ्यास विकार को छोड़ कर अनर्थक में 'अलोन्त्य' परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है।

आद्यन्त—तदादि एवं तदन्त में विधीयमान जो कार्य वह तदादि में और तदन्त में जिस प्रकार होता है उसी प्रकार असहाय (केवल) में भी होता है।

नोट – शब्द में एक ही वर्ण रहे तो वही वर्ण आदि है और वही वर्ण अन्त है—यथा 'देवदत्तस्य एक एव पुत्रः, स एव ज्येष्ठः, स एव कनिष्ठः, स एव मध्यमः।

३४९। नेदमदसोरकोः ७।१।११। अककारयोरिदमदसोर्भिस ऐस् न स्यात्। एत्वम्। एभिः अत्वम्, नित्यत्वात् ङेः स्मै, पश्चाद्धलि लोपः। अस्मै। आभ्याम्। एभ्यः। अस्मात्। आभ्याम्। एभ्यः। अस्य। अनयोः। एषाम्। अस्मिन्। अनयोः। एषु। ककारयोगे तु—अयकम्। इमकौ। इमके। इमकम्। इमकौ। इमकान्। इमकेन। इमकाभ्याम्। इमकैः। ३५०। इदमोऽन्वादेशेऽनुदात्तस्तृतीयादौ २।४।३२। अन्वादेशविषयस्येदमोऽनुदात्तोऽश् आदेशः स्यात् तृतीयादौ। अश्-वचनं साकच्कार्थम्। ३५१। द्वितीयाटौस्स्वेनः २।४।३४। द्वितीयायां टौसोश्च परतः इदमेतदोरेनादेशः स्यादन्वादेशे। 'किञ्चित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानमन्वादेशः'। यथा अनेन व्या-

अश्वचनं साकच्कार्थम्। ननु 'इदमोऽन्वादेशे' इति सूत्रे अनुदात्तमात्रविधानेन 'आभ्याम्' इत्यादिसिद्धौ 'अश्' विधानं किमर्थमिति चेन्न साकचि 'हलि लोपः' इत्यस्याप्राप्त्या तत्र 'आभ्याम्' इति सिद्धये 'अश्' विधानस्यावश्यकत्वात्।

नेद—ककार रहित इदम् और अदस् शब्द सम्बन्धी भिस् को ऐस् आदेश नहीं होता है।

नोट—'इदम्' शब्द समीप में स्थित किसी मनुष्य या वस्तु के लिये तथा 'एतत्' शब्द अत्यन्त समीपवर्ती मनुष्य या वस्तु के लिये प्रयुक्त होता है। इसी तरह दूर में स्थित प्रत्यक्ष के लिये 'अदस्' शब्द और अप्रत्यक्ष के लिये 'तत्' शब्द का प्रयोग होता है। कहा भी है—

**'इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्त्यैतदोऽपि रूपम्।**
**अदसस्तु विप्रकृष्टे तदति परोक्षे विजानीयात्॥**

इदमो—अन्वादेश (कथित का कथन) में इदम् शब्द को अनुदात्त अश् (अ) आदेश हो जाता है, तृतीयादि विभक्ति के परे।

द्विती—द्वितीया विभक्ति के परे तथा टा और ओस् विभक्ति के परे इदम् शब्द को 'एन' आदेश होता है, अन्वादेश (कथित का कथन) में।

किंचित्—किसी कार्य के विधान के लिये जिसका उपादान किया गया हो, उसी का कार्यान्तर-विधान के लिये पुनः उपादान करना 'अन्वादेश' कहा जाता है। यथा—(१) अनेन व्याकरणम् अधीतम् (२) एनं छन्दोऽध्यापय। अर्थात् (१) इसने व्याकरण पढ़ लिया (२) इसे वेद पढ़ाइये। यहां पहले

करणमधीतम् 'एनं छन्दोऽध्यापय' इति । 'अनयोः पवित्रं कुलम्' 'एनयोः प्रभूतं स्वम्' इति । एनम् । एनौ । एनान् । एनेन । एनयोः । इति मान्ताः ।

गणयतेर्विच् । सुगण् । सुगणौ । सुगणः । सुगण्ट्सु-सुगण्ठ्सु-सुगण्सु । क्विप्, 'अनुनासिकस्य क्विझलोः–' (सू. २६६६) इति दीर्घः । सुगाण् । सुगाणौ । सुगाण्ट्सु-सुगाण्ठ्सु-सुगाण्सु । इति णान्ताः ।

परत्वादुपधादीर्घः, हल्ङ्याादिलोपः ततो नलोपः । राजा । ३५२ । न ङिसम्बुद्ध्योः ८।२।८। नस्य लोपो न स्यात् ङौ सम्बुद्धौ च । हे राजन् । ङौ तु छन्दस्युदाहरणम् । 'सुपां सुलुक्–' (सू. ३५५९) इति ङेर्लुक् । निषेधसामर्थ्यात् प्रत्ययलक्षणम् । 'परमे व्योमन्' ६० ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः॥ । ङौ विषये उत्तरपदे परे 'न ङिसम्बुद्धयोः' (सू. ३५२) इत्यस्य निषेधो वाच्य इत्यर्थः । चर्मणि तिला अस्य चर्मतिलः । ब्रह्मनिष्ठः । राजानौ । राजानः । राजानम् । राजानौ । 'अल्लोपोऽनः' (सू. २३४) श्चुत्वम् । न चाल्लोपः स्थानिवत्, पूर्वत्रासिद्धे तन्निषेधात् । नापि बहिरंगतयाऽसिद्धः, यथोद्देशपक्षे षाष्ठीं परिभाषां प्रति श्चुत्वस्यासिद्धतयाऽन्तरंगाभावेन परिभाषाया अप्रवृत्तेः । जञोर्ज्ञः । राज्ञः । राज्ञा ।

---

राज्ञः ( ई. ६०, ६३, ७० )—राजन्शब्दाच्छसि भसंज्ञायामल्लोपोऽन इत्यल्लोपे स्तोः श्चुना श्चुरिति श्चुत्वे 'राज्ञः' इति । न चात्र पञ्चमीसमास-

---

व्याकरणाऽध्ययन रूप कार्य का विधान किया गया था और पुनः उसी के विषय में वेद पढ़ाना रूप अन्य कार्य का विधान किया जा रहा है, अतः द्वितीय वाक्य में 'अन्वादेश' है । इसी लिये यहां 'एनम्' का प्रयोग किया गया है ।

इसी प्रकार ( १ ) 'अनयोः पवित्रं कुलम्' ( २ ) 'एनयोः प्रभूतं स्वम्' । यहां पहले वाक्य में कुलकी पवित्रता का विधान करने के हेतु ग्रहण किये हुए का दूसरे वाक्य में धन की अधिकता के विधान के लिये पुनः उपादान होने के कारण 'अन्वादेश' हो जाने से 'एन' आदेश हुआ ।

न ङि—ङ्यन्त तथा सम्बुध्यन्त अङ्ग ( अर्थात् ङि और सम्बुद्धि ) के परे नकार का लोप नहीं होता है ।

ङावुत्तर—उत्तरपदपूर्वक 'ङि' के परे नलोप के प्रतिषेध का प्रतिषेध अर्थात् नलोप हो जाता है—ऐसा कहना चाहिए ।

३५३। नलोपः सुप्-स्वर-संज्ञा-तुग्-विधिषु कृति ८।२।२। सुब्विधौ स्वरविधौ संज्ञाविधौ कृति तुग्विधौ च नलोपोऽसिद्धः, नान्यत्र 'राजाश्वः' इत्यादौ। इत्यसिद्धत्वादात्वमेत्वमैस्त्वं च न। राजभ्याम्। राजभिः। राज्ञे। राजभ्यः। राज्ञः। राज्ञोः। राज्ञाम्। राज्ञि-राजनि। प्रतिदीव्यतीति प्रतिदिवा। प्रतिदिवानौ। प्रतिदिवानः। अस्य भविषयेऽल्लोपे कृते—३५४। हलि च ८।२।७७। रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घः स्याद्धलि। न चाल्लोपस्य स्थानिवत्त्वम्, दीर्घविधौ तन्निषेधात्। बहिरंगपरिभाषा तूक्तन्यायेन न प्रवर्तते। प्रतिदीव्नः।

---

पक्षेऽल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात् कथं श्चुत्वमिति वाच्यम्; पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवदिति निषेधात्। नचाऽन्तरंगे श्चुत्वे कर्त्तव्ये बहिरङ्गस्याल्लोपस्यासिद्धत्वात् कथं श्चुत्वमिति वाच्यम्, यथोद्देशपक्षे षाष्ठीं परिभाषां प्रति श्चुत्वस्यासिद्धतया परिभाषाया एवाप्राप्तेः। वाह ऊठित्यत्रोठ्ग्रहणेन ज्ञापितत्वादियं षाष्ठी।

राजभ्याम् (ई. ७१, ७३)—'राजन् भ्याम्' इति स्थिते स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदत्वात् 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे 'राजभ्याम्' इति स्थिते 'सुपि चे'ति दीर्घे प्राप्ते 'नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति' इति नलोपस्याऽसिद्धत्वात् दीर्घाऽभावे 'राजभ्याम्' इति।

प्रतिदीव्नः (ई. ५६, ७०)—प्रतिदिवन्–शब्दात् शसि भसंज्ञायाम् 'अल्लोपोऽनः' इत्यकारस्य लोपे 'हलि च' इति दीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे च 'प्रतिदीव्नः' इति। ननु अल्लोपस्य 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' इति स्थानिभूतादचो लुप्ताकारात्पूर्वत्वेन दृष्टस्य इकारस्य दीर्घे कर्तव्ये स्थानिवद्भावेन वकारान्तधातोर्हल्व्यवहितपूर्वत्वाभावेन कथं दीर्घ इति चेन्न, दीर्घे कर्तव्ये स्थानिवद्भावस्य 'न पदान्त–' इति निषेधात् 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति तु न, यथोद्देशपक्षे 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति परिभाषायाः 'वाह ऊठ्' इति सूत्रस्थोऽठ्ग्रहणज्ञापिततया सापादिकत्वेन तद्दृष्ट्या 'हलि च' इति शास्त्रस्य त्रैपादिकत्वेनासिद्धतया तद्विषये तत्परिभाषाया अप्रवृत्तेः। कार्यकालपक्षे तु दोषदानमनुचितं, पक्षान्तरेणेष्टसिद्धेः।

---

नलोप—सुप्–विधि, स्वर–विधि, संज्ञा–विधि और कृत्यप्रत्यय के परे 'तुक्' विधि कर्तव्य में नलोप असिद्ध हो जाता है, (अन्यत्र = राजाश्व आदि स्थल में नहीं)।

हलि—हल् (व्यञ्जन वर्ण) के परे रेफान्त और वान्त धातु की उपधा इक् को दीर्घ होता है।

प्रतिदीव्ना, इत्यादि। यज्वा। यज्वानौ। यज्वानः। ३५५। न संयोगाद्वमन्तात् ६।४।१३७। वकारमकारान्तसंयोगात् परस्यानोऽकारस्य लोपो न स्यात्। यज्वनः। यज्वभ्याम्, इत्यादि। ब्रह्मणः। ब्रह्मणा। ब्रह्मभ्याम्, इत्यादि। ३५६। इन्-हन्-पूषार्यम्णां शौ ६।४।१२। एषां शावेवोपधाया दीर्घः नान्यत्र। इति निषेधे प्राप्ते—३५७। सौ च ६।४।१३। इन्नादीनामुपधाया दीर्घः स्यादसम्बुद्धौ सौ परे। वृत्रहा। हे वृत्रहन्। 'एकाजुत्तरपदे—' (सू ३०७) इति णत्वम्। वृत्रहणौ। वृत्रहणः। वृत्रहणम्। वृत्रहणौ। ३५८। हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु ७।३।५४। ञिति णिति च प्रत्यये नकारे च परे हन्तेर्हकारस्य कुत्वं स्यात्। ३५९। (क) हन्तेः—८।४।२२। उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य हन्तेर्नस्य णत्वं स्यात्। प्रहण्यात्। ३५९। (ख) अत्पूर्वस्य ८।४।२२। हन्तेरत्पूर्वस्यैव नस्य णत्वम्, नान्यस्य। प्रघ्नन्ति। योगविभागसामर्थ्यात्

---

वित्रहाः (ई. ६६)—वृत्रो नाम असुरः तं हतवानित्यर्थे क्विबन्तनिष्पन्नात् वृत्रहन् शब्दात् सौ 'वृत्रहन् सु' इति स्थिते वृत्रहन् शब्दे 'हन्' इत्यस्यापि 'इन-हन्-पूषार्यम्णां शौ' इति शावेव दीर्घ इति नियमात् सौ परतः 'सर्वनाम-स्थाने—'इति दीर्घे अप्राप्ते 'सौ च' इति दीर्घे हल्ङ्यादिना सुलोपे नलोपे 'वृत्रहा' इति।

---

न संयो—वकारान्त और मकारान्त संयोग से पर 'अन्' के अकार का लोप नहीं होता है।

इन्—इन्, हन्, पूषन् और अर्यमन् की उपधा का ('अपृतृन्' सूत्र से) दीर्घ हो तो 'शि' के परे ही हो (नान्यत्र = दण्डिनी, वृत्रहणौ, इत्यादि स्थल में नहीं)।

सौ च—सम्बुद्धि से भिन्न 'सु' विभक्ति के परे इन्, हन्, पूषन् तथा अर्यमन् शब्दान्त अंगों की उपधा को दीर्घ हो जाता है (पूर्व सूत्रोक्त नियम का यह बाधक सूत्र है)।

हो हन्ते—ञित् तथा णित् प्रत्ययों तथा नकार के परे हन्धातु के हकार को कवर्गादेश होता है।

हन्ते—उपसर्ग में णत्वनिमित्तक रेफ हो तो उस निमित्त से पर हन् धात्वावयव नकार को णत्व हो जाता है।

अत्पू—'अत्' पूर्वक हन् धातु के नकार को ही णत्व होता है—अन्य का नहीं।

'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा'–(प ६२) इति न्यायं बाधित्वा 'एकाजुत्तरपदे–' (सू ३०७) इति णत्वमपि निवर्त्यते। नकारे परे कुत्वविधिसामर्थ्यादल्लोपो न स्थानिवत्। वृत्रघ्नः। वृत्रघ्ना, इत्यादि। यत्तु 'वृत्रघ्नः' इत्यादौ वैकल्पिकं णत्वं माधवेनोक्तं तद्भाष्यवार्तिकविरुद्धम्। एवं शार्ङ्गिन्, यशस्विन्, अर्यमन्, पूषन्। यशस्विन्निति विन्प्रत्यये इनोऽनर्थकत्वेऽपि 'इन्हन्–' (सू ३५६) इत्यत्र ग्रहणं भवत्येव, अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति' (प १६) इति वचनात्। अर्यम्णि–अर्यमणि। पूष्णि–पूषणि। ३६०। मघवा बहुलम् ६।४।१२८। 'मघवन्' शब्दस्य वा 'तृ' इत्यन्तादेशः स्यात्। ऋ इत्। ३६१। उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः ७।१।७०। अधातोरुगितो नलोपिनोऽञ्चतेश्च नुमागमः स्यात् सर्वनामस्थाने परे। उपधादीर्घः। मघवान्। इह दीर्घे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वं न भवति, बहुल-

---

वृत्रघ्नः (ई. ६४,६८,७०,७२)–वृत्रहन् शब्दाच्छसि भसंज्ञायामल्लोपे कृते नकारे परे कुत्वविधानसामर्थ्यादल्लोपस्य स्थानिवत्वाभावे 'हो हन्तेरि'ति कुत्वे योगविभागसामर्थ्यादनन्तरस्येति न्यायं बाधित्वाऽत्पूर्वस्येत्यनेन सवर्णत्वनियमेन णत्वाप्राप्त्या वृत्रघ्न इति सिद्धम्। 'कुव्यवाये हादेशे णत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः' इति वार्तिकभाष्यविरोधेन माधवोक्तं वैकल्पिकणत्वं नादरणीयमिति।

यत्तु इति—अयंभावः–'वृत्रघ्न' इत्यादिप्रयोगेषु णत्ववारणाय 'कुव्यवाये हादेशे णत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः' इति वार्तिककारेण वार्तिकं पठितम्। भाष्यकारस्तु वृत्रघ्नः, सुघ्नः, प्राघानि एषु प्रयोगेषु णत्ववारणाय 'अत्पूर्वस्य' इति योगविभागस्य, अकार–पूर्वस्यैव हन्तेर्णत्वम्भवतीत्यर्थं कृत्वा वार्तिकं प्रत्याचख्यौ। एवञ्च महर्षिद्वयविरोधात् माधवकथितं वैकल्पिकणत्वमन्याय्यमिति।

मघवान् (ई. ६२, ६४, ६८, ७०)—मघवन्शब्दात्सौ मघवा बहुलमिति त्रन्तादेशे उगिदचामिति नुमि सुलोपे संयोगान्तलोपे प्रत्ययलक्षणेन 'सर्वनामस्थाने' इति दीर्घे मघवानिति, पक्षे मघवेति। अत्र दीर्घे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वन्तु न शङ्क्यम्; भाष्ये श्वन्नुक्षन्निति निपातनान्मघशब्दान्मतुपा च भाषायामपि शब्दद्वयसिद्धिमाश्रित्य, मघवाबहुलमिति सूत्रं प्रत्याख्यातम्।

---

मघवा—मघवन् शब्द को 'तृ' आदेश विकल्प से होता है।

उगिद—धातु-भिन्न जो उगित् (शब्द) और नलोपी जो 'अञ्च्' धातु, उसको नुम् का आगम हो, सर्वनामस्थान के परे।

ग्रहणात् । तथा च 'श्वन्नुक्षन्–' ( उ १५७ ) इति निपातनान्मघशब्दान्मतुपा च भाषायामपि शब्दद्वयसिद्धिमाश्रित्यैतत्सूत्रं प्रत्याख्यातमाकरे ।

'हविर्जक्षिति निःशङ्को मखेषु मघवानसौ' इति भट्टिः ।

मघवन्तौ । मघवन्तः । हे मघवन् । मघवन्तम् । मघवन्तौ । मघवतः । मघवता । मघवद्भ्याम्, इत्यादि । तृत्वाभावे, मघवा । 'छन्दसीवनिपौ च' इति वनिबन्तं मध्योदात्तं छन्दस्येव । अन्तोदात्तं तु लोकेऽपीति विशेषः । मघवानौ । मघवानः । सुटि राजवत् । ३६२ । श्वयुवमघोनामतद्धिते । ६।४।१३३ । अन्नान्तानां भसंज्ञकानामेषामतद्धिते परे सम्प्रसारणं स्यात् । 'सम्प्रसारणाच्च' ( सू ३३० ) । 'आद्गुणः' ( सू ६९ ) मघोनः । 'अन्नन्तानाम्'

---

सूत्रारम्भप्रत्याख्यानयोः फलैक्याय बहुलग्रहणेन सिद्धत्वाभावकल्पनात् । अत एव 'मघवानसौ' इति भट्टिप्रयोगः सङ्गच्छते ।

इह दीर्घेति ( ई. ७३ )—अयं भावः—मघवत् शब्दात् सौ 'मघवा बहुलम्' इति त्रन्तादेशे 'उगिदचामि'ति नुमि सुलोपे संयोगान्तलोपे उपधादीर्घे 'मघवान्' इति । न चात्र दीर्घे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्याऽसिद्धत्वं कुतो नेति वाच्यम्, 'मघवा बहुलम्' इति सूत्रस्थबहुलग्रहणेन दीर्घे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्याऽसिद्धत्वाभावकल्पनेनादोषात् । तथाहि—मह्यते = पूज्यते इत्यर्थे मह धातोः 'श्वन्नुक्षन्नि'त्युणादिसूत्रेण निपातनात् कनिप्रत्यये वुगागमे हस्य घत्वे 'मघवन्' इति तस्मात् सौ दीर्घे सुलोपे नलोपे 'मघवा' इति । अथ च मघः = धनम् अस्यास्तीत्यर्थे मघशब्दात् मतुपि 'मादुपधायाश्चे'ति वत्वे 'मघवत्' इति, तस्मात् सौ उगित्वान्नुमि दीर्घे सुलोपे संयोगान्तलोपे 'मघवान्' इति च संसाध्य 'मघवा बहुलम्' इति सूत्रं प्रत्याख्यातमाकरे । उक्तार्थे बहुलग्रहणस्य ज्ञापकत्वाऽभावे 'मघवन्, मघवा' इत्यनयोरेव सिद्धिः स्यात्, न तु 'मघवान्' इत्यस्येति । तस्मादारम्भप्रत्याख्यानयोः फलैक्याय बहुलग्रहणमुक्तार्थे ज्ञापकमिति तत्त्वविदः । अत एव 'हविर्जक्षिति निश्शङ्को मखेषु मघवानसौ' इति भट्टिकाव्ये 'मघवान्' इत्युक्तिः सङ्गता ।

मघोनः ( ई. ५८, ६० )—मह्यते = पूज्यते इति मघवान् = इन्द्रः । 'श्वन्नुक्षन्नि'—त्यादिसूत्रेण निपातनात् मह्धातोः कनिप्रत्यये हस्य घत्वे च

---

श्वयुव—अन्नन्त भसंज्ञक श्वन्, युवन्, मघवन् रूप अंग का संप्रसारण होता है–तद्धितभिन्न प्रत्यय के परे ।

किम् ? मघवत: । मघवता । स्त्रियां मघवती । 'अतद्धिते' किम्' ? माघवनम् । मघोना । मघवभ्याम्, इत्यादि । शुन: । शुना । श्वभ्याम्, इत्यादि । 'युवन्' शब्दे वस्योत्वे कृते—३६३ । न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् । ६।१।३७। सम्प्रसारणे परत: पूर्वस्य यण: सम्प्रसारणं न स्यात् । इति यकारस्य नेत्त्वम् । अत एव ज्ञापकादन्त्यस्य यण: पूर्वं सम्प्रसारणम् । यून: । यूना । युवभ्याम्, इत्यादि । अर्वा । हे अर्वन् । ३६४ । अर्वणस्त्रसावनञ: ६।४।१२७। नञा रहितस्यार्वन्नन्तस्याङ्गस्य 'तृ' इत्यन्तादेश: स्यात्, न तु सौ । उगित्त्वान्नुम् । अर्वन्तौ । अर्वन्त: । अर्वन्तम् । अर्वत: । अर्वता । अर्वद्भ्याम्, इत्यादि । 'अनञ:' किम् ? 'अनर्वा' यज्वत् । ३६५ । पथिमथ्यृभुक्षामात् ७।१।८५ । एषामाकारोऽन्तादेश: स्यात् सौ परे । 'आ आत्' इति प्रश्लेषेण शुद्धाया एव

---

कृते 'मघवत्' शब्दो निष्पन्नो भवति । तस्य 'मघवा बहुलम्' इति तृत्वाभावे 'मघवन् अस्' इति स्थिते 'यचि भम्' इति भसंज्ञायां 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे च कृते 'आद्गुण:' इति गुणे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'मघोन: इति ।

यून: ( ई. ६४, ७२ )—युवन् शब्दात् शसि भसंज्ञायाम् 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' इति वकारस्य सम्प्रसारणे 'यु उ अन् अस्' इति स्थिते 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे सवर्णदीर्घे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'यून:' इति सिद्धम् । नचात्र यकस्य सम्प्रसारणं कुतो नेति वाच्यम् ? सवर्णदीर्घनिष्पन्नस्य ऊकारस्य 'अच: परस्मिन्' इति स्थानित्वेन सम्प्रसारणतया 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इति निषेधात् । ननु स्थानिवत्वेऽपि प्रथमेन उकारेण व्यवधानात् सम्प्रसारणपरत्वाभावात् कथमत्र निषेध: स्यादिति चेन्न, 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इत्यस्य 'यूनस्ति:' इत्यस्य च वैयर्थ्यापत्ते: । नच तर्हि प्रथमं यकारस्य सम्प्रसारणमस्तु, तदुत्तरं वकारस्याऽपीति वाच्यम् ? तदपि 'न सम्प्रसारणे' इति निषेधस्यैव वैयर्थ्यापत्तेरिति दिक् ।

---

न सं—सम्प्रसारण के परे पूर्व 'यण्' का सम्प्रसारण नहीं होता है ।

अर्वण:—नञ् समास-रहित अर्वन् शब्दान्त अङ्ग के अन्त्य अल् को 'तृ' आदेश होता है—सु से भिन्न विभक्ति के परे ।

पथि—पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दान्त अंग के अन्त्य 'अल्' को आकारान्त आदेश होता है, 'सु' विभक्ति के परे ।

व्यक्तेर्विधानान्नानुनासिकः। ३६६। इतोऽत्सर्वनामस्थाने ७।१।८६। पथ्यादेरिकारस्याकारः स्यात् सर्वनामस्थाने परे। ३६७। थो न्थः ७।१।८७। पथिमथोस्थस्य न्थादेशः स्यात् सर्वनामस्थाने परे। पन्थाः। पन्थानौ। पन्थानः। पन्थानम्। पन्थानौ। ३६८। भस्य टेर्लोपः ७।१।८८। भसंज्ञकस्य पथ्यादेष्टेर्लोपः स्यात्। पथः। पथा। पथिभ्याम्, इत्यादि। एवं मन्थाः। ऋभुक्षाः। स्त्रियां नान्तलक्षणे ङीपि भत्वाट्टिलोपः। सुपथी, सुमथी नगरी। अनृभुक्षी सेना। आत्वं नपुंसके न भवति, 'न लुमता—' (सू. २६३) इति प्रत्ययलक्षणनिषेधात्। सुपथि वनम्। ६१ सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वाच्यः*। हे सुपथिन्—हे सुपथि। 'नलोपः सुप्स्वर—' (सू. ३५३) इति नलोपस्यासिद्धत्वाद्ध्रस्वस्य गुणो न। द्विवचने भत्वाट्टिलोपः। सुपथी। शौ सर्वनामस्थानत्वात् सुपन्थानि। पुनरपि सुपथि। सुपथी। सुपन्थानि। सुपथा। सुपथे।

---

पन्थाः (ई. ५२)—'पथिन्' शब्दात् सौ 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' इति आत्वे 'इतोत्सर्वनामस्थाने' इति थकारोत्तरवर्तिनः इकारस्य अकारे 'थो न्थः' इति थस्य 'न्थादेशे' 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे 'पन्थाः' इति।

सुपथि शोभनः पन्था यस्य वनस्येति बहुव्रीहौ सुपथिन्-शब्दात् सौ सोर्लुकि नलोपे च कृते 'सुपथि' इति। प्रत्ययलक्षणेन सुप्त्वात् 'पथिमथि—' इत्यात्वन्तु न 'न लुमते'ति प्रत्ययलक्षणनिषेधात्।

सुपन्थानि (ई. ६६)—शोभनः पन्थाः अस्य वनस्येति सुपथिन् शब्दात् शसि 'जश्शसोः शिः' इत्यनेन श्यादेशे 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' इत्यात्वे 'थो न्थः' इति थस्य न्थादेशे 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इति दीर्घे उक्तं रूपं सिद्धम्।

---

इतोऽत्—पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्द के इकार को अकारादेश होता है—सर्वनामस्थान प्रत्यय के परे।

थो न्थः—पथिन् तथा मथिन् के थकार को न्थादेश होता है—सर्वनामस्थान के परे।

भस्य—भसंज्ञक पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों की 'टि' का लोप हो जाता है।

सम्बु—नपुंसक में विद्यमान नान्त शब्दों के नकार का लोप विकल्प से होता है—सम्बुद्धि के परे।

सुपथिभ्याम्, इत्यादि। ३६९। ष्णान्ता षट् १।१।२४। षान्ता नान्ता च सङ्ख्या षट्संज्ञा स्यात्। 'षड्भ्यो लुक्' (सू २६१) पञ्च २। 'सङ्ख्या' किम्? विप्रुषः। पामानः। 'शतानि' 'सहस्राणि' इत्यत्र सन्निपातपरिभाषया न लुक् सर्वनामस्थानसन्निपातेन कृतस्य नुमस्तदविघातकत्वात्। पञ्चभिः। पञ्चभ्यः २। 'षट्चतुर्भ्यश्च' (सू ३३८) इति नुट्। ३७०। नोपधायाः ६।४।७। नान्तस्योपधाया दीर्घः स्यान्नामि परे। नलोपः। पञ्चानाम्। पञ्चसु। परमपञ्च। परमपञ्चानाम्। गौणत्वे तु न लुग्नुटौ। प्रियपञ्चा। प्रियपञ्चानौ। प्रियपञ्चानः। प्रियपञ्चाम्। एवं सप्तन्, नवन् दशन्। ३७१। अष्टन आ विभक्तौ ७।२।८४। अष्टन आत्वं स्याद्धलादौ विभक्तौ। ३७२। अष्टाभ्य औश् ७।१।२१। कृताकारादष्टनः परयोर्जश्शसोरौश् स्यात्। 'अष्टभ्यः' इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसोर्विषये आत्वं ज्ञापयति। वैकल्पिकं चेदमष्टन आत्वम्, 'अष्टनो दीर्घात्' (सू ३७१८) इति सूत्रे दीर्घ-

---

शतानि (ई. ६४)—शतशब्दाज्जसि शसि वा जश्शसोः स्थाने श्यादेशे नुमि 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इति दीर्घे उक्तं रूपं सिद्धम्। नच 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि सति 'शतन् इ' इति स्थिते 'ष्णान्ता षट्' इति षट्संज्ञायां 'षड्भ्यो लुक्' इति जश्शसोर्लुक् कुतो नेति वाच्यम्, सन्निपातपरिभाषाविरोधात्। सर्वनामस्थानसन्निपातेन विहितस्य नुमः षट्त्वसम्पादनद्वारा तदविघातकत्वादिति भावः।

अष्टभ्य इति—अयम्भावः—एकमात्रालाघवेन 'अष्टभ्यः' इत्येव वक्तव्ये 'अष्टाभ्यः' इति दीर्घोच्चारणं क्वचिदजादावपि 'अष्टन आ विभक्तौ' इति सूत्रविहितमात्वम्भवतीति ज्ञापयति। तेन जस्शसोरपि विषये आत्वं सिध्यति, 'अष्टनो दीर्घात्' इति सूत्रे दीर्घग्रहणेन 'अष्टन आ' इति विहितमात्त्वं विकल्पेन भवतीत्यपि सिद्धम्। अन्यथा सर्वत्रैव दीर्घाकारस्यैव सम्भवात्तत्सूत्रे दीर्घग्रहणं व्यर्थमेव स्यादिति भावः।

---

ष्णन्ता—षान्त तथा नान्त संख्यावाचक शब्द षट्संज्ञक होता है।

नोप—नान्त की उपधा को दीर्घ होता है—'नाम्' के परे।

अष्टन्—अष्टन् शब्द के अन्त्य अल् को आकारादेश होता है—हलादि विभक्ति के परे।

ग्रहणाज्ज्ञापकात् । अष्टौ २ । परमाष्टौ । अष्टाभिः । अष्टाभ्यः २ । अष्टानाम् । अष्टासु । आत्त्वाभावे । अष्ट । अष्ट, इत्यादि पञ्चवत् । गौणत्वे त्वात्त्वाभावे राजवत् । शसि प्रियाष्ट्नः । इह पूर्वस्मादपि विधावल्लोपस्य स्थानिवद्भावान्न ष्टुत्वम्, कार्यकालपक्षे बहिरङ्गस्याल्लोपस्यासिद्धत्वाद्वा । प्रियाष्ट्ना, इत्यादि । जश्शसोरनुमीयमानमात्त्वं प्राधान्य एव, न तु गौणतायाम् । तेन प्रियाष्ट्नो हलादावेव वैकल्पिकमात्त्वम् । प्रियाष्टाभ्याम् । प्रिया-

---

अष्टौ ( ई. ६३, ७२ )—अष्टन् शब्दात् जसि शसि च अनुबन्धलोपे 'अष्टन आ विभक्तौ' इति अष्टनो नकारस्य आत्वे 'सवर्णदीर्घे' 'अष्टाभ्य औश्' इति औशि अनुबन्धलोपे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'अष्टौ' इति ।

ननु हलादावात्वस्य विधानेन कथमत्र अजादावात्वमिति चेन्न, एकमात्रालाघवेन 'अष्टभ्य औस्' इति वक्तव्ये 'अष्टाभ्यः' इति दीर्घोच्चारणं क्वचिदजादावपि 'अष्टन आ विभक्तौ' इति सूत्रविहितमात्वं भवतीति ज्ञापनेनादोषात् ।

प्रियाष्टनः ( ई. ६६, ७०, ७१ )—प्रिया अष्टौ येषामिति विग्रहे समासात् 'प्रियाष्टन्' शब्दात् शसि भसंज्ञायाम् अल्लोपे सस्य रुत्वे विसर्गे 'प्रियाष्टनः' इति । अत्र पञ्चमीसमासपक्षे अल्लोपस्य स्थानिवत्वात् न ष्टुत्वम् । 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' इति निषेधस्तु न, 'तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु' इति निषेधात् । पञ्चमीसमासस्य अनित्यत्वपक्षे तु कार्यकालपक्षे त्रिपाद्यामप्यन्तरङ्गपरिभाषायाः प्राचीनमते प्रवृत्तिस्वीकारेण तयाऽसिद्धतया न ष्टुत्वमिति दिक् ।

इह पूर्वस्मादपीति—अयम्भावः–प्रियाष्टन् शब्दात् शसि भसंज्ञायाम् 'अल्लोपो नः' इति अकारलोपे सकारस्य रुत्वे विसर्गे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

नचात्र अल्लोपे कृते 'ष्टुना ष्टुः' इति टकारयोगे नकारस्य ष्टुत्वेन णकारापत्तिः कुतो नेति वाच्यम्—'अचः परस्मिन्' इति अल्लोपस्य स्थानिभूतलुप्ताकारापेक्षया पूर्वत्वेन दृष्टाकारात्परस्य णत्वे कर्तव्ये स्थानिवद्भावेन टकारयोगाभावेन ष्टुत्वाप्रवृत्तेः । नच 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' इति निषेधः स्यादिति वाच्यम्, 'तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु' इति णत्वे कर्तव्ये तन्निषेधात् । यदि तु लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया णत्वपदेन न ष्टुत्वनिष्पन्न-

---

अष्टाभ्यः—कृताकारक अष्टन् शब्द से पर जस् तथा शस् को 'औस्' आदेश होता है ।

ष्टाभिः । प्रियाष्टाभ्यः २ । प्रियाष्टासु । 'प्रियाष्टनो राजवत्सर्वं हाहा-वच्चापरं हलि ।' इति नान्ताः ।

भष्भावः । जश्त्वचर्त्वे । भुत्–भुद् । बुधौ । बुधः । बुधा । भुद्भ्याम् । भुत्सु । इति धान्ताः ।

३७३ । ऋत्विग-दधृक्-स्रग्-दिगुष्णिग-ञ्चु-युजि-क्रुञ्चां च ३।२।५९। एभ्यः क्विन् स्यात् । अलाक्षणिकमपि किञ्चित्कार्यं निपातनाल्लभ्यते । निरुप-पदाद्युजेः क्विन् । कनावितौ । ३७४ । कृदतिङ् ३।१।९३ सन्निहिते धात्व-

---

णत्वस्य ग्रहणमित्युच्यते तर्हि 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति परिभाषया भसंज्ञाद्वारा बाह्यशस्प्रत्ययनिमित्तकाऽल्लोपस्य बहिरङ्गत्वेनान्तर्भूतटकारयोग-निमित्तकत्वेनान्तरङ्गष्टुत्वदृष्ट्यासिद्धत्वात् । यथोद्देशपक्षे 'राज्ञः' इत्यादाविव असिद्धपरिभाषयाऽऽत्रैपादिकेऽप्रवृत्तिरिति दूषणं तु न युक्तम्, एकपक्षेऽभीष्टसिद्धौ पक्षान्तरेण दूषणदानस्यानुचितत्वात् ।

---

ऋत्विग्—ऋतु शब्दपूर्वक यज् धातु, धृष् धातु, सृज् धातु, दिश् धातु, उत्पूर्वक स्निह् धातु, अञ्च् धातु, युज् धातु, तथा क्रुञ्च् धातुओं से 'क्विन्' प्रत्यय होता है ।

नोट—अञ्च् धातु से उबन्त उपपद रहने पर और युञ्ज् तथा क्रुञ्च् धातुओं से उपपद-रहित होने पर ही क्विन् प्रत्यय होता है । युंज् और क्रुञ्च धातुओं में क्विन् प्रत्यय-विधान के साथ-साथ 'अनिदिताम्–' सूत्र से प्राप्त नलोपाभाव का भी निपातन होता है ।

( 'लक्षणं विनैव निपतति = प्रवर्तते यत् तन्निपातनम्—जो कार्य विना सूत्रनियम का होता है वह 'निपातन' कहा जाता है ) ।

कृद—'धातोः' सूत्र के अधिकार में तिङ्-भिन्न प्रत्ययों की 'कृत्' संज्ञा होती है ।

नोट—'धातोः' सूत्र के अधिकार में धातु से पर प्रत्ययों का विधान है । उनमें 'तिङ्' प्रत्ययों को छोड़ कर शेष की कृत्संज्ञा होती है । फल यह होता है कि 'क्विन्' प्रत्यय 'धातोः' के अधिकार में है, अतः इसकी कृत्संज्ञा होती है और कृत्संज्ञा होने पर कृदन्त होने से कृदन्तत्वात् प्रातिपदिक संज्ञा होकर क्विबन्त से 'सु' आदि विभक्ति की उत्पत्ति होती है ।

धिकारे तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृत्संज्ञः स्यात्। ३७५। वेरपृक्तस्य ६।१।६७। अपृक्तस्य वस्य लोपः स्यात्। 'कृत्तद्धित-' (सू १७९) इति प्रातिपदिकत्वात्स्वादयः। ३७६। युजेरसमासे ७।१।७१। युजेः सर्वनामस्थाने नुम् स्यादसमासे। सुलोपः, संयोगान्तलोपे। ३७७। क्विन्प्रत्ययस्य कुः ८।२।६२। क्विन् प्रत्ययो यस्मात्तस्य कवर्गोऽन्तादेशः स्यात् पदान्ते! नस्य कुत्वेनानुनासिको ङकारः। युङ्। 'नश्चापदान्तस्य-' (सू १२३) इति नुमोऽनुस्वारः। परसवर्णः। तस्यासिद्धत्वात् 'चोः कुः' (सू ३७८) इति कुत्वं न। युञ्जौ। युञ्जः। युञ्जम्। युञ्जौ। युजः। युजा। युग्भ्याम्, इत्यादि। 'असमासे' किम्?

३७८। चोः कुः ८।३।३०। चवर्गस्य कवर्गः स्याज्झलि पदान्ते च। इति कुत्वम्, 'क्विन्प्रत्ययस्य'-(सू. ३७७) इति कुत्वस्यासिद्धत्वात्। सुयुक्-सुयुग्। सुयुजौ। सुयुजः। 'युजेः' इति धातुपाठपठितेकारविशिष्टस्यानुकरणम्, न त्विका निर्देशः। तेनेह न युज्यते समाधत्ते इति युक्। 'युज

---

युङ् (ई. ६९)—'युजिर् योगे' अस्माद्धातोः 'ऋत्विग्—' इति क्विनि 'लशक्वतद्धिते' इति ककारस्य 'हलन्त्यम्' इति नकारस्य, च इत्संज्ञायाम् 'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' इति अपृक्तसंज्ञायां सत्यां 'वेरपृक्तस्य' इति वकारस्य च इत्संज्ञायां लोपे च विहिते इकारस्योच्चारणार्थत्वेन तस्मिन्नपि गते प्रत्ययलक्षणेन 'कृदतिङ्' इति कृत्संज्ञायां 'कृत्तद्धितसमासाश्चेति' कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ अनुबन्धलोपे 'युजेरसमासे' इति नुमि अनुबन्धलोपे हल्ङ्यादिना सलोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति जलोपे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति नस्य कुत्वेन ङकारे 'युङ्' इति।

युक् (ई. ६१)—युज्यते समाधत्ते इति युक्। युज् समाधौ इति दैवादिकात् युज्धातोः 'क्विप् च' इति क्विपि क्विपः सर्वापहारे सौ हल्ङ्यादिना सोर्लोपे कुत्वे 'युक्' इति। 'ऋत्विग्—' सूत्रे 'युजेरसमासे' इति सूत्रे च व्याख्यानात् 'युजिर् योगे' इति धातुपाठपठितस्य रकारविशिष्टस्यैव ग्रहणादत्र नुम्नेति तत्त्वविदः।

---

वेरपृ—अपृक्तसंज्ञक वकार का लोप होता है। (एकाल् प्रत्यय की अपृक्त संज्ञा होती है)।

युजेर—'युज्' धातु को असमास में ही नुम् का आगम होता है।

क्विन्—क्विन् प्रत्ययान्त धातु के अन्त्य व्यञ्जन के स्थान में 'कुत्व' हो जाता है—पदान्त में।

चोः कुः—पदान्त या झल् परक चवर्ग को कुत्व (कवर्ग आदेश) होता है।

समाधौ' दैवादिक आत्मनेपदी। संयोगान्तलोपः। खन्। खञ्जौ। खञ्जः, इत्यादि। 'व्रश्च–' (सू. २९४) इति षत्वम्। जश्त्वचर्त्वे। राट्-राड्। राजौ। राजः। राट्त्सु-राट्सु। एवं विभ्राट्। देवेट्-देवेड्। देवेजौ। देवेजः। विश्वसृट्-विश्वसृड्। विश्वसृजौ। विश्वसृजः। इह सृजियज्योः कुत्वं नेति क्लीबे वक्ष्यते। परिमृट्। षत्वविधौ राजसाहचर्यात् 'टुभ्राजृ दीप्तौ' इति फणादिरेव गृह्यते। यस्तु 'एजृ भ्रेजृ भ्राजृ दीप्तौ' इति, तस्य कुत्वमेव। विभ्राक्–विभ्राग्। विभ्राग्भ्याम्, इत्यादि। परौ व्रजेः षः पदान्ते' (उ. २१७)। परावुपपदे व्रजेः क्विप् स्याद्दीर्घश्च पदान्तविषये षत्वं च। परित्यज्य सर्वं व्रजतीति परिव्राट्। परिव्राड्। परिव्राजौ। परिव्राजः। ३७९। विश्वस्य वसुराटोः ६।३।१२८। विश्वशब्दस्य दीर्घः स्याद्वसौ राट्शब्दे च परे। विश्वं वसु यस्य स विश्वावसुः। राडिति पदान्तोपलक्षणार्थम्। चर्त्वमविवक्षितम्। विश्वाराट्-विश्वाराड्। विश्वराजौ। विश्वराजः। विश्वाराड्भ्याम्, इत्यादि। ३८०। स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ८।२।२९। पदान्ते झलि च परे यः संयोगस्तदाद्योः सकारककारयोर्लोपः स्यात्। भृट्-भृड्। सस्य श्चुत्वेन शः। तस्य जश्त्वेन जः। भृज्जौ। भृज्जः। 'ऋत्विग्–' (सू. ३७३) इत्यादिना ऋतावुपपदे यजेः क्विन्। क्विन्नन्तत्वात् कुत्वम्। ऋत्विक्-ऋत्विग्। ऋत्विजौ।

---

विश्वाराट् (ई. ७४)—विश्वोपपदात् राज्धातोः 'सत्सूद्विषु' इति क्विपि क्विपः सर्वापहारे 'विश्वराज्' इति, तस्मात् कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ अनुबन्धलोपे 'व्रश्चभ्रस्जसृ—' इति जकारस्य षत्वे 'झलां जशोऽन्ते' इति षकारस्य जश्त्वेन डकारे 'वाऽवसाने' इति डस्य चर्त्वे 'विश्वस्य वसुराटोः' इति विश्वशब्दस्य दीर्घे हल्ङ्यादिना सलोपे 'विश्वाराट्' इति। चर्त्वाऽभावपक्षे 'विश्वाराड्' इति।

ऋत्विक् (ई. ६३)—ऋतावुपपदे 'यज्' धातोः 'ऋत्विग्दधृक्' इति क्विनि 'लशक्वतद्धिते' इति ककारस्य 'हलन्त्यम्' इति नकारस्य च इत्संज्ञायां

---

परौ—परि उपपदक 'व्रज्' धातु से क्विप् प्रत्यय एवं उपधा अकार को दीर्घ तथा पदान्त में षत्व भी होता है।

विश्वस्य—'विश्व' शब्द को दीर्घ हो, 'वसु' और 'राट्' शब्दों के परे।

स्कोः—पदान्त में अथवा 'झल्' के परे संयोगादि सकार और ककार का लोप होता है।

ऋत्विजः । 'रात्सस्य' ( सू. २८० ) इति नियमान्न संयोगान्तलोपः ऊर्क्-ऊर्ग् ऊर्जौ । ऊर्जः । इति जान्ताः ।

त्यदाद्यत्वं पररूपत्वं च । ३८१ । तदोः सः सावनन्त्ययोः ७।२।१०६। त्यदादीनां तकारदकारयोरनन्त्ययोः सः स्यात् सौ परे । स्यः । त्यौ । त्ये । त्यम् । त्यौ । त्यान् । सः । तौ । ते । परमतौ । परमते । द्विपर्यन्तानामित्येव । नेह-त्वम् । न च तकारोच्चारणसामर्थ्यान्नेति वाच्यम्, अतित्वमिति गौणे चरितार्थत्वात् । संज्ञायां, गौणत्वे चाऽत्वसत्वे न । त्यद् । त्यदौ ! त्यदः । अतित्यद् । अतित्यदौ । अतित्यदः । यः । यौ । ये । एषः । एतौ । एते । अन्वादेशे तु एनम् । एनौ । एनान् । एनेन । एनयोः २।३८२ । ङे प्रथमयोरम् ७।१।२८।

---

लोपे च कृते इकारस्योच्चारणार्थत्वेन तस्मिन्नपि गते क्विपो वकारस्य 'अपृक्त एकालप्रत्ययः' इत्यपृक्तसंज्ञायां वेरपृक्तसंज्ञकस्य वस्य च लोपे विहिते क्विनः सर्वाऽपहारे 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति, सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'इको यणचि' इति यणि 'कृदतिङ्' इति कृत्संज्ञायां 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ अनुबन्धलोपे हल्ङ्यादिना सलोपे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति जस्य कुत्वे 'वाऽवसाने' इति तस्य चर्त्वे 'ऋत्विक्' इति । चर्त्वाऽभावपक्षे 'ऋत्विग्' इति ।

द्विपर्यन्तानामित्येव । अयम्भावः—'तदोः सः सावनन्त्ययोः' इति सूत्रे त्यदादीनां द्विपर्यन्त एव गृह्यते इति युष्मच्छब्दस्य त्यदादिबहिर्भूतत्वेन त्वमित्यत्र तकारस्य सत्वं न भवति ।

न च 'त्वाहौ सौ' इति सूत्रे तकारोच्चारणसामर्थ्यादेवात्र सत्वं न स्यादिति वाच्यम्, अतित्वमित्यत्र गौणे तकारोच्चारणस्य सफलत्वात्, तत्र चात्वसत्वे न भवतः, यतः सर्वेषां नामवाचकः सर्वनामेत्यन्वर्थसंज्ञाबलेन यत्र सर्वादीनां प्राधान्यं स्यात्तत्रैव सर्वनामसंज्ञा भवति । गौणे तु सर्वादीनां प्रधानता न विद्यते इति सर्वनामसंज्ञा न भवति । एवञ्च सर्वनामसंज्ञानिमित्तकं सर्वाद्यन्तर्गणकार्यञ्च प्रधानतायामेव न तु गौणे ।

---

तदोः—अन्त्य-भिन्न त्यदादि शब्दावयव तकार एवं दकार को सकार आदेश होता है—'सु' के परे ।

ङे प्रथ—युष्मद् तथा अस्मद् शब्द से पर 'ङे' और प्रथमा, द्वितीया विभक्ति को 'अम्' आदेश होता है ।

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य 'ङे' इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्चामादेशः स्यात् । ३८३ । मपर्यन्तस्य ७।२।९१। इत्यधिकृत्य । ३८४ । त्वाहौ सौ ७।२।९४। युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य त्व, अह इत्येतावादेशौ स्तः सौ परे । ३८५ । शेषे लोपः ७।२।९०। आत्त्वयत्वनिमित्तेतरविभक्तौ परतो युष्मदस्मदोरन्त्यस्य लोपः स्यात् । 'अतो गुणे' ( सू. १९१ ) 'अमि पूर्वः' ( सू. १९४ )। त्वम् । अहम् । ननु 'त्वं स्त्री' 'अहं स्त्री' इत्यत्र 'त्व अम्' 'अह अम्' इति स्थिते अमि पूर्वरूपं परमपि बाधित्वाऽन्तरङ्गत्वाट्टाप् प्राप्नोति ? सत्यम्, अलिङ्गे युष्मदस्मदी । तेन स्त्रीत्वाभावान्न टाप् । यद्वा, शेष इति सप्तमी स्थानिनोऽधिकरणत्वविवक्षया । तेन मपर्यन्ताच्छेषस्य 'अद्' इत्यस्य लोपः । स च परोऽप्यन्तरङ्गे अतो गुणे कृते प्रवर्तते । अदन्तत्वाभावान्न टाप् । परमत्वम् । परमाहम् । अतित्वम् । अत्यहम् । ३८६ । युवावौ द्विवचने ७।२।९२। द्वयोरुक्तौ युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तौ । ३८७ । प्रथमायाश्च द्विवचने

---

त्वं स्त्री—ननु त्वं स्त्रीत्यत्र 'त्वाहौ सौ' इति त्वादेशे 'शेषे लोपः' इति लोपे 'ङे प्रथमयोरम्' इत्यमादेशे च त्व अम्, अह इति दशायाम् 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति परिभाषया परमपि अमि पूर्वरूपं बाधित्वा टाप् स्यादिति चेन्न, 'अलिंगे युष्मदस्मदी' इति वचनेन तयोः स्त्रीत्वाभावात् । 'शेषे लोपः' इति सूत्रे शेषे इति षष्ठयर्थे सप्तमी ततश्च शेषस्य 'अद् इत्यस्य लोप इत्यर्थे' त्व अद् इति स्थिते 'अतो गुणे' इति पररूपे कृते परादिवद्भावेन अद्भागमादाय तस्याद्भागस्य लोपेऽदन्तत्वाभावादेव न टाप् स्यादित्यपि बोध्यम् ।

---

मपर्य—यह अधिकार सूत्र है । इसका भाव यह है कि—यहां से आगे युष्मद् और अस्मद् शब्द के स्थान में वक्ष्यमाण आदेश युष्मद् तथा अस्मद् के 'म' पर्यन्त अंग के स्थान में होते हैं ।

त्वाहौ—युष्मद् तथा अस्मद् शब्दों के 'म' पर्यन्त भाग को यथाक्रम 'त्व' एवं 'अह' आदेश होते हैं—'सु' विभक्ति के परे ।

शेषे—आत्व, यत्व के निमित्त विभक्तियों से भिन्न विभक्तियों के परे युष्मद् एवं अस्मद् के अन्त्य वर्ण का लोप होता है ।

युवावौ—द्वित्वविशिष्टार्थवाचक युष्मद् तथा अस्मद् के मपर्यन्त भाग को क्रमशः युव तथा आव् आदेश होते हैं ।

प्रथमा—प्रथमा द्विवचन के परे भी अंगसंज्ञक युष्मद् तथा अस्मद् शब्दों को भाषाविषयक प्रयोग मात्र में आकारादेश होता है ।

भाषायाम् ७।२।८८। इह युष्मदस्मदोराकारोऽन्तादेशः स्यात् । 'औङि' इत्येव सुवचम् । 'भाषायाम्' किम् ? युवं वस्त्राणि । युवाम् । आवाम् । 'मपर्यन्तस्य' (सू. ३८३) किम् ? साकच्कस्य मा भूत् । युवकाम् । आवकाम् । 'त्वया' 'मया' इत्यत्र 'त्वया' 'म्या' इति मा भूत् । 'युवकाभ्याम्' आवकाभ्याम्' इति च न सिद्ध्येत् ।

३८८। यूयवयौ जसि ७।२।९३। स्पष्टम् । यूयम् । वयम् । परमयूयम् । परमवयम् । अतियूयम् । अतिवयम् । इह शेषे लोपोऽन्त्यलोप इति पक्षे जसः शी प्राप्तः । 'अङ्गकार्ये कृते पुनर्नाङ्गकार्यम्' (प. ९३)

---

मपर्यन्तस्य किम् (ई. ६८)—'अयम्भावः-ओकारसकारभकारादौ सुपि सर्वनाम्नः टेः प्रागकच्, अन्यत्र तु सुबन्तस्य टेः प्रागकच्' इति पूर्वं युवामिति संसाध्य आमः पूर्वम् 'अव्ययसर्वनाम्नामकच्' इति अकजादेशे युवकामित्यत्र दोषाभावेन त्व्या म्येति दूषणं दत्तम् 'योऽचि' इति सूत्रस्थाने 'अच्चे' इति न्यासेन अजादिविभक्तौ एत्वं स्यादित्यर्थेऽलोऽन्त्यपरिभाषया त्वादेशोत्तरम् अकारस्य एत्वे अयादेशे च कृते त्वयेति रूपसिद्धौ युवकाभ्यामित्यत्र दूषणं बोध्यम् ।

यूयम् (ई. ६५)-युष्मच्छब्दाज्जसि 'ङे प्रथमयोरम्' इत्यमादेशे 'यूयवयौ जसि' इति यूयादेशे 'शेषे लोपः' इत्यन्तलोपे 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे उक्तं रूपं सिद्धम् । नन्वत्र 'यूय अम्' इति स्थिते अमादेशस्य 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' इति स्थानिवद्भावाज्जस्त्वारोपेण अदन्तसर्वनाम्नः परतया 'जसः शी' इति श्यादेशः कुतो नेति चेदुच्यते—'अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिः' अङ्गकार्ये कृते पुनः द्वितीयमङ्गकार्यं न भवतीत्यर्थिकया परिभाषया यूयादेशस्याऽङ्गकार्यस्य प्रवृत्त्यनंतरं श्यादेशप्रवृत्तेर्निषेधात् ।

अङ्गकार्येति—नच युष्मद्—शब्दात् जसि 'ङे प्रथमयोरम्' इति जसोऽमादेशे 'यूयवयो जसि' इति यूयादेशे 'शेषे लोपः' इत्यन्तलोपे स्थानिवत्वेनामो 'जसः शी' इति श्यादेशः कथन्नेति वाच्यम्, 'अङ्गकार्यं कृते पुनर्नाङ्गकार्यम्' इति परिभाषया वारणसम्भवात् । ननु द्वयोरित्यादिनिर्देशेन अस्या अनित्यत्वात् श्यादेशो दुर्वार इति चेन्न, 'ङे प्रथमयोरम्' इत्यत्र मकारान्तरं प्रश्लिष्य अम् मान्त एवावशिष्यते ननु विक्रियते इति व्याख्यानेनादोषात् ।

---

युयवयौ—अंगसंज्ञक युष्मद् और अस्मद् शब्दों के 'म' पर्यन्त के स्थान में क्रमशः युय तथा आव आदेश होते हैं—जस् विभक्ति के परे ।

इति न भवति । 'ङे प्रथमयोः'—' ( सू. ३८२ ) इत्यत्र मकारान्तरं प्रश्लिष्य 'अम् मान्त एवाशिष्यते, न तु विक्रियते' इति व्याख्यानाद्वा । ३८९ । त्वमावेकवचने ७।२।९७ । एकस्योक्तौ युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ । ३९० । द्वितीयायाञ्च ७।१।८६। युष्मदस्मदोराकारः स्यात् । त्वाम् । माम् । युवाम् । आवाम् । ३९१ । शसो न ७।१।२९। नेत्यविभक्तिकं पदम् । युष्मदस्मद्भ्यां परस्य शसो नकारः स्यात् । अमोऽपवादः । 'आदेः परस्य' ( सू. ४४ ) । संयोगान्तस्य लोपः ( सू. २४ ) युष्मान् । अस्मान् । ३९२ । योऽचि ७।२।८९। अनयोर्यकारादेशः स्यादनादेशेऽजादौ परतः । त्वया । मया ।

३९३ । युष्मदस्मदोरनादेशे ७।२।८६ । अनयोराकारः स्यादनादेशे हलादौ विभक्तौ । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । युष्माभिः । अस्माभिः । ३९४ । तुभ्यमह्यौ ङयि ७।२।९५। अनयोर्मपर्यन्तस्य तुभ्यमह्यौ स्तो ङयि । अमादेशः 'शेषे लोपः' ( सू. ३८५ ) । तुभ्यम् । मह्यम् । परमतुभ्यम् । परममह्यम् ।

---

युष्मान् (ई.७१)–युष्मच्छब्दाच्छसि 'युष्मद् अस्' इति स्थिते 'द्वितीयायाञ्च' इति अन्त्यस्य दमात्रस्य आकारे सवर्णदीर्घे 'शसो नः' इति 'आदेः परस्ये'ति सहकाराच्छसोऽकारस्य नादेशे 'संयोगान्तस्ये'ति सलोपे 'युष्मान्' इति ।

---

त्वमा—एकत्वार्थ–प्रतिपादक युष्मद् तथा अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त भाग को क्रमशः 'त्व' 'म' आदेश होते हैं ।

द्विती—द्वितीया विभक्ति के परे भी अंगसंज्ञक युष्मद् तथा अस्मद् शब्दों को आकारान्त आदेश होता है ।

शसो—युष्मद् तथा अस्मद् शब्दों से विहित 'शस्' के स्थान में नकार आदेश होता है ।

योऽचि—आदेश-रहित अजादि विभक्ति के परे अंगसंज्ञक युष्मद् तथा अस्मद् शब्दों को यकारादेश होता है ।

युष्मद—आदेश-रहित हलादि विभक्ति के परे अंगसंज्ञक युष्मद् तथा अस्मद् शब्दों को आकारान्तादेश हो जाता है ।

तुभ्य—ङे विभक्ति के परे अंगसंज्ञक युष्मद् तथा अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त भाग के स्थान में क्रमशः 'तुभ्य' तथा 'मह्य' आदेश होते हैं ।

अतितुभ्यम् । अतिमह्यम् । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । ३९५ । भ्यसो भ्यम् ७।१।३०। भ्यसो भ्यम् अभ्यम् वा आदेशः स्यात् । आद्यः शेषे लोपस्यान्त्यलोपत्व एव । तत्राङ्गवृत्तपरिभाषया एत्वं न । 'अभ्यम्' तु पक्षद्वयेऽपि साधुः युष्मभ्यम् । अस्मभ्यम् । ३९६ । एकवचनस्य च ७।१।३२। आभ्यां पञ्चम्येकवचनस्य अत् स्यात् । त्वत् । मत् । 'ङसेश्च' इति सुवचनम् । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । ३९७ । पञ्चम्या अत् ७।१।३१ आभ्यां पञ्चम्या भ्यसोऽत्स्यात् । युष्मत् । अस्मत् । ३९८ । तवममौ ङसि ७।२।९६। अनयोर्मपर्यन्तस्य

---

युष्मभ्यम् ( ई. ६३ )—युष्मच्छब्दात् चतुर्थ्याः पञ्चम्याः वा बहुवचने 'युष्मद्भ्यस्' इति स्थिते 'भ्यसो भ्यम्' इति भ्यसो भ्यमादेशे 'शेषे लोपः' इत्यन्तलोपे 'युष्मभ्यम्' इति सिद्धम् । न चात्र दकारलोपे सति 'बहुवचने झल्येत्' इति एत्वं कुतो नेति वाच्यम्, 'अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिः' इति निषेधात् । (अंगे वृत्तं=वर्तनं यस्य तदङ्गवृत्तं, तस्मिन् कार्ये प्रवृत्ते सति अन्यस्याङ्गकार्यस्य प्रवृत्तौ = प्रवृत्तिविषये अविधिः = विधिर्नास्तीति तदर्थः ) ।

यद्वा—'भ्यसो भ्यम्' इत्यत्र 'भ्यसोऽभ्यम्' इति छेदपक्षे भ्यसोऽभ्यमादेशे 'शेषे लोपः' इति टिलोपे उक्तं रूपं ज्ञेयम् । अन्त्यलोपपक्षे तु 'अतो गुणे' इति पररूपेण निष्पन्नं बोध्यम् ।

मत् ( ई. ६६ )—अस्मत्-शब्दात् पञ्चम्येकवचने 'अस्मद् अस्' इति स्थिते 'त्वमावेकवचने' इति मादेशे 'एकवचनस्य च' इति ङसेरदादेशे 'म अद अत्' इति स्थिते पूर्वाकारस्य पररूपे 'शेषे लोपः' इति टिलोपे उक्तं रूपं सिद्धम् । अन्त्यलोपपक्षे तु त्रयाणामकाराणां पर्यायेण पररूपं बोध्यम् ।

---

भ्यसो—युष्मद् तथा अस्मद् शब्दों से उत्तरवर्ती 'भ्यस्' के स्थान में 'भ्यम्' आदेश होता है ।

एकव—युष्मद् तथा अस्मद् शब्द से पर पञ्चमी-एकवचन के स्थान में 'अत्' आदेश होता है ।

पञ्चम्या—युष्मद् तथा अस्मद् शब्द से पर पञ्चमी के 'भ्यस्' को 'अत्' आदेश होता है ।

तवममौ—युष्मद् तथा अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भाग को क्रमशः तव, मम आदेश होता है—'ङस्' विभक्ति के परे ।

तवममौ ङसि ।३९९। युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् ७।१।२७। स्पष्टम् । तव । मम । युवयोः । आवयोः । ४०० । साम आकम् ७।१।३३। आभ्यां परस्य साम आकम् स्यात् । भाविनः सुटो निवृत्त्यर्थं ससुट्कनिर्देशः । युष्माकम् । अस्माकम् । त्वयि । मयि । युवयोः । आवयोः । युष्मासु । अस्मासु ।

'समस्यमाने द्व्येकत्ववाचिनी युष्मदस्मदी ।
समासार्थोऽन्यसङ्ख्यश्चेत् स्तो युवावौ त्वमावपि ॥
सु-जस्-ङे-ङस्सु परत आदेशाः स्युः सदैव ते ।
त्वाहौ यूय-वयौ तुभ्य-मह्यौ तव-ममावपि ॥

---

युष्माकम् ( ई. ६३, ६५ )—युष्मत् शब्दादामि 'युष्मद् आम्' इति स्थिते 'साम आकम्' इति आमि साम्त्वारोपेण आकमादेशे 'युष्मद् आकम्' इति स्थिते 'शेषे लोपः' इति अन्त्यस्य दस्य लोपे सवर्णदीर्घे 'युष्माकम्' इति ।

ननु 'युष्मद् आम्' इति स्थिते 'आमि सर्वनामः सुट्' इति अदन्तात् परस्यामो विधीयमानस्य सुटः प्रसक्तिरेव नास्ति, न च 'शेषे लोपः' इति अन्त्यस्य दस्य लोपे कृते अदन्तात् परत्वामोऽस्तीति वाच्यम्, आकमादेशात् प्राग् अनादेशतया 'योऽचि' इति सूत्रस्य प्राप्तया 'शेषे लोपः' इत्यस्याऽप्रसक्तेः । तथा च ससुट्कनिर्देशो व्यर्थः सूत्रासङ्गतिश्चेति चेन्न, आकमि कृते 'शेषे लोपः' इति लोपे सति प्राप्तस्य सुटो निवृत्त्यर्थं ससुट्कनिर्देशस्यावश्यकत्वात् ।

समस्यमाने ( ई. ६६, ७१, ७३ )—अयम्भावः—'युवावौ द्विवचने' 'त्वमावेकवचने' इति सूत्रे च द्विवचनैकवचनयोरर्थपरत्वव्याख्याने फलं दर्शयति—समस्यमाने द्व्येकत्वेत्यादिना ।

तथा च—यत्र समासे लौकिकविग्रहवाक्ये युष्मदस्मच्छब्दौ द्वित्वस्य वाचकौ स्तः तत्र सु जस् ङे ङस् इति चतस्रः विभक्तीः विहाय सर्वत्रैव युवावौ स्याताम् । यत्र च लौकिकविग्रहवाक्ये युष्मदस्मच्छब्दौ एकत्वरूपार्थस्य वाचकौ स्तः, तत्र पूर्ववत् सर्वत्र त्वमौ स्याताम् । अथ च यत्र समासे युष्मदस्मत्शब्दौ बहुत्वरूपार्थस्य वाचकौ तत्र युवावौ त्वमौ च न स्तः ।

इत्थञ्च त्वां मां वाऽतिक्रान्तः इति विग्रहे सर्वत्र त्वमौ भविष्यतः । युवा-

---

युष्मद्—युष्मद् तथा अस्मद् शब्द से पर 'ङस्' को 'अश्' आदेश होता है ।

साम—युष्मद् तथा अस्मद् शब्द से पर साम् ( सुट् सहित आम् ) को आकार आदेश होता है ।

एते परत्वाद् बाधन्ते युवावौ विषये स्वके।
त्वमावपि प्रबाधन्ते पूर्वविप्रतिषेधतः॥
द्व्येकसङ्ख्यः समासार्थो बह्वर्थे युष्मदस्मदी।
तयोरद्व्येकतार्थत्वान्न युवावौ त्वमौ च न॥'

त्वां, मां वा अतिक्रान्त इति विग्रहे अतित्वम्। अत्यहम्। अतित्वाम्। अतिमाम्। अतियूयम्। अतिवयम्। अतित्वाम् २। अतिमाम् २। अतित्वान्। अतिमान्। अतित्वया। अतिमया। अतित्वाभ्याम्। अतिमाभ्याम्। अतित्वाभिः। अतिमाभिः। अतितुभ्यम्। अतिमह्यम्। अति त्वाभ्याम्। अतिमाभ्याम्। अतित्वभ्यम्। अतिमभ्यम्। ङसिभ्यसोः, अतित्वत् २। अतिमत् २। भ्यामि प्राग्वत्। अतितव। अतिमम। अतित्वयोः। अतिमयोः। अतित्वाकम्। अतिमाकम्। अतित्वयि। अतिमयि। अतित्वयोः। अतिमयोः। अतित्वासु। अतिमासु।

---

मावां वाऽतिक्रान्तः इति विग्रहे सर्वत्र युवावौ भविष्यतः। युष्मान् अस्मान् वाऽतिक्रान्तः इति विग्रहे च युवावौ त्वमौ च न भविष्यतः। द्विवचनैकवचनयोः प्रत्ययपरत्वे तु समस्तपदादेकवचने त्वमौ स्याताम्। द्विवचने च युवावौ स्याता-मिति रूपेषु महान् भेदो भविष्यति। तस्मादर्थपरत्वमेव न्याय्यम्।

अतित्वाम् ( ई. ५८ )—'त्वमावेकवचने' इति सूत्रे एकवचनशब्दस्य अर्थपरत्वेन त्वामतिक्रान्तः इति विग्रहे समासे सति अतियुष्मच्छब्दस्य षष्ठी बहुवचने 'त्वमावेकवचने' इति त्वमादेशे 'शेषे लोपः' इति टिलोपे सवर्णदीर्घे उक्तं रूपं सिद्धम्।

अतिमाम् ( ई. ६८ )—मामतिक्रान्तौ इति विग्रहे समासनिष्पन्नादत्य-स्मच्छब्दात् औ विभक्तौ अस्मच्छब्दस्यैकत्वसंख्याभिधायित्वेऽपि पूर्वविप्रतिषेधात् मादेशे 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' इत्यकारे औविभक्तेरमादेशे 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे उक्तं रूपं सिद्धम्।

अतित्वाकम् ( ई. ६९, ७०, ७२ )—त्वामतिक्रान्तः इति विग्रहे निष्पन्नादतियुष्मच्छब्दामि 'त्वमावेकनचने' इति मपर्यन्तस्य त्वादेशे 'शेषे लोपः' इति टिलोपे 'साम् आकम्' इत्याकमादेशे सवर्णदीर्घे 'अतित्वाकम्' इति। नन्विह अतियुष्मच्छब्दघटक—'युष्मत्' शब्दस्य उपसर्जनत्वेन सर्वादित्वविरहात् तदन्तस्य सर्वनामत्वाभावेन, सर्वनाम्नो विहितस्यैवाऽऽमः सुटो विधानात् प्रकृतेः

युवाम् आवां वा अतिक्रान्त इति विग्रहे सुजस्ङेङस्सु प्राग्वत्। औ-अम्-औट्सु—अतियुवाम् ३। अत्यावाम् ३। अतियुवान्। अत्यावान्। अतियुवया। अत्यावया। अतियुवाभ्याम् ३। अत्यावाभ्याम् ३। अतियुवाभिः। अत्यावाभिः। भ्यसि, अतियुवभ्यम्। अत्यावभ्यम्। ङसिभ्यसोः अतियुवत् २। अत्यावत् २। ओसि अतियुवयोः २। अत्यावयोः २। अतियुवाकम्। अत्यावाकम्। अतियुवयि। अत्यावयि। अतियुवासु। अत्यावासु।

युष्मानस्मान्वा अतिक्रान्त इति विग्रहे सुजस्ङेङस्सु प्राग्वत्। औ-अम्-औट्षु—अतियुष्माम् ३। अत्यस्माम् ३। अतियुष्मान्। अत्यस्मान्। अतियुष्मया। अत्यस्मया। अतियुष्माभ्याम् ३। अत्यस्माभ्याम् ३। अतियुष्माभिः। अत्यस्माभिः। भ्यसि—अतियुष्मभ्यम्। अत्यस्मभ्यम्। ङसिभ्यसोः—अतियुष्मत् २। अत्यस्मत् २। ओसि—अतियुष्मयोः २। अत्यस्मयोः २। अतियुष्माकम्। अत्यस्माकम्। अतियुष्मयि। अत्यस्मयि। अतियुष्मासु। अत्यस्मासु। ४०१। पदस्य ८।१।१६। ४०२। पदात् ८।१।१७।

---

सुट्सम्भावनाया अपि नितरामनुपलम्भात् कथं 'साम् आकम्' इति सूत्रप्रवृत्तिरिति चेन्न, 'अतित्वाकम्' इत्यस्य भाष्यकृता प्रदर्शितत्वेन यत्र सुट्सम्भविता तदर्थं ससुट्कनिर्देशः, यत्र च न भविता तत्र च केवलस्यामः आकमादेशस्य ससुट्कनिर्देशेन कल्पनात्।

अतियुवया (ई. ६६)—युवामतिक्रान्त इति विग्रहे निष्पन्नादतियुष्मच्छब्दात् तृतीयैकवचने अत्वे पररूपे युवादेशे 'योऽचि' इति एकारादेशे उक्तं रूपं सिद्धम्।

युष्मानतिक्रान्तः इति (ई. ६४)—'द्व्येकसंख्यः सामासार्थः' इति चतुर्थश्लोकस्योदाहरणमेतत्। अत्र श्लोके यदा इत्यध्याहार्यम्। तथा च—यदा युष्मान् अस्मान् वा अतिक्रान्तौ अतिक्रान्ता वेति विग्रहे समासे सति द्वित्वैकत्वविशिष्टसमासार्थः समासस्य मुख्यविशेष्यभूतः, युष्मद्—अस्मदौ तु बह्वर्थकः, तदा युवावौ त्वमौ च न स्तः, तयोः युष्मदस्मदोर्द्वित्वैकत्वविशिष्टार्थत्वाभावादि-

---

पदस्य—पदान्तस्य (८।४।३७) के अधिकार से पूर्व सूत्र तक 'पदस्य' का अधिकार है, अर्थात् सभी कार्य पद के स्थान में होंगे।

पदात्—'कुत्सने च सुप्यगोत्रादौ' (८।१।६९) से पूर्व सूत्र तक पदात् का अधिकार है, अर्थात् सब कार्य पद से पर होंगे।

४०३। अनुदात्तं सर्वमपादादौ ८।१।१८। इत्यधिकृत्य। ४०४। युष्मदस्मदः षष्ठी-चतुर्थी-द्वितीयास्थयोर्वान्नावौ ८।१।२०। पदात् परयोरपादादौ स्थितयोरनयोः षष्ठ्यादिविशिष्टयोर्वां नौ इत्यादेशौ स्तः, तौ चानुदात्तौ।

४०५। बहुवचनस्य वस्नसौ ८।१।२१। उक्तविधयोरनयोः षष्ठ्यादिबहुवचनान्तयोर्वस्नसौ स्तः। वान्नावोरपवादः। ४०६। तेमयावेकवचनस्य ८।१।२२। उक्तविधयोरनयोः षष्ठीचतुर्थ्येकवचनान्तयोस्ते मे एतौ स्तः। ४०७। त्वामौ द्वितीयायाः ८।१।२३। द्वितीयैकवचनान्तयोस्त्वा, मा एतौ स्तः।

---

त्यर्थः। अत्र युष्मच्छब्दस्य एकद्व्यर्थवाचित्वाभावात् सुजस्ङेङस्भ्योऽन्यत्र मपर्यन्तस्य क्वापि न त्वमौ नापि युवावौ, 'ङे प्रथमयोः' इत्याद्यास्तु भवन्त्येव। सुजस्ङेङस्सु तु 'त्वाहौ यूयवयौ तुभ्यमह्यौ तवममौ' इत्येते भवन्त्येव, तेषामेकद्व्यर्थविशेषनिबन्धत्वाभावादिति।

---

अनुदात्तं—यहां से आगे—'अनुदात्तम्, सर्वम् तथा अपादादौ का अधिकार जानना चाहिये।

युष्मद्—पद से पर अपादादि में (श्लोक या ऋचा के चरण के आदि में नहीं) स्थित षष्ठी, चतुर्थी तथा द्वितीया के बहुवचन में वर्तमान युष्मद् तथा अस्मद् शब्दों के स्थान में क्रमशः वाम् तथा 'नौ' आदेश होते हैं और वे अनुदात्त होते हैं।

नोट—अग्रिम तीनों सूत्रों से बाध होने के कारण केवल सभी विभक्तियों के द्विवचन में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है।

बहु—पद से पर अपादादि में स्थित—षष्ठी, चतुर्थी तथा द्वितीया के बहुवचनान्त युष्मद्-अस्मद् शब्द के स्थान में क्रमशः वस् तथा नस् आदेश होते हैं।

नोट—सामान्यतः युष्मद्-अस्मद् शब्दों के सभी विभक्तियों के द्विवचन में क्रमशः वाम्, नौ और बहुवचन में वस्, नस् आदेश होते हैं।

ते मया—पद से पर अपादादि में स्थित—षष्ठी तथा चतुर्थ्येकवचनान्त युष्मद्, अस्मद्, शब्दों को क्रमशः 'ते', 'मे', आदेश होते हैं।

त्वामौ—पद से पर अपादादि में स्थित युष्मद्—अस्मद् शब्द जब द्वितीया के एकवचनान्त हों तब क्रमशः उनको 'त्वा', 'मा' आदेश होते हैं।

'श्रीशस्त्वाऽवतु माऽपीह दत्तात्ते मेऽपि शर्म सः।
स्वामी ते मेऽपि स हरिः पातु वामपि नौ विभुः॥ १॥
सुखं वां नौ ददात्वीशः पतिर्वामपि नौ हरिः।
सोऽव्याद्वो नः शिवं वो नो दद्यात् सेव्योऽत्र वः स नः'॥ २॥

'पदात्परयोः' किम्? वाक्यादौ मा भूत्। त्वां पातु। मां पातु। 'अपादादौ' किम्? 'वेदैरशेषैः संवेद्योऽस्मान् कृष्णः सर्वदाऽवतु'। स्थग्रहणाच्छ्रूयमाणविभक्तिकयोरेव। नेह-इति युष्मत्पुत्रो ब्रवीति। इत्यस्मत्पुत्रो ब्रवीति। ६२ समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः॥। ६३ एकतिङ् वाक्यम्॥। तेनेह न—ओदनं पच, तव भविष्यति। इह तु स्यादेव—'शालीनां ते ओदनं दास्यामि' इति। ६४ एते वांनावादय आदेशा अनन्वादेशे वा वक्तव्याः॥। अन्वादेशे तु नित्यं स्युः। धाता ते भक्तोऽस्ति, धाता तव भक्तोऽस्ति, इति वा। तस्मै ते नम इत्येव। ४०८। न चवाहाहैवयुक्ते

---

श्रीशस्त्वावतु०—इह = संसारे, श्रीशः = नारायणः, त्वा = त्वाम्, मे = मह्यम्, अपि=च, शर्म = सुखम्, दत्तात् = ददातु। स हरिः = पूर्वोक्तः नारायणः, ते = तव, मे = मम, अपि = च, स्वामी = प्रभुः, अस्तीति शेषः। (सः) विभुः = व्यापको नारायणः, वाम् = युवाम्, नौ = आवाम्, पातु = रक्षतु। (सः) ईशः = प्रभुः, वाम् = युवाभ्याम्, नौ = आवाभ्याम्, सुखं = कल्याणम्, ददातु = दत्तात्। (सः) हरिः = नारायणः, वां = युवयोः, नौ = आवयोः, पतिः = प्रभुः, अस्तीति शेषः। सः = हरिः, वः = युष्मान्, नः = अस्मान्, अव्यात् = रक्षेत्। सः = हरिः, वः = युष्मभ्यम्, नः = अस्मभ्यम्, शिवं=कल्याणं, दद्यात्। अत्र = इह लोके, सः = हरिः, वः = युष्माकम्, नः = अस्माकम्, सेव्यः = आराध्यः, अस्तीति शेषः।

---

समान—युष्मद्-अस्मद् शब्दों को समान (एक) वाक्य में ही अनुदात्त और पूर्वोक्त वाम्, नौ आदि आदेश होते हैं, ऐसा कहना चाहिए। (एक तिङ्-घटित ही वाक्य होता है)।

एते—(उपर्युक्त) ये जो—वाम्, नौ, वस्, नस्, आदि आदेश कहे गये हैं, वे सब अनन्वादेश में विकल्प से और अन्वादेश में नित्य ही होते हैं। ('अन्वादेश' दे० सूत्र ३५१)।

न च—च, वा, हा, अह तथा एव का योग (सम्बन्ध) हो तो पूर्वोक्त 'त्व', 'म' आदि आदेश नहीं होते हैं।

८।१।२४। चादिपञ्चकयोगे नैते आदेशाः स्युः। हरिस्त्वां मां च रक्षतु। कथं त्वां मां वा न रक्षेत्, इत्यादि। युक्तग्रहणात् साक्षाद्योगेऽयं निषेधः। परम्परासम्बन्धे त्वादेशः स्यादेव, हरो हरिश्च मे स्वामी। ४०९। पश्यार्थैश्चानालोचने ८।१।२५। अचाक्षुषज्ञानार्थैर्धातुभिर्योगे एते आदेशा न स्युः। चेतसा त्वां समीक्षते। परम्परासम्बन्धेऽप्ययं निषेधः। भक्तस्तव रूपं ध्यायति। आलोचने तु—भक्तस्त्वा पश्यति चक्षुषा। ४१०। सपूर्वायाः प्रथमाया विभाषा ८।१।२६। विद्यमानपूर्वात् प्रथमान्तात् परयोरनयोरन्वादेशेऽप्येते आदेशा वा स्युः। भक्तस्त्वमप्यहं तेन हरिस्त्वां त्रायते स माम्'। त्वा मा इति वा। ४११। साऽऽमन्त्रितम् २।३।४८। सम्बोधने या प्रथमा तदन्तमामन्त्रितसंज्ञं स्यात्। ४१२। आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्। ८।१।७२। स्पष्टम्। अग्ने तव। देवास्मान् पाहि। अग्ने नय। अग्न इन्द्र वरुण। इह युष्मदस्मदोरादेशस्तिङन्तनिघात आमन्त्रितनिघातश्च न। 'सर्वदा रक्ष देव नः' इत्यत्र तु 'देव' इत्यस्याविद्यमानवद्भावेऽपि ततः प्राचीनं 'रक्ष' इत्येतदाश्रित्यादेशः। एवम् 'इमं मे गंगे यमुने' इति मन्त्रे यमुन इत्यादिभ्यः प्राचीनामंत्रिताविद्य-

---

देवाऽस्मान् पाहि ( ई. ६८ )—अत्र 'सामन्त्रितम्' इत्यनेन सम्बोधनबहुवचनान्तस्य 'देवा' इत्यस्य आमन्त्रितसंज्ञायाम् 'आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्' इति तस्याऽविद्यमान्वद्भावे 'बहुवचनस्य वस्नसौ' इति अस्मदः नसादेशो न भवति। अस्मान्नित्यस्य पदात्परत्वाऽभावात्, पदादौ स्थितत्वाच्चेति।

---

पश्या—( दर्शनं पश्यः, पश्यः अर्थो येषां ते पश्यार्थाः ) चाक्षुषज्ञान से भिन्न दर्शनार्थक शब्दों से युक्त युष्मद् तथा अस्मद् के स्थान में वाम् एवं नौ आदि आदेश नहीं होते हैं।

सपूर्वा—यत्किंचित् विद्यमान पूर्वक प्रथमान्त पद से उत्तरवर्ती युष्मद् तथा अस्मद् शब्द जहाँ हो, वहाँ अन्वादेश में भी वाम्, नौ आदि आदेश विकल्प से होते हैं।

साम—सम्बोधन-विहित प्रथमान्त शब्दरूप की आमन्त्रित संज्ञा होती है।

आमं—पूर्ववर्ती आमन्त्रित संज्ञक अविद्यमानवत् होता है, अर्थात् पद के पूर्व रहने पर जो कार्य विहित है, वे आमन्त्रित पद के पूर्ववर्ती होने पर नहीं होते हैं।

मानवद्भावेऽपि मेशब्दमेवाश्रित्य सर्वेषां निपातः। ४१३ नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम् ८।१।७३। विशेष्यं समानाधिकरणे आमन्त्रिते परे नाऽविद्यमानवत्स्यात्। हरे दयालो नः पाहि। अग्ने तेजस्विन्। ४१४। विभाषितं विशेषवचने ८।१।७४। अत्र भाष्यम् 'बहुवचनमिति वक्ष्यामि' इति। बहुवचनान्तं विशेष्यं समानाधिकरणे आमन्त्रिते विशेषणे परे अविद्यमानवद्वा। यूयं प्रभवो देवाः शरण्याः, युष्मान् भजे, वो भजे। इहान्वादेशेऽपि वैकल्पिका आदेशाः। सुपात्–सुपाद्। सुपादौ। सुपादः। सुपादम्। सुपादौ। ४१५। पादः पत् ६।४।१३४। पाच्छब्दान्तं यदङ्गं भं तदवयवस्य पाच्छब्दस्य पदादेशः स्यात्। सुपदः। सुपदा। सुपाद्भ्याम्, इत्यादि। इति दान्ताः।

अग्निं मन्थतीत्यग्निमत्–अग्निमद्। अग्निमथौ। अग्निमथः। अग्निमद्भ्याम्, इत्यादि। इति थान्ताः।

'ऋत्विग्—' (सू २७३) इत्यादिसूत्रेणाऽञ्चेः सुप्युपपदे क्विन्।

४१६। अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति ६।४।२४। हलन्तानामनिदितानामङ्गानामुपाधाया नस्य लोपः स्यात् किति ङिति च। 'उगिदचाम्—' (सू. ३६१) इति नुम्। 'संयोगान्तस्य लोपः' (सू. ५४) नुमो नकारस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (सू३७७) इति कुत्वेन ङकारः। प्राङ्। अनुस्वारपरसवर्णौ। प्राञ्चौ। प्राञ्चः। प्राञ्चम्। प्राञ्चौ। ४१७। अचः ६।४।१३८। लुप्तनकारस्याऽञ्चतेर्भस्याकारस्य लोपः स्यात्। ४१८। चौ ६।३।१३८। लुप्ताकारनकारेऽञ्चतौ परे पूर्वस्याणो दीर्घः स्यात्। प्राचः। प्राचा। प्राग्भ्याम्,

---

प्राचः (ई. ६४)—प्रपूर्वात् अंच् धातोः क्विन् क्विनः सर्वापहारे 'अनिदितां हल' इत्युपधानकारलोपे 'कृदतिङ्' इति क्विनः कृत्संज्ञकत्वात् 'प्र अच्'

---

मामन्त्रि—समानाधिकरण आमन्त्रितान्त के परे पूर्व आमन्त्रितान्त सामान्यवाची शब्द अविद्यमानवत् नहीं होता है।

विभा—विशेषवाचक समानाधिकरण आमन्त्रितान्त शब्द के परे पूर्ववर्ती बहुवचनान्त आमन्त्रितान्त शब्द विकल्प से अविद्यमानवत् होता है।

पादः—'पाद' शब्दान्त भसंज्ञक अंग के स्थान में 'पत्' आदेश होता है।

अनिदि—'इद्' से भिन्न हलन्त अंग की उपधा के स्थान में वर्तमान नकार का लोप हो जाता है, कित्, ङित् प्रत्ययों के परे।

अचः—लुप्तनकारक अच् शब्दान्त भसंज्ञक अंग के अकार का लोप होता है।

चौ—लुप्त नकारक अञ्च् धातु के परे पूर्व अण् को दीर्घ होता है।

इत्यादि। प्रत्यङ्। प्रत्यञ्चौ। प्रत्यञ्चः। प्रत्यञ्चम्। प्रत्यञ्चौ। 'अचः' (सू ४१७) इति लोपस्य विषयेऽन्तरङ्गोऽपि यण् न प्रवर्तते 'अकृतव्यूहाः'—(प ५७) इति परिभाषया। प्रतीचः। प्रतीचा। 'अमुमञ्चति' इति विग्रहे 'अदस्-अञ्च्' इति स्थिते। ४१९। विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये ६।३।९२। अनयोः सर्वनाम्नश्च टेरद्र्यादेशः स्यादप्रत्ययान्ते अञ्चतौ परे। 'अदद्रि अञ्च्' इति स्थिते यण्। ४२०। अदसोऽसेर्दादु दो मः ८।२।८०।

---

इत्यस्य 'कृतद्धितसमासाश्च' इति कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां शसि अनुबन्धलोपे 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'अचः' इत्यकारस्य लोपे 'चौ' इति दीर्घे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'प्राचः' इति।

प्रतीचः (ई. ६३)—प्रतिपूर्वात् 'अञ्च्' धातोः 'ऋत्विगि'त्यादिना क्विनि क्विनः सर्वापहारे जाते 'अनिदितां हल—' इत्युपधानकारस्य लोपे 'कृदतिङ्' इति क्विनः कृत्संज्ञकत्वात् 'कृत्तद्धिते'ति प्रातिपदिकसंज्ञायां शसि अनुबन्धलोपे 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'अचः' इत्यलोपे 'चौ' इति दीर्घे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'प्रतीचः' इति।

अमुमञ्चतीति विग्रहे—क्विन्नन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वेन सौ अनिदितामिति नलोपे, उगिदचामिति नुमि, सुलोपे संयोगान्तलोपे 'क्विन्प्रत्ययस्ये'ति कुत्वे 'विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्ययः' इत्यद्र्यादेशे यणि, 'अदसोऽद्रेः पृथङ् मुत्वं केचिदिच्छन्ति लत्ववदि'ति बलाददसोऽसेरित्युत्वमत्वे अमुमुयङ्, अन्त्यबाधे अन्त्यसदेशस्येति बलात्परस्यैव मुत्वमिति अदमुयङ् इति। अः से सकारस्य स्थाने यस्येत्यर्थेऽत्र त्यदाद्यत्वाभावेन मुत्वं नेति मते अदद्र्यङ्, इति।

अदसोऽसेरिति (ई. ६९) अदसः, असेः, दात्, उ, दः, मः, इति पदच्छेदः। ननु सूत्रे 'उ' इत्यस्यैवोपादानात् 'उदूतौ' इत्यर्थः कथमिति वेत्सत्यम्? उश्च ऊश्च तयोः समाहारः इति विग्रहे द्वन्द्वे सति सुब्लुकि सवर्णदीर्घे 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वे 'ह्रस्वो नपुंसके' इति ह्रस्वत्वे समाहारस्यैकत्वादेकवचनस्य सोः 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति लुकि निष्पन्नस्य 'उ' इत्यस्य उदूतावित्यर्थसुलभ-

---

विष्वग्—'व' प्रत्ययान्त 'अञ्च्' धातु के उत्तरपद स्थानापन्न होने से विष्वक्, देव तथा सर्वनाम शब्दों के 'टि' के स्थान में 'अद्रि' आदेश होता है।

अदसो—असान्त 'अदस्' शब्दसम्बन्धी दकार से पर वर्ण के स्थान में उ अथवा ऊ आदेश होता है और दकार के स्थान में मकार आदेश हो जाता है।

अदसोऽसान्तस्य दात्परस्य उदूतौ स्तो दस्य मश्च। 'उ' इति ह्रस्वदीर्घयोः समाहारद्वन्द्वः। आन्तरतम्याद्ध्रस्वव्यञ्जनयोर्ह्रस्वो दीर्घस्य दीर्घः। अमुमुयङ्। अमुमुयञ्चौ। अमुमुयञ्चः। अमुमुयञ्चम्। अमुमुयञ्चौ। अमुमुईचः। अमुमुईचा। अमुमुयग्भ्याम्, इत्यादि। मुत्वस्यासिद्धत्वान्न यण्। 'अन्त्यबाधेऽन्त्यसदेशस्य' (प १०४) इतिपरिभाषामाश्रित्य परस्यैवमुत्वं वदता मते-'अदमुयङ्'। 'अः सेः सकारस्य स्थाने यस्य सः असिः' इति व्याख्यानात् 'त्यदाद्यत्वविषय एव मुत्वं नान्यत्र' इति पक्षे अदद्र्यङ्। उक्तं च—भाष्ये—

'अदसोऽद्रेः पृथङ् मुत्वं केचिदिच्छन्ति लत्ववत्।

---

त्वात्। ह्रस्वोकारस्योदाहरणम् 'अमुम्' इति। अत्र 'अदस् अम्' इति स्थिते अत्वे पररूपे 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे च कृते दात्परस्याकारस्य ह्रस्वोकारः दकारस्य मत्वं च भवति। दीर्घोकारस्योदाहरणम् 'अमू' इति। अत्र अत्वे पररूपे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ कृते 'अदौ' इति दशायां दात्परस्यौकारस्य दीर्घः ऊकारः दस्य मत्वं च भवति।

अमुमुईचः (ई० ६५ ६७, ६९)—अमुमञ्चतीति विग्रहे क्विनि उपपद-

---

अदसोद्रेः—सूत्र (४२०) में 'अदसोऽद्रेः' की त्रिविध व्याख्या की गयी है—

(१) कोई आचार्य 'अदसः' में अवयवषष्ठी मानते हैं, उनके मत में 'अलोऽन्त्य' परिभाषा (सूत्र) की प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि स्थानषष्ठी में ही उसकी प्रवृत्ति होती है। अतः 'अदद्रि अच्' ऐसी स्थिति में दोनों दकारों को मकार और तदुत्तर वर्णों को उकारद्वय होने पर 'अमुमुयङ्' ही रूप मानते हैं। यथा—'चलीक्लृप्यते' मे रीघटक रेफ और ऋकार का अवयव रेफ इन दोनों को 'कृपो रो लः' सूत्र से द्विलकारादेश एक साथ हो जाता है।

(२) कोई आचार्य 'अदसः' में स्थानषष्ठी मान कर—"अदसो योऽन्त्यः स दात् परः" ऐसा अर्थ करके 'अदद्रि अच्' ऐसी स्थिति में 'अदद्रि' का इकार जो अन्त्य है, वह दकार से अव्यवहित नहीं है, अतः अन्त्य को कार्य अप्राप्त है इसलिए इनके मत में 'अदमुयङ्' ही रूप बनेगा (यहीं, पर वर्ण को ही मुत्व होगा—'अद' का दकार और अकार पूर्ववत् बना रहेगा)।

(३) कोई आचार्य सूत्र में 'असेः' को यौगिक मानते हैं। इनके मत में जहाँ 'त्यदादीनामः' सूत्र से अत्वादेश (अकारादेश) युक्त 'अदस' रहेगा वहीं इस सूत्र की प्रवृत्ति होगी, अतः इनके मत में 'अदद्र्यङ्' ही रूप बनेगा।

केचिदन्त्यसदेशस्य नेत्येकेऽसेर्हि दृश्यते ॥' इति ।

'विष्वग्देवयोः' किम् ? अश्वाची । 'अञ्चतौ' किम् ? विष्वग्युक् । 'अप्रत्यये' किम् ? विष्वगञ्चनम् । अप्रत्ययग्रहणं ज्ञापयति—'अन्यत्र धातुग्रहणे तदादिविधिः' इति । तेन 'अयस्कारः' । 'अतः कृकमि—' ( सू. १६९ ) इति सः । उदङ् । उदञ्चौ । उदञ्चः । शसादावचि—४२१ । उद ईत् ६।४।१३९।

---

समासे सुब्लुकि 'अनिदिताम्' इति नलोपे 'विष्वग्देवयोश्च' इति अदसष्टेरद्र्यादेशे 'अदद्रि अच्' इति स्थिते शसि विभक्तौ 'अदसोः' इति प्रथमदकारस्य मत्वे तदुत्तराकारस्योत्वे द्वितीयदकारस्यापि मत्वे तदुत्तरस्य रेफस्य चोत्वे 'अचः' इति अलोपे, यण् तु न, अलोपेन यण्निमित्तस्याकारस्य विनाशोन्मुखत्वेन 'अकृतव्यूहा' इति परिभाषया अन्तरङ्गोऽपि यण् 'अचः' इति लोपविषये न प्रवर्तते इति सिद्धान्तात्, 'चौ' इत्यारम्भसामर्थ्याद्वा । ततश्च अलोपे सति 'चौ' इति दीर्घे सकारस्य रुत्वे विसर्गे च कृते उक्तं रूपं सिद्धम् ।

अदद्र्यङ् ( ई. ६५, ६८, ७१ )—'अदद्रि अञ्च्' इति स्थिते 'अनिदिताम्' इति नलोपे यणि 'अदद्र्यच्' इति, तस्मात् सौ तस्य हल्ङ्यादिलोपे 'अदसोसेर्दादुदो मः' इति दकारद्वयस्य 'चलीक्लृप्यते' इत्यत्र 'कृपो रो लः' इति रीगृकारयोरुभयोर्यथा लत्वं तथैव दकारद्वयस्यापि मत्वे, अकाररेफयोश्च उत्वे 'अमुमुयङ्' इति । 'अलोऽन्त्यस्य' इति इकारस्योत्त्वं प्राप्नोति दकारोच्चारणाच्च रेफस्योत्त्वं प्राप्नोतीति दकारोपादानसामर्थ्येन रेफस्यैव उत्त्वं स्यादिति पक्षे 'अन्त्यबाधेऽन्त्यसदेशस्य' इति परस्यैव मत्वे उत्त्वे च कृते 'अदमुयङ्' इति । 'असेः' इति निर्देशेन यत्र सकारस्याकारो भवति, तत्रैव मुत्वं भवतीति पक्षे अत्र मुत्वाऽप्राप्तेः 'अदद्र्यङ्' इति । इदं पक्षत्रयमपि भाष्यसम्मतम् । अत उक्तं मूले—अदसोऽद्रेः पृथङ्मुत्वमित्यादि ।

अप्रत्ययग्रहणं ज्ञापयति—'विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये' इत्यत्र अप्रत्ययग्रहणं किमर्थम् ? तदभावे उत्तरपदाधिकारत्वात् अञ्चुधातूत्तरपदे परे विष्वग्देवयोः सर्वनाम्नश्च टेरद्र्यादेशो भवति इत्यर्थेन यत्र लुप्तप्रत्ययान्तं केवलाञ्चधातूत्तरपदं यथा—अमुमुयङ् इत्यादि तत्रैव तत्प्रवृत्तेः, विष्वगञ्चनमित्यादौ च अञ्चनमित्युत्तरपदस्य अञ्चधातुरूपत्वाभावेन तस्याप्रवृत्तेः सर्वत्राऽदोषादिति अप्रत्ययग्रहणं व्यर्थं सत् ज्ञापयति—'धातुग्रहणे तदादिविधिः' इति ।

---

उद—उद् से उत्तर वर्ती अच् के स्थान में ईकार आदेश होता है ।

उच्छब्दात्परस्य लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्याकारस्य ईत् स्यात् । उदीचः । उदीचा । उदग्भ्याम्, इत्यादि । ४२२ । समः समि ६।३।९३। अप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे-समः समिरादेशः स्यात् । सम्यङ् । सम्यञ्चौ । सम्यञ्चः । समीचः । समीचा । ४२३ । सहस्य सध्रिः ६।३।९५। अप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे । सध्र्यङ् । ४२४ । तिरसस्तिर्यलोपे ६।३।९४। अलुप्ताकारेऽञ्चतावप्रत्ययान्ते परे तिरसस्तिर्यादेशः स्यात् । तिर्यङ् । तिर्यञ्चौ । तिर्यञ्चः । तिर्यञ्चम् । तिर्यञ्चौ । तिरश्चः ।

---

एवं च प्रकृते अप्रत्ययग्रहणाभावे अञ्चधात्वाद्युत्तरपदे इत्यर्थापत्त्या 'विष्वगञ्चनम्' इत्यत्र अञ्चनमित्यस्य अञ्चधात्वादित्वाद्ध्र्यादेशापत्तिरिति दिक् ।

उदीचः ( ई. ६७ )—उत्पूर्वाद् 'अञ्च्' धातोः 'ऋत्विक्' इति क्विनि क्विनः सर्वापहारे 'अनिदितामि'त्युपधानकारस्य लोपे 'कृदतिङ्' इति क्विनः कृत्संज्ञकत्वात् 'उत् अच्' इत्यस्य 'कृत्तद्धिते'ति प्रातिपदिकसंज्ञायां शसि अनुबन्धलोपे तस्य जश्त्वे 'यचि भम्' इति भसंज्ञायां 'अचः' इत्यल्लोपं प्रबाध्य 'उद ईत्' इति अचोऽकारस्य ईत्वे सस्य रुत्वे विसर्गे 'उदीचः' इति ।

समीचः ( ई. ६६ )—सम् पूर्वाद् 'अञ्च्' धातोः 'ऋत्विगि'त्यादिना क्विनि क्विनः सर्वापहारे 'अनिदिता'मिति उपधानकारस्य लोपे 'कृदतिङ्' इति क्विनः कृत्संज्ञकत्वात् 'सम् अच्' इत्यस्य 'कृत्तद्धिते'ति प्रातिपदिकसंज्ञायां शसि अनुबन्धलोपे 'समः समि' इति समः सम्यादेशे 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'अचः' इत्यल्लोपे 'चौ' इति दीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे 'समीचः' इति ।

तिरश्चः ( ई. ६८ )—तिरस्पूर्वकाद् 'अञ्च्' धातोः 'ऋत्विगि'त्यादिना क्विनि क्विनः सर्वापहारे 'अनिदितामि'ति नलोपे 'कृदतिङ्' इति क्विनः कृत्संज्ञकत्वात् 'तिरस् अच्' इत्यस्य 'कृत्तद्धिते'ति प्रातिपदिकसंज्ञायां शसि अनुबन्धलोपे भसंज्ञायाम् 'अचः' इति अल्लोपे 'तिरसस्तिर्यलोपे' इत्यस्य अप्राप्तचा 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति सस्य श्चत्वेन शकारे सस्य रुत्वे विसर्गे 'तिरश्चः', इति ।

---

समः—सम् के स्थान में समि आदेश होता है, 'व' प्रत्ययान्त अञ्च् धातु के परे ।

सहस्य—'सह' शब्द के स्थान में 'सध्रि' आदेश होता है 'व' प्रत्ययान्त 'अञ्च्' धातु के परे ।

तिरसः—तिरस् के स्थान में तिरि आदेश होता है; क्विन्प्रत्ययान्त अलुप्ताकारक 'अञ्च्' धातु के परे ।

तिरश्चा । तिर्यग्भ्याम्, इत्यादि । ४२५ । **नाञ्चेः पूजायाम्** ६।४।३०। पूजार्थस्याञ्चतेरुपधाया नस्य लोपो न स्यात् । अलुप्तनकारत्वान्न नुम् । प्राङ् । प्राञ्चौ । प्राञ्चः । नलोपाभावादकारलोपो न । प्राञ्चः । प्राञ्चा । प्राङ्भ्याम् । प्राङ्खुषु-प्राङ्क्षु-प्राङ्षु । एवं पूजार्थे प्रत्यङ्ङादयः । 'क्रुञ्च कौटिल्याभावयोः' । अस्य 'ऋत्विग्—' ( सू ३७३ ) आदिना नलोपाभावोऽपि निपात्यते । क्रुङ् । क्रुञ्चौ । क्रुञ्चः । क्रुङ्भ्याम् । इत्यादि । 'चोः कुः' ( सू ३७८ ) । पयोमुक्-पयोमुग् । पयोमुचौ । पयोमुचः । 'व्रश्च—' ( सू २९४ ) इति षत्वम् । 'स्कोः—' ( सू ३८० ) इति सलोपः । जश्त्वचर्त्वे । सुवृट्-सुवृड् । सुवृश्चौ । सुवृश्चः । सुवृट्त्सु-सुवृट्सु । इति चान्ताः ।

'वर्तमाने पृषन्-महद्-बृहज्जगच्छतृवच्च' ( उ. २४१ ) एते निपात्यन्ते, शतृवच्चैषां कार्यं स्यात् । उगित्त्वान्नुम् । 'सान्तमहतः—' ( सू. ३१७ ) इति दीर्घः । मह्यते पूज्यत इति महान् । महान्तौ । महान्तः । हे महन् । महतः । महता । महद्भ्याम्, इत्यादि । ४२६ । **अत्वसन्तस्य चाधातोः** ६।४।१४। अत्वन्तस्योपधाया दीर्घः स्याद्धातुभिन्नासन्तस्य चासम्बुद्धौ सौ परे । परं नित्यं च नुमं बाधित्वा वचनसामर्थ्यादादौ दीर्घः । ततो नुम् । धीमान् । धीमन्तौ । धीमन्तः । हे धीमन् । शसादौ महद्वत् । धातोरप्यत्वन्तस्य दीर्घः । गोमन्तमिच्छति, गोमानिवाचरतीति वा क्यजन्तादाचारक्विबन्ताद्वा कर्तरि क्विप् । 'उगिदचाम्' ( सू. ३६१ ) इति सूत्रेऽज्ग्रहणं नियमार्थम्—'धातोश्चेदुगित्कार्यं तर्ह्यञ्चतेरेव' इति । तेन 'स्रत्' 'ध्वत्' इत्यादौ न । 'अधातोः'

---

उगिदचामिति—अयम्भावः—अञ्च्धातोरपि उगित्त्वेन उगित्यंशेनैव नुम्सिद्धौ, अञ्च्ग्रहणं व्यर्थं सत् धातोश्चेदुगित्कार्यं तर्हि अञ्च्धातोरेवेति नियमयति । तेन स्रत्, ध्वत् इत्यादौ नुम् न भवति । इत्थं च अञ्च्धात्वतिरिक्तानां धातूनां नुमोऽभावसिद्धौ अधातुग्रहणं गोमानित्यस्य वर्तमानकालेऽधातुत्वाभावेऽपि पूर्वकालिकाधातुत्वमादाय नुम् स्यादित्यर्थस्यावबोधनार्थमिति दिक् ।

---

नाञ्चेः—पूजार्थक 'अञ्च्' धातु के उपधा नकार का लोप नहीं होता है ।

वर्तमाने—वर्तमान काल में—पृषत्, महत्, बृहत् और जगत्—ये निपातित होते हैं और शतृप्रत्यय की तरह इनको कार्य होता है ।

अत्व—'असु' तथा 'अस्' शब्दान्त धातुभिन्न अङ्गसंज्ञक की उपधा का दीर्घ होता है, सम्बुद्धि भिन्न 'सु' के परे ।

इति त्वधातुभूतपूर्वस्यापि नुमर्थम् । गोमान् । गोमन्तौ । गोमन्तः, इत्यादि । 'भातेर्डवतुः' ( उ. ६३ ) भवान् । भवन्तौ । भवन्तः । शत्रन्तस्य त्वत्वन्तत्वाभावान्न दीर्घः । भवतीति भवन् । ४२७ उभे अभ्यस्तम् ६।१।५। षाष्ठद्वित्वप्रकरणे ये द्वे विहिते ते उभे समुदिते अभ्यस्तसंज्ञे स्तः । ४२८ । नाभ्यस्ताच्छतुः ७।१।७८। अभ्यस्तात् परस्य शतुर्नुम् न स्यात् । ददत्–ददद् । ददतौ । ददतः । ४२९ । जक्षित्यादयः षट् ६।१।६। षड् धातवोऽन्ये जक्षितिश्च सप्तम एतेऽभ्यस्तसंज्ञाः स्युः । जक्षत्–जक्षद् । जक्षतौ । जक्षतः । एवं जाग्रत्, दरिद्रत्, शासत्, चकासत् । दीधीवेव्योर्ङित्त्वेऽपि छान्दसत्वाद् व्यत्ययेन परस्मैपदम् । दीध्यत् । वेव्यत् । इति तान्ताः ।

---

गोमान् ( ई. ५६, ६७ )—गोमन्तमिच्छतीति विग्रहे क्यजन्तात् अलोपे यलोपे गोमत् शब्दो निष्पन्नः । तस्मात् सौ 'अत्वसन्तस्य—' इति दीर्घे 'उगिदचा'मिति नुमि हल्ङ्यादिलोपे संयोगान्तलोपे 'गोमान्' इति ।

नन्वत्र क्यजन्तस्य 'सनाद्यन्ता' इति धातुसंज्ञकत्वेन ततः क्विप्यपि क्विपा धातुत्वानपायात् 'उगिदचामि'ति सूत्रे 'अधातोः' इत्युक्तेः कथमत्र नुम्प्रवृत्तिरिति चेदत्रोच्यते—तत्र सूत्रेऽञ्ग्रहणेन अञ्चुधातोरेव ग्रहणात्तस्य चोकारेत्संज्ञकतया उगित्पदेनैव ग्रहणसिद्धेस्तद्वैयर्थ्येन 'धातोश्चेदुगित्कार्यं तर्हि अञ्चतेरेव इत्यस्य अञ्चधातुभिन्नधातोरुगित्कार्यं न भवतीत्यर्थकस्य ज्ञापिततया तेनैव तत्सूत्रस्य धातौ निवृत्तिसिद्ध्या सूत्रे क्रियमाणस्य धातोरित्यस्य वैयर्थ्यापत्त्या तत्सामर्थ्येन भूतपूर्वस्य अधातोरपि उगितो नुमिति ज्ञापनेन क्यचः प्रवृत्तेः पूर्वं गोमतोऽधातुतया भूतपूर्वाधातुत्वेन नुमः प्रवृत्तेः सुवचत्वात् ।

---

उभे—छठे अध्याय में जो द्वित्वप्रकरण है, उसमें से किसी भी सूत्र से विहित द्वित्वविशिष्ट समुदाय की अभ्यस्त संज्ञा होती है ।

नाभ्यः—अभ्यस्त संज्ञक से 'शतृ' को नुमागम होता है ।

जक्षि—जक्ष एवं इससे आगे के और छह धातुओं की भी अभ्यस्तसंज्ञा होती है ।

नोट—अभ्यस्त संज्ञा का फल पूर्व सूत्र से नुम् का निषेध है । यक्षित्यादि ये हैं—

**यक्षि जागृ दरिद्रा शास् दीधीङ् वेविङ् चकास् तथा ।**
**अभ्यस्तसंज्ञा विज्ञेया धातवो मुनिभाषिताः ॥**

गुप्–गुब् । गुपौ । गुपः । गुब्भ्याम्, इत्यादि । इति पान्ताः ।

४३० । त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च ३।२।६०। त्यदादिषूपपदेष्वज्ञानार्थाद् दृशेर्धातोः कञ् स्यात्, चात् क्विन् । ४३१ । आ सर्वनाम्नः ६।३।११। सर्वनाम्न आकारोऽन्तादेशः स्याद् दृग्दृश्वतुषु । कुत्वस्यासिद्धत्वात् 'व्रश्च—' ( सू. २९४ ) इति षः । तस्य जश्त्वेन डः । तस्य चर्त्वेन पक्षे कः, तादृक्–तादृग् । तादृशौ । तादृशः । 'षत्वापवादत्वात् कुत्वेन खकारः' इति कैयटः, हरदत्तादिमते तु चर्त्वाभावपक्षे ख एव श्रूयेत, न तु गः; जश्त्वं प्रति कुत्वस्यासिद्धत्वात् । 'दिगादिभ्यो यत्' ( सू. १४२९ ) इति निर्देशान्नासिद्धत्वमिति वा बोध्यम् । 'व्रश्च'–( सू. २९४ ) इति षत्वम्, जश्त्वचर्त्वे । विट्-

---

तादृक् ( ई. ६७, ६९ )—स इवाऽयं पश्यतीति विग्रहे 'त्यदादिष्वि'ति क्विनि क्विनः सर्वापहारे उपपदसमासे 'आ सर्वनाम्नः' इत्यात्वे सवर्णदीर्घे तादृश्शब्दो निष्पन्नः । तस्मात् सौ 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वस्यासिद्धत्वात् 'व्रश्चभ्रस्ज' इति शकारस्य षत्वे तस्य जश्त्वेन डकारे तस्य कुत्वेन गकारे 'हल्ङ्याब्भ्यो' इत्यादिना' सुलोपे 'वाऽवसाने' इति पाक्षिके चर्त्वे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

अत्र कैयटादयः—'तादृश्' इति दशायां षत्वापवादात् कुत्वेन खकारे तस्य चर्त्वेन कत्वे 'तादृक्' इति प्राहुः । नच चर्त्वाऽभावपक्षे जश्त्वं प्रति कुत्वस्यासिद्धत्वात् 'तादृग्' इति द्वितीयं रूपं न स्यादिति वाच्यम् 'दिगादिभ्यः' इति सूत्र-निर्देशेन असिद्धत्वाभावकल्पनेनादोषात् ।

कुत्वस्यासिद्धत्वादिति—तत्पूर्वकाद् दृशेः त्यदादिष्विति क्विन्नन्तत्वात् प्रातिपदिकत्वेन सौ 'आसर्वनाम्नः' इत्यात्वे सोर्लोपे क्विन्प्रत्ययस्येत्यासिद्धत्वात् व्रश्चेति षत्वे जश्त्वेन डकारे, ततः कुत्वेन गकारे च तादृक् तादृगिति दीक्षिताशयः । क्विन्प्रत्ययस्येत्यत्र कुः क्विन् यत इति न्यासेन दृष्ट इत्यध्याहारेण च सिद्धे प्रत्ययग्रहणं वीप्सागर्भबहुव्रीहिलाभार्थं तेन षत्वापवादत् वात्कुत्वेन खकारे चर्त्वे तादृक्, इति । चर्त्वाभावपक्षे जश्त्वं प्रति कुत्वस्यासिद्धत्वात् खकार एव दिगादिभ्य इति निर्देशान्नासिद्धत्वमिति वा बोध्यमिति कैयटाशयः ।

---

त्यदादिषु—त्यदादि गणपठित शब्दपूर्वक अज्ञानार्थक 'दृश्' धातु से कर्तृ रूप अर्थ में कञ् प्रत्यय और चकारात् क्विन् प्रत्यय भी होता है ।

आ सर्व—सर्वनाम संज्ञक शब्द को आकारान्त आदेश होता है, दृग्, दृश् या वतु प्रत्यय के परे ।

विड् । विशौ । विशः । विशम् । ४३२ । नशेर्वा ८।२।६३। नशेः कवर्गोऽन्तादेशो वा स्यात् पदान्ते । नक्-नग् । नट्-नड् । नशः । नग्भ्याम्-नड्भ्याम्, इत्यादि । ४३३ । स्पृशोऽनुदके क्विन् ३।२।५८। अनुदके सुप्युपपदे स्पृशेः क्विन् स्यात् । घृतस्पृक्-घृतस्पृग् । घृतस्पृशौ । घृतस्पृशः । क्विन् प्रत्ययो यस्मादिति बहुव्रीह्याश्रयणात् क्विप्यपि कुत्वम् । स्पृक् । षडगकाः प्राग्वत् । इति शान्ताः ।

'ञिधृषा प्रागल्भ्ये' । अस्मात् 'ऋत्विग्—' ( सू. ३७३ ) आदिना क्विन् द्वित्वमन्तोदात्तत्वं च निपात्यते । कुत्वात् पूर्वं जश्त्वेन डः गः कः । धृष्णोतीति दधृक्-दधृग् । दधृषौ । दधृषः । दधृग्भ्याम्, इत्यादि । रत्नानि मुष्णातीति रत्नमुट्-रत्नमुड् रत्नमुषौ । रत्नमुषः । 'षड्भ्यो लुक्' (सू. २६१ ) । षट्-षड् । षड्भिः । षड्भ्यः २ । 'षट्चतुर्भ्यश्च' ( सू. ३३८ ) इति नुट् । 'अनाम्' इति पर्युदासान्न ष्टुत्वनिषेधः । 'यरोऽनुनासिके—' ( सू. ११६ ) इति विकल्पं बाधित्वा 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' ( वा. २७ ) इति वचनान्नित्यमनुना-

---

घृतस्पृक् ( ई. ६० )—घृतं स्पृशतीति विग्रहे 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' इति क्विन्प्रत्यये, उपपदसमासे, सुब्लुकि 'घृतस्पृश्' इति । तस्मात् सुबुत्पत्तिः, तस्य हल्ङ्यादिलोपे कुत्वस्यासिद्धत्वात् 'व्रश्चेति' षत्वे, जश्त्वे घृतस्पृड् इत्यवस्थायां 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वे, चर्त्वे 'घृतस्पृक्' इति । चर्त्वाभावपक्षे 'घृतस्पृग्' इति च सिद्धम् ।

स्पृक् ( ई. ६८ ) 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इत्यतः 'क्विनः कुः' इत्येतावतैव क्विन्नस्येति लब्धे प्रत्ययग्रहणं क्विन् प्रत्ययो यस्मादिति बहुव्रीहिलाभायेत्युक्तम् । अतः निरुपसर्गात् स्पृशेः क्विपि कृतेऽपि अनेन कुत्वं 'स्पृक्' इति बोध्यम् ।

ऋत्विगादिनेति—क्विन्नादित्रयं निपात्यते । क्विनि लुप्ते धृष् इत्यस्य द्वित्वम् । 'उरत्' रपरत्वम् । हलादिः शेषः । कित्वान्न लघूपधगुणः, दधृष् इति रूपम् । 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' इत्याद्युदात्तनिवृत्त्यर्थमन्तोदात्तनिपातनम् ।

---

नशे—नश् धातु को कवर्गान्त आदेश विकल्प से होता है, पदान्त में ।

स्पृशो—'उदक' शब्द से भिन्न सुबन्त उपपद रहने पर स्पृश् धातु से क्विन् प्रत्यय होता है ।

सिकः। षण्णाम् । षट्त्सु-षट्सु । तदन्तविधिः, परमषट् । परमषण्णाम् । गौणत्वे तु प्रियषषः । प्रियषषाम् । रुत्वं प्रति षत्वस्यासिद्धत्वात् 'ससजुषो रुः' ( सू. १६२ ) इति रुत्वम् । ४३४ । र्वोरुपधाया दीर्घ इकः ८।२।७६। रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घः स्यात्पदान्ते । पिपठीः । पिपठिषौ । पिपठिषः । पिपठीर्भ्याम् । 'वा शरि' ( सू. १५१ ) इति वा विसर्जनीयः । ४३५ । नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि ८।३।५८। एतैः प्रत्येकं व्यवधानेऽपि इण्कुभ्यां परस्य सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात् । ष्टुत्वेन पूर्वस्य षत्वम् । पिपठीष्षु-पिपठीःषु ।

---

षण्णाम् ( ई. ७४ )—षष्शब्दात् आमि 'षट्चतुर्भ्यश्च' इति नुटि 'षष् नाम्' इति स्थिते 'झलां जशोऽन्ते' इति षस्य जश्त्वेन डकारे 'ष्टुना ष्टुः' इति नस्य ष्टुत्वेन णकारे 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इति डकारस्य च णत्वे 'षण्णाम्' इति । 'अत्र' 'न पदान्ताट्टोरनाम्' इति ष्टुत्वनिषेधस्तु न 'अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्' इति तन्निषेधात् । 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इत्यत्र नित्यपदोपादानात् 'षड्णाम्' इति प्राचोक्तं द्वितीयं रूपं न युक्तिसहम् ।

रुत्वं प्रतीति—पठितुमिच्छतीत्यर्थे 'पठ्' धातोः 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' इति सन्प्रत्यये 'सन्यङोः' इति द्वित्वे हलादिशेषे 'सन्यतः' इत्यभ्यासस्य इत्वं, सनः इट्, षत्वं, 'सनाद्यन्ताः' इति धातुत्वम् । पिपठिष इत्यस्मात् क्विप्, 'अतो लोपः' पिपठिष् इति षकारान्तम् । कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकत्वं, ततः सुः, 'क्वौ लुप्तं न स्थानिवत्' इति निषेधाद्धल्ङ्यादिलोपे कृते 'ससजुषो रुः' इति रुत्वम् । न च सकाराभावः शङ्क्यः, रुत्वं प्रति षत्वस्यासिद्धत्वादित्यर्थः ।

पिपठीः ( ई. ७३ )—पिपठिष् शब्दात् सौ हल्ङ्यादिना सुलोपे सति रुत्वे कर्तव्ये 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' इति षत्वस्याऽसिद्धत्वात् 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे अनुबन्धलोपे 'पिपठिर्' इति जाते 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' इति उपधायाः इकारस्य दीर्घे रेफस्य 'खरवसानयो'रिति विसर्गे पिपठीः' इति सिद्धम् ।

पिपठीष्षु( ई. ७२ )—पिपठिष् शब्दात् सप्तमीबहुवचने सुपि अनुबन्ध-

---

र्वोरुप—रेफान्त और वान्त धातु की उपधा के इक् को दीर्घ होता है, पदान्त में ।

नुम्—इण् या कवर्ग से पर–नुम्, विसर्ग या शर् इनमें से किसी एक का भी व्यवधान होने पर सकार को मूर्धन्य ( षकार ) आदेश होता है ।

'प्रत्येकम्' इति व्याख्यानादनेकव्यवधाने षत्वं न। निंस्स्व। निंस्से। नुम्ग्रहणं नुम्स्थानिकानुस्वारोपलक्षणार्थं, व्याख्यानात्। तेनेह न—सुहिन्सु, पुंसु। अतएव न शर्ग्रहणेन गतार्थता। 'रात्सस्य' (सू. २८०) इति सलोपे विसर्गः, चिकीः। चिकीर्षौ। चिकीर्षः। 'रोः सुपि' (सू ३३९) इति नियमान्न विसर्गः, चिकीर्षु। 'दमेर्डोस्' (उ २२७)। डित्त्वसामर्थ्याट्टिलोपः। षत्वस्यासिद्धत्वाद्रुत्वविसर्गौ, दोः। दोषौ। दोषः। 'पद्दन्–' (सू. २२८) इति वा दोषन्। दोष्णः। दोष्णा। दोषः। दोषा। 'विश प्रवेशने'। सन्नन्तात्क्विप्। षत्वस्यासिद्धत्वात् संयोगान्तलोपः। 'व्रश्च—' (२९४) इति षः। जश्त्वचर्त्वे। विविट्-विविड्। विविक्षौ। विविक्षः। 'स्कोः—' (सू ३८०) इति कलोपः। तट्-

---

लोपे 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदसंज्ञायां सत्यां षत्वस्यासिद्धत्वात् 'ससजुषो रुः' इति रुत्वे अनुबन्धलोपे 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' इति दीर्घे 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गे सत्त्वं बाधित्वा 'वा शरि' इति 'विसर्गस्य स्थाने पाक्षिके विसर्गे 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' इति सस्य षत्वे 'पिपठिःषु' इति। 'वा शरि' इति विकल्पपक्षे 'पिपठीः सु' इति दशायां 'विसर्जनीयस्य सः' इति विसर्गस्य सत्त्वे 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' इति सुपः सकारस्य षत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इति सकारस्य ष्टुत्वेन षकारे 'पिपठीष्षु' इति।

नुम्ग्रहणमिति—अयम्भावः। नुमि सति सर्वत्रैव नस्यानुस्वारे नुम्पदस्य लक्षणया नुम्स्थानिकानुस्वारस्य व्यवधानेऽपि षत्वं भवतीत्यर्थो भवति। तेन सुहन् सु इत्यत्र नुमः सत्त्वेऽपि षत्वन्न भवति। सु इत्यत्रापि मकारस्थानिकानुस्वारस्य सत्त्वात् षत्वं न। इत्थञ्चानुस्वारस्य शर्प्रत्याहारे पाठेऽपि शर्ग्रहणेनानुस्वारस्य व्यर्थता न भवति यतोऽत्र विलक्षणानुस्वारो गृह्यते।

चिकीर्षुः (ई. ७१, ७३)—चिकीर्ष् शब्दात् सुपि षत्वस्यासिद्धत्वात् 'रात्सस्य' इति नियमात् सकारस्य संयोगान्तलोपे 'रोः सुपि' इति नियमात् रेफस्य विसर्गाभावे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे उक्तं रूपं सिद्धम्।

विविट् (ई. ६५)—वेष्टुमिच्छतीति विग्रहे विशेः सनि 'हलन्ताच्च' इति सनः कित्वाल्लघूपधगुणाभावे 'सन्यङोः' इति द्वित्वे हलादिशेषे शकारस्य झल्परकत्वात् 'वश्चभ्रस्ज' इत्यादिना षत्वे 'षढोः कः सि' इति षस्य कत्वे प्रत्ययावयवत्वात् सस्य षत्वे 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वात् क्विपि अतो लोपे 'विविक्ष्' शब्दो निष्पन्नः। तस्मात् सौ तस्य हल्ङ्यादिलोपे 'संयोगान्तस्य

तड् । तक्षौ । तक्षः । गोरट्-गोरड् । गोरक्षौ । गोरक्षः । तक्षिरक्षिभ्यां ण्यन्ताभ्यां क्विपि तु 'स्कोः—' (सू ३८०) इति न प्रवर्तते, णिलोपस्य स्थानिवद्भावात् । 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' (वा ४४) इति त्विह नास्ति, 'तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु' (वा' ४५) इति निषेधात् । तस्मात् संयोगान्तलोप एव । तक्-तग् । गोरक्-गोरग् । 'स्कोः—' (सू ३८०) इति कलोपं प्रति कुत्वस्यासिद्धत्वात् संयोगान्तलोपः । पिपक्-पिपग् । एवं विवक्, दिधक् । इति षान्ताः ।

'पिस गतौ' सुष्ठु पेसतीति सुपीः । सुपिसौ । सुपिसः । सुपिसा । सुपीर्भ्याम् । सुपीःषु-सुपीष्षु । एवं सुतूः । 'तुस खण्डने' । विद्वान् । विद्वांसौ ।

---

लोपः' इति षकारस्य लोपे ततश्च सकारस्य निमित्तस्य निवृत्त्या कत्वस्याऽपि निवृत्तौ झलपरत्वनिवृत्या पूर्वप्रवृत्तषत्वस्याऽपि निवृत्तौ, पदान्तत्वात्, 'व्रश्चे'ति षत्वे तस्य जश्त्वेन डकारे तस्य चर्त्वे टकारे 'विविट्' इति । चर्त्वाभावे 'विविड्' इति ।

न च 'विविक्ष्' इति दशायां संयोगान्तलोपात् पूर्वं 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति ककारलोपः कुतो नेति वाच्यम् ? संयोगादिलोपे कर्तव्ये 'षढोः कः सि' इति कत्वस्यासिद्धत्वात् । एवंच कत्वस्याऽसिद्धत्वादिति वक्तव्ये षत्वस्या-सिद्धत्वात् संयोगान्तलोप इति मूलोक्तं न युक्तिसहमिति तत्त्वविदः ।

तक्षिरक्षिभ्यामिति (ई. ६६, ६८, ७०, ७२)—तक्ष्धातोर्णिचि ण्यन्तस्य धातुत्वात् क्विपि क्विपः सर्वापहारे 'णेरनिटि' इति णिलोपे 'तक्ष्' इति । तस्मात् सौ तस्य हल्ङ्यादिलोपे 'संयोगान्तस्य' इति षकारस्य लोपे ककारस्य जश्त्वे चर्त्वे 'तक्' इति । चर्त्वाभावे 'तग्' इति । णिलोपे सति 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति कलोपस्तु न, णिलोपस्य स्थानिवत्त्वात् । नच 'पूर्वत्राऽसिद्धे न स्थानिवत्' इति निषेधः स्यादिति वाच्यम्, 'तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु' इति निषेधात् ।

विद्वान्—'विद्' धातोः लटः शतरि 'विदेः शतुर्वसुः' इति शतृस्थाने वस्वादेशे अनुबन्धलोपे 'विद्वस्' इति । तस्य कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ अनुबन्धलोपे 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति नुमि 'सान्तमहतः संयोगस्य' इति दीर्घे 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति विभक्तिसकारस्य लोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति सलोपे 'विद्वान्' इति । अत्र नलोपस्तु, न, संयोगान्तलोपस्याऽसिद्धत्वात् ।

विद्वांसः। हे विद्वन्। विद्वांसम्। विद्वांसौ। ४३६। वसोः सम्प्रसारणम् ६।३।१३१। वस्वन्तस्य भस्य सम्प्रसारणं स्यात्। पूर्वरूपत्वं षत्वम्। विदुषः। विदुषा। 'वसुस्रंसु–' (सू ३३४) इति दत्वम्। विद्वद्भ्याम्। इत्यादि। सेदिवान्। सेदिवांसौ। सेदिवांसः। सेदिवांसम्। अन्तरङ्गोऽपीडागमः सम्प्रसारणविषये न प्रवर्तते। 'अकृतव्यूहाः–' (प ५७) इति परिभाषया। सेदुषः। सेदुषा। सेदिवद्भ्याम्। इत्यादि। 'सान्तमहतः–' (सू ३१७) इत्यत्र सान्तसंयोगोऽपि प्रातिपदिकस्यैव गृह्यते, न तु धातोः, महच्छब्दसाहचर्यात्। सुष्ठु हिनस्तीति सुहिन्। सुहिंसौ। सुहिंसः। सुहिन्भ्याम्। सुहिन्सु। ध्वत्-ध्वद्। ध्वसौ। ध्वसः। ध्वद्भ्याम्। एवंस्रत्। ४३७। पुंसोऽसुङ् ७।१।८९। सर्वनामस्थाने विवक्षिते पुंसोऽसुङ् स्यात्। उकार उच्चारणार्थः। 'बहुपुंसी' इत्यत्र 'उगितश्च' (सू ४५५) इति ङीबर्थं कृतेन 'पुञो डुम्सुन्' (पातेर्डुम्सुन्) इति प्रत्ययस्योगित्त्वेनैव नुम्सिद्धेः। पुमान्। हे पुमन्। पुमांसौ। पुमांसः। पुंसः। पुंसा। पुम्भ्याम्। पुम्भिः। पुंसु। 'ऋदुशन–' (सू २७६) इत्यनङ्। उशना। उशनसौ। उश-

---

सेदुषः (ई. ६३, ७२)—सद धातोर्लिटि। 'भाषायां सदवसश्रुवः' इति लिटः क्वसुप्रत्यये इत्संज्ञादिकार्ये द्वित्वे अभ्याससंज्ञायां हलादिशेषे 'अत एकहल्मध्ये' इति इटि 'सेदिवस्' शब्दो निष्पन्नः। तस्मात् शसि भसंज्ञायां 'वसोः सम्प्रसारणम्' इति सम्प्रसारणे प्राप्ते ततः पूर्वम् 'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः' इति परिभाषया कृतमपि कार्यं निवर्तयन्ति इत्यर्थेन इडागमस्य निवृत्तौ ततः सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'सेदुषः' इति।

पुमान् (ई. ७०)—'पुंस्' शब्दात् सौ 'पुंसोऽसुङ्' इत्यसुङि अनुबन्धलोपे 'उगिदचामिति' नुमि 'सान्तमहतः संयोगस्य' इति उपधादीर्घे हल्ङ्यादिना विभक्तेः सकारस्य लोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति सलोपे 'पुमान्' इति।

पुंसु (ई. ६३)—पुंस्शब्दात् सुपि 'स्वादिष्वि'ति पदत्वात् संयोगान्तलोपे निमित्ताऽपायादनुस्वारस्याऽपि निवृत्तौ 'नश्च' इत्यनुस्वारे 'पुंसु' इति।

---

वसोः—वस्वन्त भसंज्ञक अङ्ग को सम्प्रसारण होता है।

पुंसो—सर्वनामस्थान प्रत्यय की विवक्षा में पुंस् शब्द को असुङ् आदेश हो जाता है।

नसः । ६५ अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ् नलोपश्च वा वाच्यः* । हे उशनन्–हे उशन–हे उशनः । उशनोभ्याम् । इत्यादि । अनेहा । अनेहसौ । अनेहसः । हे अनेहः । अनेहोभ्याम् । इत्यादि । वेधाः । वेधसौ । वेधसः । हे वेधः । वेधोभ्याम् इत्यादि । अधातोरित्युक्तेर्न दीर्घः । सुष्ठु वस्ते सुवः । सुवसौ । सुवसः । पिण्डं ग्रसते पिण्डग्रः । पिण्डग्लः । 'ग्रसु ग्लसु अदने' ।

४३८ । अदस औ सुलोपश्च ७।२।१०७। अदस औकारोऽन्तादेशः स्यात् सौ परे सुलोपश्च । 'तदोः सः सौ–' ( सू. ३८१ ) इति दस्य सः । असौ । ६३ । औत्वप्रतिषेधः साकच्कस्य वा वक्तव्यः सादुत्वं च* । प्रतिषेधसन्नियोगशिष्टमुत्वं तदभावे न प्रवर्तते । असकौ–असुकः । त्यदाद्यत्वं, पररूपत्वम्,

---

हे उसनन् ( ई. ६८ )—'उसनस्' शब्दात् सम्बोधनैकवचने 'उसनस् सु' इति दशायां 'हल्ङ्याब्भ्यः—' इति सोर्लोपे 'अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ् नलोपश्च वा वाच्यः' इति अनङि नलोपे च कृते 'हे उसन' इति । वाग्रहणान्नलोपाभावे सोर्लोपे अनङि 'हे उसनन्' इति । अनङाभावे सोर्लोपे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'हे उसनः' इति रूपत्रयं सिद्धं भवति ।

असकौ ( ई. ७२ )—अदस्शब्दाद् 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः' इत्यकचि 'अदकस्' इति, तस्मात् सौ 'अदस औ सुलोपश्च' इति 'तन्मध्यपतितन्यायेन अदस्शब्देन अदकस्शब्दस्यापि' ग्रहणात् नित्यौत्वे प्राप्ते 'औत्वप्रतिषेधे साकच्कस्य वा वक्तव्यः' इति सन्निषेधे 'तदोः सः सौ' इति सत्वे सकारात्परस्याकारस्य 'सादुत्वं च' उत्वे 'असुकस् स्' इति स्थिते त्यदाद्यत्वे पररूपे सस्य रुत्वे विसर्गे 'असुकः' इति । औत्वप्रतिषेधाऽभावे 'अदकस् स्' इति दशायां सस्य औत्वे सुलोपे च विहिते दस्य सत्वे 'असकौ' इति उक्तं रूपं सिद्धम् । अत्र पक्षे 'सादुत्वं चे'ति न प्रवर्तते, प्रतिषेधसंनियोगसिद्धत्वात् ।

---

अस्य—सम्बुद्धि के परे उशनस् शब्द को अनङ् विकल्प से एवं नलोप ( भी ) विकल्प से होता है, ऐसा कहना चाहिए ।

अदस—'सु' विभक्ति के परे अदस् शब्द को औकारान्त आदेश और 'सु' का लोप भी होता है ।

औत्व—'अकच्' विशिष्ट 'अदकस्' को औत्व का प्रतिषेध विकल्प से होता है और सकार के बाद के वर्ण को उकारादेश होता है ।

वृद्धिः। 'अदसोऽसेः–' ( सू ४२० ) इति मत्वोत्त्वे, अमू। 'जसः शी' (सू.२१४) आद्गुणः (सू. ६९)। ४३९। एत ईद्बहुवचने ८।२।८१। अदसो दात्परस्य एत ईत् स्याद्दस्य च मो बह्वर्थोक्तौ। अमी। 'पूर्वत्रासिद्धम्' (सू. १२) इति विभक्तिकार्यं प्राक्, पश्चादुत्त्वमत्वे। अमुम्। अमू। अमून्। मुत्वे कृते घिसंज्ञायां नाभावः। ४४०। न मु ने ८।२।३। नाभावे कर्तव्ये कृते च मुभावो नासिद्धः स्यात्। अमुना। अमुभ्याम् ३। अमीभिः। अमुष्मै। अमीभ्यः। अमुष्मात्। अमुष्य। अमुयोः। अमीषाम्। अमुष्मिन्। अमुयोः। अमीषु। इति सान्ताः।

इति हलन्तपुंल्लिङ्गप्रकरणम्।

—:०:—

---

अमुना ( ई. ६४, ६६ )—'अदस्' शब्दात् टाविभक्तौ त्यदाद्यत्वे पररूपे च कृते 'अदसोऽसेर्दादुदो मः' इति अकारस्य उत्वे दस्य च मत्वे 'अमु आ' इति दशायां नाभावे कर्तव्ये सत्येव 'न मुने' इति मुत्वस्यासिद्धत्वाऽभावबोधनात् 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायाम् 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इति 'आ' इत्यस्य नादेशे 'अमुना' इति। नचाऽत्र मुत्वस्याऽसिद्धत्वात् 'सुपि चे'ति दीर्घः कुतो नेति वाच्यम्, 'न मुने' इति कृते च नाभावे मुत्वस्य नासिद्धत्वमित्यर्थस्यापि तेन विधानात्।

अमीषाम् ( ई. ६४ )—'अदस्' शब्दात् आमि त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे च कृते 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इति सुटि अनुबन्धलोपे 'बहुवचने झल्येत्' इति एत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'एत ईद्बहुवचने' इत्येकारस्य ईत्वे दस्य च मत्वे 'अमीषाम्' इति।

इति 'इन्दुमती' टीकायां हलन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम्।

—:०:—

---

एत—बहुत्व अर्थ उक्त होने पर अदस्-सम्बन्धी एकार को ईकार और दकार को मकारादेश हो जाता है।

न मुने—'ना' भाव करना हो या 'ना' भाव किया भी गया हो तो मुत्व असिद्ध नहीं होता है।

इस प्रकार 'इन्दुमती' हिन्दी टीका में हलन्त पुँल्लिग समाप्त।

—*::*—

# अथ हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्

४४१। नहो धः ८।२।३४। नहो हस्य धः स्याज्झलि पदान्ते च। उपानत्-उपानद्। उपानहौ। उपानहः। उपानद्भ्याम्। उपानत्सु। उत्पूर्वात् 'ष्णिह प्रीतौ' (धा १२०१) इत्यस्मात् 'ऋत्विग्—' (सू ३७३) आदिना क्विन्, निपातनाद्दलोपषत्वे। क्विन्नन्तत्वात् कुत्वेन हस्य घः, जश्त्वचर्त्वे; उष्णिक्-उष्णिग्। उष्णिहौ। उष्णिहः। उष्णिग्भ्याम्। उष्णिक्षु। इति हान्ताः।

द्यौः। दिवौ। दिवः। द्युभ्याम्। द्युषु। इति वान्ताः।

गीः। गिरौ। गिरः। एवं पूः। चतुरश्चतस्रादेशः। चतस्रः २। चतसृणाम्। इति रेफान्ताः।

---

उपानत्—(ई. ६७)—(उपनह्यते इति विग्रहे उपपूर्वात् 'णह्' धातोः 'णो नः' इति नत्वे कृते सम्पदादित्वात् कर्मणि क्विपि क्विपः सर्वापहारे 'नहि-वृत्ति-वृषि-व्यधि-रुचि-सहि-तनिषु क्वौ' इति पूर्वपदस्य दीर्घे 'उपानह्' शब्दो निष्पन्नः)।

तस्मात् उपानह् शब्दात् सौ हल्ङ्यादिना सुलोपे 'नहो धः' इति हस्य धत्वे 'झलां जशोऽन्ते' इति धस्य जश्त्वे 'वाऽवसाने' इति दस्य चर्त्वे 'उपानत्', चर्त्वाऽभावे 'उपानद्' इति।

उष्णिक्षु (ई. ५७, ६८)—उत्पूर्वात् 'ष्णिह् प्रीतौ'वित्यस्मात् 'ऋत्विग्' इत्यादिना क्विनि निपातनात् तलोपे षत्वे क्विन्नन्तत्वात् घोषनादसंवारमहाप्राणप्रयत्नसाम्यात् हस्य घत्वे 'खरि च' इति चर्त्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे उक्तं रूपं जातम्।

चतसृणाम् (ई. ६४)—चतुर्शब्दादामि 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृ-चतसृ' इति 'चतसृ' आदेशे 'अचि र ऋतः' इति रेफादेशे प्राप्ते 'नुमचिरतृज्व-द्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इति पूर्वविप्रतिषेधेन तम्बाधित्वा 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटि अनुबन्धलोपे 'नामि' इति दीर्घे प्राप्ते 'न तिसृचतसृ' इति निषेधे 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' इति णत्वे 'चतसृणाम्' इति।

---

न हो—पदान्त में स्थित 'नह्' धातु के हकार एवं 'झल्' परक 'नह्' के हकार को 'ध' आदेश होता है।

किमः कादेशे टाप्। का। के। काः। सर्वावत्। ४४२। यः सौ ७।२।११०। इदमो दस्य यः स्यात् सौ। 'इदमो मः' ( सू ३४३ )। इयम्। त्यदाद्यत्वं, टाप् 'दश्च' ( सू ३४५ ) इति मः, इमे। इमाः। इमाम्। इमे। इमाः। अनया। 'हलि लोपः' ( सू ३४७ )। आभ्याम् ३। आभिः। अस्य। अस्याः २। अनयोः २। आसाम्। अस्याम्। आसु। अन्वादेशे तु—एनाम्। एने। एनाः। एनया, एनयोः २। इति मान्ताः।

'ऋत्विग्–' ( सू ३७३ ) आदिना सृजेः क्विन् अमागमश्च निपातितः। स्रक्–स्रग्। स्रजौ। स्रजः। स्रक्षु। इति जान्ताः।

त्यदाद्यत्वं टाप्। स्या। त्ये। त्याः। एवं तद्, यद्, एतद्। इति दान्ताः। वाक्–वाग्। वाचौ। वाचः। वाग्भ्याम्। वाक्षु। इति चान्ताः।

अप्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। 'अप्तृन्–' ( सू ७७ ) इति दीर्घः, आपः।

---

'चतुर् शब्दस्य त्रिषु लिङ्गेषु रूपाणि ( ई. ६२ )—

( 'चतुर् शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः )

पुल्लिङ्गे—चत्वारः चतुरः चतुर्भिः चतुर्भ्यः चतुर्भ्यः चतुर्णाम् चतुर्षु। हे चत्वारः।

स्त्रीलिङ्गे—चतस्रः चतस्रः चतसृभिः चतसृभ्यः चतसृभ्यः चतसृणाम् चतसृषु। हे चतस्रः।

नपुंसके—चत्वारि चत्वारि चतुर्भिः चतुर्भ्यः चतुर्भ्यः चतुर्णाम् चतुर्षु। हे चत्वारि।

इयम्—इदम् शब्दात् सौ 'यः सौ' इति इदमो दस्य यत्वे 'त्यदादीनामः' इत्यत्वं बाधित्वा 'इदमो मः' इति इदमो दस्य मत्वे हल्ङ्यादिलोपे 'इयम्' इति।

अनया ( ई. ६२ )—इदम् शब्दात्तृतीयैकवचने त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे टापि अनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे 'अनाप्यकः' इति इद्भागस्य अनादेशे 'आङि चापः' इत्या-बन्तस्यैकारे 'एचोऽयवायावः' इत्यैकारस्य आयादेशे 'अनया' इति।

अस्याः ( ई. ७३ )—इदम् शब्दात् ङसि अत्वे पररूपत्वे टापि सवर्ण-दीर्घे 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' इति स्याटि आपो ह्रस्वे च कृते 'इदस्या अस' इति जाते सवर्णदीर्घे 'हलि लोपः' इतीद्भागस्य लोपे सस्य रुत्वे विसर्गे 'अस्याः' इति।

---

यः सौ—इदम् शब्द के दकार के स्थान में यकार आदेश होता है।

अपः । ४४३ । अपो भि ७।४।४८। अपस्तकारः स्याद्भादौ प्रत्यये परे । अद्भिः । अद्भ्यः २ । अपाम् । अप्सु । इति पान्ताः ।

दिक्-दिग् । दिशौ । दिशः । दिग्भ्याम् । दिक्षु । 'त्यदादिषु—'( सू ३४० ) इति दृशेः क्विन्विधानादन्यत्रापि कुत्वम् । दृक्-दृग् । दृशौ । दृशः । इति शान्ताः ।

त्विट्-त्विड् । त्विषौ । त्विषः । त्विड्भ्याम् । त्विट्त्सु-त्विट्सु । सह जुषत इति सजूः । सजुषौ । सजुषः । सजूर्भ्याम् । सजूष्षु-सजूःषु । षत्वस्यासिद्धत्वाद्रुत्वम् । आशीः । आशिषौ आशिषः । आशीर्भ्याम् । इति षान्ताः ।

असौ । त्यदाद्यत्वं, टाप्, औङः शी, उत्वमत्वे, अमू । अमूः । अमूम् । अमू । अमूः । अमुया । अमूभ्याम् । अमूभिः । अमुष्यै । अमूभ्याम् । अमूभ्यः । अमुष्याः २ । अमुयोः २ । अमूषाम् । अमुष्याम् । अमूषु । इति सान्ताः ।

इति हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ।

—:०:—

---

अद्भिः ( ई. ६६, ६८, ७० )—अप्शब्दात् भिसि 'अपो भि' इति अपः पकारस्य तकारे 'झलां जशोन्ते' इति जश्त्वे सस्य रुत्वे विसर्गे 'अद्भिः' इति ।

दिक्षु ( ई. ७२ )—दिश् शब्दात् सुपि 'दिश् सु' इति स्थिते 'व्रश्चभ्रस्ज' इत्यादिना शकारस्य षत्वे तस्य जश्त्वेन डकारे कृते 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति डकारस्य कुत्वेन गकारे तस्य चर्त्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'दिक्षु' इति ।

अमूः ( ई. ५८, ६७, ६८ )—अदश्शब्दात् जसि अत्वपररूपटाप्सु कृतेषु पूर्वसवर्णदीर्घे 'अदसोऽसेः' इति ऊत्वे मत्वे सस्य रुत्वे विसर्गे 'अमूः' इति ।

अमुष्यै ( ई. ७३ )—अदस्शब्दात् ङेविभक्तौ अत्वे पररूपत्वे टापि सवर्णदीर्घे 'अदा ए' इति स्थिते 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' इति स्याटि आबन्तस्य ह्रस्वे च कृते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'अदसोऽसेर्दादुदो मः' इत्युत्वे मत्वे च विहिते आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'अमुष्यै' इति ।

इति 'इन्दुमती' टीकायां हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रमरणम् !

—:०:—

---

अपो—'अप्' शब्द को तकारान्त आदेश होता है भादि प्रत्यय के परे । ( 'अप्' शब्द बहुवचनान्त और नित्यस्त्रीलिंग है ) ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' हिन्दी टीका में हलन्तस्त्रीलिंग समाप्त ।

—❀❀—

# अथ हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

स्वमोर्लुक्, दत्वम्, स्वनडुत्-स्वनडुद् । स्वनडुही । 'चतुरनडुहोः—' ( सू ३३१ ) इयम्, स्वनड्वांहि । पुनस्तद्वत् । शेषं पुंवत् । इति हान्ताः ।

'दिव उत्' ( सू ३३७ ) अहर्विमलद्यु । अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पूर्वपदस्येवोत्तरखण्डस्यापि पदसंज्ञायां प्राप्तायाम्, ६७ उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ प्रतिषेधः* । इति प्रत्ययलक्षणं न, विमलदिवी । 'अपदादिविधौ' किम् ? दधिसेचौ । इह षत्वनिषेधे कर्तव्ये पदत्वमस्त्येव । कुत्वे तु न । इति वान्ताः ।

वाः । वारी । अझलन्तत्वान्नुम्, वारि । चत्वारि । इति रेफान्ताः ।

---

विमलदिवी ( ई. ७०, ७२, ७३ )—विमलः द्यौराकाशो यस्याह्नः इति बहुव्रीहौ सुब्लुकि विमलदिव् इति, तस्मादौङि तस्य 'नपुंसकाच्च' इति शीभावे विमलदिवी इति । नन्विदं रूपमयुक्तं 'दिव उत्' इत्युत्वप्रसङ्गात् । न च विमलदिवी इति समुदायस्यैव सुबन्ततया पदत्वान्न वकारस्य दिवशब्दरूपपदान्तत्वमिति वाच्यम् । 'सुपो धातु' इति लुप्तां दिव्शब्दोत्तरां विभक्तिं प्रत्ययलक्षणेनाश्रित्य दिव् इत्यस्य पदत्वात् । न च लुका लुप्तत्वात् न प्रत्ययलक्षणमिति वाच्यम् । पदसंज्ञायास्सुबन्तधर्मतया अङ्गधर्मत्वाभावेन तत्र 'न लुमता' इति निषेधाप्रवृत्तेरिति चेन्न, 'उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ प्रतिषेधः' इति वार्तिकेन प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधात् दिव् इत्यस्य पदत्वाभावादुक्तसूत्राप्रवृत्तेः ।

चत्वारि ( ई. ७३ )—चतुर्शब्दाद् जसि शसि वा विभक्तौ 'जश्शसोः शिः' इति श्यादेशे 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इत्यामि अनुबन्धलोपे 'इको यणचि' इति यणि 'चत्वारि' इति ।

---

स्वमोर्लुक्—( स्वमोर्नपुंसकात्, सू. ३१९ )=नपुंसक में विद्यमान अंग से पर 'सु' एवं 'अम्' का लुक् होता है ( दे अ० न० ) ।

विमलदिवी—( विमला द्यौः ययोः अह्नोः इति विग्रहः ) यहां 'दिव्' शब्दोत्तर लुप्त 'औ' का प्रत्ययलक्षण से दिव् की सुबन्तत्व प्रयुक्त पदसंज्ञा होकर 'दिव उत्' से वकार को उकारादेश प्राप्त होने पर 'उत्तरपदत्वे' यह वार्तिक प्रत्ययलक्षण का निषेध कर देता है ।

'न लुमता—' ( सू २६३ ) इति कादेशो न, किम् । के । कानि । इदम् । इमे । इमानि । ६८ अन्वादेशे नपुंसके एनद्वक्तव्यः* । एनत् । एने । एनानि । एनेन । एनयोः २ । इति मान्ताः ।

ब्रह्म । ब्रह्मणी । ब्रह्माणि । हे ब्रह्मन्-हे ब्रह्म । 'रोऽसुपि' ( सू १७२ ) अहर्भाति । 'विभाषा ङिश्योः' ( सू २३७ ) अह्नी । अहनी । अहानि । ४४४ । अहन् ८।२।६८। 'अहन्' इत्यस्य रुः स्यात्पदान्ते । अहोभ्याम् । अहोभिः । इह 'अहः' 'अहोभ्याम्' इत्यादौ रत्वरुत्वयोरसिद्धत्वान्नलोपे प्राप्ते 'अहन्' इत्यावर्त्य नलोपाभावं निपात्य, द्वितीयेन रुर्विधेयः तदन्तस्यापि रत्वरुत्वे । दीर्घाण्यहानि यस्मिन् स 'दीर्घाहाः' निदाघः । इह हल्ङ्यादिलोपे प्रत्ययलक्षणेन 'असुपि' इति निषेधाद्रत्वाभावे रुः, तस्यासिद्धत्वान्नान्तलक्षण उपधादीर्घः । सम्बुद्धौ तु हे 'दीर्घाहः' निदाघ । दीर्घाहानौ । दीर्घाहानः । दीर्घाह्ना । दीर्घाहोभ्याम् । दण्डि । दण्डिनी । दण्डीनि । स्रग्वि । स्रग्विणी । स्रग्वीणि । वाग्मि । वाग्मिनी । वाग्मीनि । बहुवृत्रहाणि । बहुपूषाणि । बह्वर्यमाणि । इति नान्ताः ।

असृजः पदान्ते कुत्वम्, सृजेः क्विनो विधानात् । विश्वसृडादौ तु न,

---

अहोभ्याम् ( ई. ५८ )—ननु अहः अहोभ्यामित्यादौ रत्वरुत्वयोरसिद्धत्वान्नलोपः कथन्नेति चेन्न, रुपरात्रिरथन्तरेष्वह्नो रुत्वं वाच्यमिति वार्तिकारम्भसामर्थ्यादहन्नित्यावर्त्य एकेन नलोपाभावं निपात्य द्वितीयेन रुत्वविधानेनादोषात् ।

दीर्घाहाः ( ई. ६३, ६८ )—दीर्घाणि अहानि यस्मिन्नित्यर्थे समासात्सौ हल्ङ्याविति सुलोपे प्रत्ययलक्षणेनासुपीति निषेधाद्रोऽसुपीत्यस्याप्राप्त्याऽहन्निति रुत्वेऽपि तस्याऽसिद्धत्वात् 'सर्वनामस्थाने' इति दीर्घे रेफस्य विसर्गे दीर्घाहाः निदाघ इति । सम्बुद्धौ तु दीर्घप्राप्त्या उत्वे हे दीर्घाहो निदाघ इति ।

सृजेः क्विनो विधानादिति ( ई. ५१ )-असृज्शब्दस्य पदान्तविषये कुत्वं भवति । यद्यपि इह क्विप्रत्ययो नतु क्विन्, तथापि कुत्वमेव । 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इत्यस्य क्विन्प्रत्ययो यस्माद्दृष्टः इत्यर्थकरणात् । 'ऋत्विग्' इत्यत्र सृजेः

---

अन्वा—नपुंसक में अन्वादेश ( कथित–कथन ) में इदम् को एनत् आदेश हो जाता है ।

अहन्—अहन् शब्द के नकार को 'रु' आदेश हो—पदान्त में ।

'सृजिदृशोः' ( सू २४०५ ) इति सूत्रे 'रज्जुसृड्भ्याम्' इति भाष्यप्रयोगात् । यद्वा 'व्रश्च—' ( सू २०४ ) आदिसूत्रे सृजियज्योः पदान्ते षत्वं कुत्वापवादः । स्रगृत्विक्छब्दयोस्तु निपातनादेव कुत्वम् । असृक्छब्दस्तु अस्यतेरौणादिके ऋच्प्रत्यये बोध्यः । असृक्-असृग् । असृजी । असृञ्जि । 'पद्दन्' ( सू २२८ ) इति वा असन् । असानि । असृजा-अस्ना । असृग्भ्याम्-अस्भ्याम् । इत्यादि । ऊर्क्-ऊर्ग् । ऊर्जी । ऊर्न्जि । नरजानां संयोगः । ६९ बहूर्जि नुम्प्रतिषेधः*

---

क्विनो विधानात् असृग्, इत्यत्र क्विप्प्रत्ययेऽपि कुत्वप्राप्तेः । न चैवं विश्वसृड् इत्यत्रापि कुत्वापत्तिरिति वाच्यम्, 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति' इति सूत्रे 'रज्जुसृड्-भ्याम्' इति भाष्यप्रयोगात् अव्ययपूर्वपदे कुत्वाऽभावबोधनेन उक्तप्रयोगे आपत्त्यभावात् ।

ननु षत्वविधायकसूत्रे 'सृज्-मृज्-यज्' इति विशिष्टग्रहणात् षत्वस्य कुत्वा-पवादत्वात् षत्वस्यैव प्राप्तिर्न तु कुत्वस्येति चेद उच्यते—'व्रश्चभ्रस्ज' इति सूत्रे सृजियज्योः पदान्ते षत्वं विधीयते । षत्वं तु 'कुत्वापवादः' तेन असृजः क्विप्-प्रत्ययान्तस्य षत्वमेवोचितम् । 'स्रग्' इति तु 'ऋत्विग्' इत्यादिना निपातनात् कुत्वेन साधु । निपातनं नाम—अन्यादृशे प्रयोगे प्राप्ते अन्यादृशप्रयोगकरणम् । निपातेन हि अपवादशास्त्राप्रवृत्तिमात्रं बोध्यते । कुत्वं तु सूत्रेणैव भवति । एवं च 'असृग्' इति अस्यतेरौणादिकेन ऋच्प्रत्ययेन साधु ।

असृक् ( ई. ७०, ७२ )—सृजेः क्विनो विधानेन क्विन्प्रत्ययस्येत्यत्र बहुव्रीहिबलादत्रापि कुत्वम् । न चैवं विश्वसृडादावपि कुत्वं स्यादिति वाच्यम्, सृजिदृशोरिति सूत्रे रज्जुसृड्भ्यामिति भाष्यप्रयोगेणाव्ययपूर्वपदे केवले च कुत्व-कल्पनेनादोषात् । न चैवमुपयट्काम्यति उपसृट्काम्यतीति भाष्यप्रयोगासङ्गति-रिति वाच्यम्, व्रश्चादिसूत्रे सृजियज्योः पदान्ते षत्वं कुत्वापवादः स्रगृत्विक्-शब्दयोस्तु निपातनादेव कुत्वम्, असृक्शब्दे तु अस्यतेरौणादिके ऋजि प्रत्यये चोः कुरिति कुत्वेन सिद्धिरिति कल्पनेनादोषात् ।

असानि ( ई. ७२ )—असृक्शब्दात् शसि 'पद्दन्—' इति 'असन्' आदेशे जश्शसोः शिः' इति श्यादेशे नान्तत्वात् दीर्घे 'असानि' इति । पक्षे श्यादेशे कृते झलन्तत्वान्नुमि 'नश्च' इत्यनुस्वारे तस्य परसवर्णे 'असृञ्जि' इति ।

---

बहूर्जि—'बहूर्जि' में नुम् का आगम नहीं होता है ।

७० अन्त्यात् पूर्वो वा नुम्* । बर्हूजि-बहूंर्जि वा कुलानि । इति जान्ताः ।

त्यत्-त्यद् । त्ये । त्यानि । तत्-तद् । ते । तानि । यत्-यद् । ये । यानि । एतत्-एतद् । एते । एतानि । अन्वादेशे तु एनत् । बेभिद्यतेः क्विप्, बेभित्-बेभिद् । बेभिदी । शावल्लोपस्य स्थानिवत्वादझलन्तत्वान्न नुम् । अजन्तलक्षणस्तु नुम् न, स्वविधौ स्थानिवत्वाभावात्, बेभिदि ब्राह्मणकुलानि । चेच्छिदि । इति दान्ताः ।

---

बर्हूजि ( ई. ६८ )—बर्हूर्क् शब्दात् जश्शसोः शिभावे कृते झलन्तलक्षण-नुमि ऊकारादुपरि प्राप्ते 'बर्हूजि नुम्प्रतिषेधः, अन्त्यात्पूर्वो वा नुम्' इति वार्तिकेन तन्निषेधे उक्तं रूपं सिद्धम् । पक्षे तु शिभावे सति जकारात् पूर्वं रेफादुपरि नुमि कृते श्चुत्वस्यासिद्धत्वात् 'नश्च' इत्यनुस्वारे तस्य परसवर्णे 'बर्हूञ्जि' इति ।

एनत् ( ई. ७० )—इदम् शब्दात् सौ 'अन्वादेशे नपुंसके एनद् वक्तव्यः' इति इदम् शब्दस्य एनदादेशे 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लुकि जश्त्वे चर्त्वे 'एनत्' इति । चर्त्वाऽभावे 'एनद्' इति ।

बेभिदि ( ई. ६७, ६९, ७२ )—बेभिद्यधातोर्यङन्तात् क्विपि अतो लोपे यलोपे च कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां जसि 'जश्शसोः शिः' इति श्यादेशे 'बेभिदि' इति । नन्वत्र श्यादेशस्य 'शिसर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'नपुंसकस्य झलचः' इति झलन्तलक्षणो नुम् कस्मान्नेति चेन्न, 'अचः परस्मिन्' इति अल्लोपस्य स्थानिवद्भावेन अकारबुद्धया नुमोऽप्राप्तेः । 'नचाल्लोपस्य स्थानिवद्भावेन अजन्तलक्षण एव नुम् स्यादिति वाच्यम् ? पूर्वस्यैव विधौ स्थानि-वद्भावस्यानेन विधानात् स्वविधौ स्थानिवद्भावाप्रसक्तेः ।

( ननु बेभिद् शि इति दशायां झलन्तत्वेन 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुम् कथन्न स्यादिति चेत्, न, अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात् । स्थानिभूतादचः पूर्वस्य कार्ये कर्त्तव्ये स्थानिवद्भावो भवति, न तु अजन्तस्य कार्ये कर्त्तव्ये, इति अजन्त-लक्षणोऽपि नुम् न भवतीति भावः ) ।

---

अन्त्यात्—यदि 'नुम्' करना ही आवश्यक हो तो—अन्त्य वर्ण के पूर्व विकल्प से नुम् होता है—ऐसा समझना चाहिए ।

'गवाक्छब्दस्य रूपाणि क्लीबेऽर्चागतिभेदतः।
असन्ध्यवङ्-पूर्वरूपैर्नवाधिकशतं मतम्—॥ १ ॥
स्वम्-सुप्सु नव षड् भादौ षट्के स्युस्त्रीणि जश्शसोः।
चत्वारि शेषे दशके रूपाणीति विभावय' ॥ २ ॥

---

**'गवाक्' शब्दस्य रूपाणि** ( ई. ६९ )

प्रथमायां ( १६ )—गवाक् गवाग्, गोअक् गोअग्, गोअङ् गोऽङ्, गवाङ्-गोअङ्, गोऽङ् ( ९ ) गोची–गवाञ्ची–गोअञ्ची–गोऽञ्ची ( ४ ) गवाञ्चि–गौअञ्चि–गोऽञ्चि ( ३ )।

द्वितीयायां ( १६ )—पूर्ववत्।

तृतीयायां ( १६ )—गोचा-गवाञ्चा-गोअञ्चा-गोऽञ्चा (४) गवाग्भ्याम्-गोअग्भ्याम्-गोऽग्भ्याम्, गवाङ्याम्-गोअङ्भ्याम्-गोऽङ्भ्याम् (६)। गवाग्भिः–गोअग्भिः, गोऽग्भिः, गवाङ्भिः–गोअङ्भिः–गोऽङ्भिः ( ६ )।

चतुर्थ्यां ( १६ )—गोचे-गवाञ्चे-गोअञ्चे-गोऽञ्चे ( ४ ) गवाग्भ्याम्-गोअग्भ्याम्-गोऽग्भ्याम्, गवाङ्भ्याम्-गोअङ्भ्याम्-गोऽङ्भ्याम् (६) गवाग्भ्यः-गोअग्भ्यः–गोऽग्भ्यः, गवाङ्भ्यः, गोअङ्भ्यः, गोऽङ्भ्यः ( ६ )।

पञ्चम्यां ( १६ )—गोचः–गवाञ्चः–गोअञ्चः–गौऽञ्चः ( ४ ) गवाग्भ्याम्-गोअग्भ्याम्–गोऽग्भ्याम्, गवाङ्भ्याम्–गोअङ्भ्याम्-गोऽङ्भ्याम् ( ६ )। गवाग्भ्यः–गोअग्भ्यः, गोऽग्भ्यः, गवाङ्भ्यः–गोअङ्भ्यः-गोऽङ्भ्यः ( ६ )।

षष्ठ्यां ( १२ )—गोचः–गवाञ्चः–गोअञ्चः–गोऽञ्चः ( ४ )। गोचोः–गवाञ्चोः–गोअञ्चोः–गोऽञ्चोः (४)। गोचाम्–गवाञ्चाम्–गोअञ्चाम्–गोऽञ्चाम् (४)।

सप्तम्यां ( १७ )–गोचि–गवाञ्चि–गोअञ्चि–गोऽञ्चि ( ४ )। गोचोः–गवाञ्चोः गोअञ्चोः–गोऽञ्चोः ( ४ )। गवाक्षु–गोअक्षु, गोक्षु, गवाङ्क्षु,–गोअङ्क्षु–गोऽङ्क्षु, गवाङ्षु-गोअङ्षु-गोऽङ्षु ( ९ )। ( सर्वं मिलित्वा १०९ रूपाणि भवन्ति )। तदुक्तं 'गवाक्छब्दस्य रूपाणि०' इत्यादि मूले।

---

गवाक्—'पूजा' एवं 'गति' इन दो भेदों के कारण नपुंसक लिंग में गवाक् शब्द के रूप इस प्रकार हैं—सन्धि, अवङ् तथा पूर्वरूप के योग से १०९ रूप होते हैं, इनमें—सु, अम् और सुप् विभक्ति में ९-९ प्रत्येक के रूप होते हैं (यानी २७)। भादि ६ प्रत्ययों में प्रत्येक के ६-६ रूप होते हैं ( यानी ३६ )। जस् एवं शस् में प्रत्येक के ३-३ रूप होते हैं (यानी ६)। अन्य १० विभक्तियों में प्रत्येक के ४–४ रूप होते हैं (यानी ४०)। इस प्रकार सब मिल कर १०९ रूप होते हैं—यह जाने।

अथाहि, गामञ्चतीति विग्रहे 'ऋत्विग्—' ( सू ३७३ ) आदिना क्विन्, गतौ नलोपः, 'अवङ् स्फोटायनस्य' ( सू ८८ ) इत्यवङ्, गवाक्-गवाग् । 'सर्वत्र विभाषा—' ( सू ८७ ) इति प्रकृतिभावे, गोअक्—गोअग्—पूर्वरूपे गोऽक्—गोऽग् । पूजायां नस्य कुत्वेन ङः, गवाङ्—गोअङ्—गोऽङ् । अम्यप्येतान्येव नव । औङः शी, भत्वात् । 'अचः' ( सू ४१७ ) इत्यलोपः, गोची । पूजायान्तु गवाञ्ची—गोअञ्ची गोऽञ्ची । 'जश्शसोः शिः' ( सू ३१२ ), शेस्सर्वनामस्थानत्वान्नुम्, गवाञ्चि—गोअञ्चि—गोऽञ्चि । गतिपूजनयोस्त्रीण्येव गोचा, गवाञ्चा-गोअञ्चा—गोऽञ्चा : गवाग्भ्याम्-गोअग्भ्याम्-गोऽग्भ्याम् । गवाङ्भ्याम्—गोअङ्भ्याम्—गोऽङ्भ्याम् । इत्यादि । सुपि तु ङान्तानां पक्षे 'ङ्णोः कुक्—' ( सू १३० ) इति कुक्, गवाङ्क्षु—गोऽङ्क्षु-गोअङ्क्षु । गवाङ्षु—गोअङ्षु—गोऽङ्षु । गवाक्षु—

गवाङ् ( ई. ६३ )—गाम् अञ्चति=पूजयतीति 'गवाङ्' । 'गो' उपपदात् पूजार्थे अञ्च् धातोः 'ऋत्विगा'दिना क्विन् प्रत्यये तस्य सर्वापहारे उपपदसमासे सुब्लुकि 'गो अञ्च्' इति स्थिते 'नाञ्चेः पूजायाम्' इति निषेधात् 'अनिदिताम्' इति नलोपाभावे चकारस्य संयोगान्तलोपे नकारस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वेन ङकारे 'अवङ्स्फोटायनस्य' इति अवङि 'गवाङ्' इति । 'सर्वत्र विभाषा गोः' इति प्रकृतिभावपक्षे-'गोअङ्', पूर्वरूपे—गोऽङ्' इति च ज्ञेयम् ।

गोचा ( ई. ५८ )—गामञ्चतीति विग्रहे क्विनि क्विनः सर्वापहारे उपपद-समासे सुब्लुकि समासत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां टाविभक्तौ अनुबन्धलोपे 'अनि-दिताम्' इति नलोपे 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'अचः' इत्यलोपे 'गोचा' इति । पूजायान्तु 'नाञ्चेः पूजायाम्' इति नलोपनिषेधे सति 'अवङ्स्फोटायनस्य' इत्यवङि सवर्णदीर्घे 'गवाञ्चा' इति । अवङभावपक्षे 'सर्वत्र विभाषा गोः' इति प्रकृतिभावे 'गो अञ्चा' इति । प्रकृतिभावाभावपक्षे एङः पदान्तादति' इति पूर्वरूपे 'गोऽञ्चा' इति ।

गवाक्षु ( ई. ६३, ६५ )—'गवाच् सु' 'इति दशायाम् 'चोः कुः' इति चस्य कुत्वे ककारस्य 'झलां जशोऽन्ते' इति गकारे, गकारस्य 'खरि च' इति ककारे, सस्य 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'गवाक्षु' इति ।

( अत्र 'चयो द्वितीयाः शरि' इति वार्तिकेन ककारस्य खकारे कृते गवाख्षु गोअख्षु गोख्षु इति त्रीणि रूपाणि वर्धिष्यन्ते इति न शङ्कनीयम्, चर्त्वस्याऽसिद्धत्वात् । पूजायान्तु नलोपाभावे 'ङ्णोः कुक्' इति कुकि कुकोऽसिद्धत्वेन

गोअक्षु, गोऽक्षु। न चेह 'चयो द्वितीयाः' (वा ३०) इति पक्षे ककारस्य खकारेण षण्णामाधिक्यं शङ्क्यम्, चर्त्वस्यासिद्धत्वात्। कुत्वपक्षे तु तस्यासिद्धत्वाज्जश्त्वाभावे पक्षे चयो द्वितीयादेशात् त्रीणि रूपाणि वर्धन्त एव।

'ऊह्यमेषां द्विर्वचनानुनासिकविकल्पनात् ।
रूपाण्यश्वाक्षिभूतानि (५२७) भवन्तीति मनीषिभिः ॥'

तिर्यक्। तिरश्ची। तिर्यञ्चि। पूजायां तु तिर्यङ्। तिर्यञ्ची। तिर्यञ्चि। इति चान्ताः।

यकृत्। यकृती। यकृन्ति। 'पद्दन्–' (सू २२८) इति वा यकन्, यकानि। यक्ना-यकृता। शकृत्। शकृती। शकृन्ति। शकानि। शक्ना-शकृता। ददत्। ददती। ४४५। वा नपुंसकस्य ७।१।७९। अभ्यस्तात् परो यः शता तदन्तस्य क्लीबस्य नुम् वा स्यात् सर्वनामस्थाने परे। ददन्ति-ददति। तुदत्। ४४६। आच्छीनद्योर्नुम् ७।१।८०। अवर्णान्तादङ्गात् परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्याङ्गस्य नुम् वा स्याच्छीनद्योः परतः। तुदन्ती–तुदती। तुदन्ति। भात्। भान्ती–

---

जश्त्वाभावे 'चयो द्वितीया' इति ककारस्य खकारे कृते गवाङ्ख्षु, गोअङ्ख्षु, गोअङ्ख्षु इति त्रीणि रूपाणि वर्धन्त एवेति तत्त्वम्)।

गोऽक्षु (ई. ६३, ७०)—गाम् अञ्चति=गच्छति, इति विग्रहे क्विन् प्रत्यये तस्य सर्वापहारे उपपदसमासे सुपि 'गो अञ्च् सु' इति स्थिते गतौ 'नाञ्चेः पूजायाम्' इत्यस्याप्राप्त्या नलोपे कुत्वे षत्वे अवङि 'गवाक्षु' इति। प्रकृतिभावे 'गोअक्षु' इति। पूर्वरूपे–'गोऽक्षु' इति च सिद्धं भवति।

ददन्ति—'ददत्' शब्दाज्जसि 'जश्शसोः शिः' इति जसः श्यादेशे अनुबन्धलोपे 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि प्राप्ते 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति निषेधे कृते 'वा नपुंसकस्य' इति नुमि अनुबन्धलोपे नस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते 'ददन्ति' इति। नुमभावे 'ददति' इति।

तुदन्ती (ई. ६३, ६४, ६५)—'तुदत्' शब्दाद् औ विभक्तौ 'नपुंसकाच्च' इति औङः श्यादेशे अनुबन्धलोपे 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति नुमि अनुबन्धलोपे नस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते 'तुदन्ती' इति। नुमभावे 'तुदती' इति।

---

वा नपुं—अभ्यस्त संज्ञक से पर शतृप्रत्ययान्त नपुंसक शब्द को विकल्प से नुम् होता है।

आच्छी—शी तथा नदीसंज्ञक के परे अवर्णान्त अंग से उत्तरवर्ती 'शतृ' प्रत्यय को नुम् का आगम होता है।

भाती । भान्ति । पचत् । ४४७ । शप्श्यनोर्नित्यम् ७।१।८१। शप्श्यनोरात् परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नित्यं नुम् स्याच्छीनद्योः परतः । पचन्ती । पचन्ति । दीव्यत् । दीव्यन्ती । दीव्यन्ति । इति तान्ताः ।

स्वप्–स्वब् । स्वपी । नित्यात् परादपि नुमः प्राक् 'अप्तृन्–' ( सू २७७ ) इति दीर्घः, प्रतिपदोक्तत्वात्, नुम्, स्वाम्पि । 'निरवकाशत्वं प्रतिपदोक्तत्वम्' इति पक्षे तु प्रकृते तद्विरहान्नुमेव, स्वम्पि । स्वपा । 'अपो भि' ( सू ४४३ ) स्वद्भ्याम् । स्वद्भिः । इति पान्ताः ।

'अर्तिपृवपि' ( उ २७४ ) इत्यादिना धनेरुस्, रुत्वम्, धनुः । धनुषी । 'सान्त–' ( सू ३१७ ) इति दीर्घः 'नुम्विसर्जनीय–' ( सू ४३५ ) इति षत्वम्,

---

पचन्ती ( ई. ६७, ६९, ७२, ७४ )—'पचत्' शब्दाद् औविभक्तौ 'नपुंसकाच्च' इति औङः श्यादेशे अनुबन्धलोपे 'शप्श्यनोर्नित्यम्' इति नुमि अनुबन्धलोपे नस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते 'पचन्ती' इति ।

प्रतिपदोक्तत्वात् नुम्—अयम्भावः, लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया नित्यात्परादपि नुमः पूर्वम् 'अप्तृन्' इति दीर्घे पश्चान्नुमि स्वाम्पीति सिद्धम् । यदि च प्रतिपदोक्तं कुत्रचिच्चरितार्थन्न स्यात्, तदा लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषाविषयो भवतीति पक्षे आप इत्यत्र 'अप्तृन्' इति सूत्रस्य सफलत्वेन परिभाषाविषयाभावात्पूर्वं नुमि, उपधाया अभावेन दीर्घाभावे स्वम्पीति रूपम् ।

स्वाम्पि ( ई. ५८, ६९ )—सु=शोभना आपो यस्मिन् सरसीति विग्रहे समासे यणि 'स्वप्' इति । तस्मात् जश्शसोः श्यादेशे 'अप्तृन्नि'ति दीर्घे 'नपुंसकस्य झलचः' इति झलन्तलक्षणनुमि अनुस्वारे परसवर्णे च कृते 'स्वाम्पि' इति । ननु 'अप्तृन्' इति दीर्घं बाधित्वा परत्वान्नित्यत्वाच्च नुमि कृते अकारस्य उपधात्वाभावात् कथं दीर्घ इति चेन्न, 'अप्तृन्' इति दीर्घस्य प्रतिपदोक्तत्वेन प्रबलत्वात् । यदि च 'शेषाद्विभाषा' इति सूत्रोक्तभाष्यात् 'निरवकाशत्वं प्रतिपदोक्तत्वम्' इति गृह्यते तदा 'अप्तृन्' इति दीर्घस्य 'आपः' इत्यत्र सावकाशत्वेन परत्वात् नित्यत्वाच्च दीर्घं बाधित्वा नुमि अनुस्वारे परसवर्णे च 'स्वम्पि' इत्यपि साधुः । सिद्धान्तिनस्तु—'अप्तृन्' इत्यस्य प्रतिपदविधित्वेन शीघ्रोपस्थितिकतया प्रथमं प्रवृत्तौ स्वाम्पीत्येव युक्तमित्याहुः ।

---

शप् श् तथा श्यन् से परवर्ती शतृ प्रत्यय को शी तथा नदी के परे नित्य नुम् का आगम होता है ।

धनूंषि । धनुषा । धनुर्भ्याम् । एवं चक्षुर्हविरादयः । पिपठिषतेः क्विप्, 'र्वोः—' ( सू ४३३ ) इति दीर्घः, पिपठीः । पिपठिषी । अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वाज्झलन्तलक्षणो नुम् न, स्वविधौ स्थानिवत्त्वाभावादजन्तलक्षणोऽपि नुम् न, पिपठिषी । पिपठीर्भ्याम् । इत्यादि । पयः । पयसी । पयांसि । पयसा । पयोभ्याम् । इत्यादि । सुपुम् । सुपुंसी । सुपुमांसि । अदः विभक्तिकार्यम्, उत्वमत्वे, अमू । अमूनि । शेषं पुंवत् । इति सान्ताः ।

इति हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् ।

—**—

धनूंषि—'धनुस्' शब्दाज्जसि 'जश्शसोः शिः' इति जसः श्यादेशे अनुबन्धलोपे 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि अनुबन्धलोपे 'सान्तमहतः संयोगस्य' इति दीर्घे 'नश्चापदान्तस्य—' इत्यनुस्वारे 'नुम्विसर्जनीय—' इति सस्य षत्वे 'धनूंषि' इति ।

पिपठिषि ( ई. ६४, ६८, ७० )—पठ्धातोः सनि इटि द्वित्वादिकार्ये 'पिपठिष' इति सन्नन्तात् क्विपि अतो लोपे 'पिपठिष्' इति । तस्मात् जसि 'जश्शसोः शिः' इति श्यादेशे 'पिपठिषि' इति । नन्वत्र 'नपुंसकस्य झलचः' इति झलन्तलक्षणनुम् कुतो नेति चेन्न, अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात् । नन्वेवमजन्तलक्षण एव नुम् कुतो नेति चेन्न, स्वविधौ स्थानिवत्त्वाऽभावात् ।

सुपुमांसि ( ई. ६३ )—'सुपुंस्' शब्दाज्जसि 'जश्शसोः शिः' इति जसः स्थाने श्यादेशे अनुबन्धलोपे 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'पुंसोऽसुङ्' इत्यसुङि अनुबन्धलोपे 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि 'सान्तमहतः' इति दीर्घे नस्यानुस्वारे 'सुपुमांसि' इति ।

इति 'इन्दुमती' टीकायां हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् ।

—:०:—

पिपठीः अध्ययन विषयणी इच्छाकर्तृ कुल । सन्नन्त पिपठिष् से क्विप् क्विप् का सर्वापहार, उससे सु, सु का लुक्, रुत्व के प्रति 'आदेश-प्रत्यययोः' सूत्र असिद्ध होने से सकार को रुत्व उपधा दीर्घ, रेफ को विसर्ग 'पिपठीः' इति ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' हिन्दी टीका में हलन्तनपुंसकलिङ्ग समाप्त ।

—:*:—

# अथ अव्ययप्रकरणम्

४४८। स्वरादिनिपातमव्ययम्। १।१।३७। (१) स्वरादयो निपाताश्चाव्ययसंज्ञाः स्युः। स्वर्। अन्तर्। प्रातर्। पुनर्। सनुतर्। उच्चैर्। नीचैस्। शनैस्। ऋधक्। ऋते। युगपत्। आरात्। पृथक्। ह्यस्। श्वस्। दिवा। रात्रौ। सायम्। चिरम्। मनाक्। ईषत्। जोषम्। तूष्णीम्। बहिस्। अवस्। समया। निकषा। स्वयम्। वृथा। नक्तम्। नञ्। हेतौ। इद्धा। अद्धा। सामि। वत्। ब्राह्मणवत्, क्षत्रियवत्। सना। सनत्। सनात्। उपधा।

---

स्वरादिनिपातमव्ययम् ( ई. ६३ )—स्वर् आदिर्येषां ते स्वरादयः, ते च निपाताश्चेति समाहारद्वन्द्वः, अव्ययम् इति पृथक् पदम्। 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इति स्मरणात्—'स्वरादयो निपाताश्च अव्ययसंज्ञाः स्युः' इति सूत्रार्थः।

---

स्वरादि—स्वरादि गणपठित शब्दों की तथा निपात संज्ञक शब्दों की अव्यय संज्ञा होती है।

---

(१) सानुवाद-स्वरादयः—स्वर् (स्वः)—स्वर्ग। अन्तर् (अन्तः) = मध्य। प्रातर् (प्रातः) = प्रात काल। पुनः = फिर सनुतर् (सनुतः) = अन्तर्धान। उच्चैस् (उच्चैः) = ऊर्ध्व भाग में। नीचैस् (नीचैः) = अधो भाग में। शनैस (शनैः) = धीरे धीरे। ऋधक् = सचमुच। ऋते = विना। युगपत् = एक साथ। आरात्=दूर या समीप में। पृथक् = भिन्न। ह्यस् (ह्यः) = पूर्व दिन में। श्वः = पर दिनमें। दिवा = दिन। रात्रौ = रातमें। सायम् = संध्यामें। चिरम् = विलम्ब। मनाक् = थोड़ा। ईषत् = बहुत थोड़ा, किञ्चित्। जोषम् = काना-फूँसी। तूष्णीम् = चुप। बहिस् (बहिः), अवस् (अवः) = बाहर। अधस् (अधः)=नीचे। समया, निकषा = समीप। स्वयम् = अपने ही। वृथा = व्यर्थ। नक्तम = रात। न, नञ् = नहीं। हेतौ = कारण। इद्धा = प्रकाश्य। अद्धा = स्फुट। सामि = आधा। ब्राह्मणवत् = ब्राह्मणके समान। क्षत्रियवत् = क्षत्रियके समान। सना, सनत्, सनात् = नित्य। उपधा = घूस, नजराना।

तिरस्। अन्तरा। अन्तरेण। ज्योक्। कम्। शम्। सहसा। विना। नाना। स्वस्ति। स्वधा। अलम्। वषट्। श्रौषट्। वौषट्। अन्यत्। अस्ति। उपांशु। क्षमा। विहायसा। दोषा। मृषा। मिथ्या। मुधा। पुरा। मिथो। मिथस्। प्रायस्। मुहुस्। प्रवाहुकम्। प्रवाहिका। आर्यहलम्। अभीक्ष्णम्। साकम्। सार्धम्। नमस्। हिरुक्। धिक्। अथ। अम्। आम्। प्रताम्। प्रशाम्। प्रतान्। मा। माङ्। आकृतिगणोऽयम्। च। वा। ह। अह। एव। एवम्। नूनम्। शश्वत्। युगपत्। भूयस्। कूपत्। सूपत्। कुवित्। नेत्। चेत्। चण्। कच्चित्। किच्चित्। यत्र। नह। हन्त। माकिः। माकिम्।

---

तिरस् (तिरः) = टेढ़ा, पराभव। अन्तरा=मध्य, विना। अन्तरेण=विना। ज्योक् = शीघ्र, संप्रति। कम् = जल, निन्दा, सुख। शम् = सुख, कल्याण। सहसा = अकस्मात्। विना = अभाव। नाना = अनेक। स्वस्ति = मंगल, शुभ। स्वाहा = देवहविर्दानमें। स्वधा = पितृहविर्दानमें। अलम् = भूषण, पर्याप्त (बस), व्यर्थ। वषट्, श्रौषट्, वौषट् = देवहविर्दान में। अन्यत् = और, दूसरा। अस्ति = सत्ता, विद्यमान। उपांशु = गुप्त। क्षमा = माफ। विहायसा = आकाश। दोषा = रात्रि। मृषा, मिथ्या = असत्य, झूठ। मुधा = व्यर्थ ही, निष्प्रयोजन। पुरा = पहले। मिथो मिथस् (मिथः) = परस्पर, एकान्त। प्रायस् (प्रायः) = संभव हो सकता है। मुहुस् (मुहुः) = बार-बार। प्रबाहुकम् = एक साथ, समान काल। आर्यहलम् = बलात्कार, जबरदस्ती। अभीक्ष्णम् = पुनः २, बार २। साकम्, सार्धम् = साथ २। नमस् (नमः) = नमस्कार, प्रणाम। हिरुक् = विना। धिक् = धिक्कार, छी-छी। अथ = अनन्तर और। (अथ किम् = और नहीं तो क्या ?)। अम् = शीघ्र, थोड़ा, किञ्चित्। आम् = हाँ, स्वीकार, मंजूर। प्रताम् = ग्लानि। प्रशाम् = समान। प्रतान् = विस्तार। मा, माङ् = नहीं, अस्वीकार। च = पुनः, अथवा, और। वा = अथवा। ह = प्रसिद्ध। अह = अद्भुत, खेद। एव = अवश्य, ही। एवम् = इस प्रकार। नूनम् = निश्चय, तर्क। शश्वत् = सदा, साथ-साथ, पुनः-पुनः। युगपत् = एक साथ। भूयस् (भूयः) = पुनः, प्रचुर, ढेरसा। कूपत्, सूपत् = प्रश्न, प्रशंसा। कुपित् = बहुत, प्रशंसा। नेत् = शंका। चेत् = चण् — यदि। कच्चित् = क्या, प्रश्न। यत्र = जहाँ। नह = प्रत्यारम्भ। हन्त = हर्ष, विषाद। माकिः

नकिः । ( आकिम् ) नकिम् । माङ् । नञ् । यावत् । तावत् । त्वै । द्वै । न्वै । रै । श्रौषट् । वौषट् । स्वाहा । स्वधा । ओम् । तुम् । तथाहि । खलु । किल । अथो । अथ । सुष्ठु । स्म । आदह । 'उपसर्ग-विभक्ति-स्वर-प्रतिरूपकाश्च' ( ग )—अवदत्तम् । अहंयुः । अस्तिक्षीरा । अ । आ । इ । ई । उ । ऊ । ए । ऐ । ओ । औ । पशु । शुकम् । यथाकथाच । पाट् । प्याट् । अङ्ग । है । हे । भोः । अये । द्य । विषु । एकपदे । युत् । आवः । चादिरप्याकृतिगणः ॥ इति चादयः । ४४९ । तद्धितश्चासर्वविभक्तिः १।१।३८। यस्मात् सर्वा विभक्तिर्नोत्पद्यते स तद्धितान्तोऽव्ययं स्यात् । परिगणनं कर्तव्यम्—'तसिलादयः प्राक्पाशपः, शस्प्रभृतयः प्राक्समासान्तेभ्यः, अम्, आम्, कृत्वोऽर्थाः, तसिवती, नानाञौ' इति । तेनेह न-पचतिकल्पम् । पचतिरूपम् ।

४५० । कृन्मेजन्तः १।१।३९। कृद्यो मान्त एजन्तश्च तदन्तमव्ययं स्यात् ।

---

उपसर्ग—उपसर्ग के प्रतिरूपक शब्दों की भी अव्यय संज्ञा होती है। उपसर्ग-प्रतिरूपक यथा—

अवदत्तं विदत्तं च प्रदत्तं चादि कर्मणि ।
सुदत्तमनुदत्तं च निदत्तमिति चेष्यते ॥

तद्धितः—जिनसे सभी विभक्तियों की उत्पत्ति नहीं होती है, ऐसे तद्धित प्रत्ययान्त शब्दों की भी अव्यय संज्ञा होती है ।

कृन्मे—मकारान्त तथा कृदन्त कृत्यप्रत्यय से निष्पन्न प्रातिपदिक की भी अव्ययसंज्ञा होती है ।

---

माकिम्, नकिः = विना, वर्जन । नञ् = नहीं । यावत् = जब तक । त्वै, द्वै, न्वै = वितर्क । रै = दान, हीन संबोधन । श्रौषट्, वौषट्, स्वाहा = देवहविर्दान । अलम् = पर्याप्त । स्वधा, वषट् = पितृहविर्दान । तुम् = तुम्, तथाहि = जैसे, इस प्रकार । खलु, किल = निश्चय । अथ = अनन्तर । सुष्ठु = अच्छा । स्म = भूतकाल । आदह = निन्द्रा ।

अवदत्तम् = दिया । अहंयुः = अहंकारी । अस्तिक्षीरा = दूधवाली । अ = संबोधन । आ = वाक्य, स्मरण । इ = संबोधन, जुगुप्सा, विस्मय । इ, उ, ऊ, [illegible], ऐ, ओ, औ = संबोधन । पशु = सम्यक् । शुकम् = शीघ्र । यथाकथाच = जब-कभी । पाट्, प्याट् अंग, है, हे, भोः, अये = संबोधन । द्य = हिंसा । विषु = अनेक । एकपदे = सहसा । युत् = निन्दा । आवः =

स्मारं स्मारम् । जीवसे । पिबध्यै । ४५१ । क्त्वा-तोसुन्-कसुनः १।१।४०। एतदन्तमव्ययं स्यात् । कृत्वा । उदेतोः । विसृपः । ४५२ । अव्ययीभावश्च १।१।४१। अधिहरि । ४५३ । अव्ययादाप्सुपः २।४।८२। अव्ययाद्विहितस्यापः

---

स्मारं स्मारम् ( ई. ६३, ६५ )–स्मृत्वा स्मृत्वा इत्यर्थः । अत्र 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' इति स्मृधातोर्णमुल् 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धिः, रपरत्वम्, 'नित्य-वीप्सयोः' इति द्वित्वम्, 'कृन्मेजन्तः' इति मान्तकृदन्तत्वादव्ययत्वम्, सोर्लुक् च ।

जीवसे ( ई. ६८,७१ )–अव्ययपदमिदम् । अत्र 'तुमर्थे सेसेनसे' इति असे प्रत्यये कृते 'कृन्मेजन्तः' इति एजन्तत्वात् अव्ययसंज्ञायाम् अव्ययादाप्सुपः' इति सुब्लुक् भवति ।

पिबध्यै ( ई. ६४,७३ )—अत्र 'तुमर्थे से—' इत्यादिना शध्यैप्रत्यये शित्वात् सार्वधातुकत्वे 'पाघ्राध्मा—' इति पिबादेशे 'कृन्मेजन्तः' इत्यव्ययत्वात् अव्यय-संज्ञायाम् 'अव्ययादाप्सुपः' इति सोर्लुक् ।

उदेतोः ( ई.७१, ७३ )–उत् पूर्वादिण्धातोः 'भावलक्षणे स्थेणकृञ्वदिचरि-हुतमिजनिभ्यस्तोसुन्' इति तोसुन् प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे गुणे उपसर्गसम्बन्धिनस्तस्य जश्त्वे 'उदेतोस्' इत्यस्य तोसुन् प्रत्ययान्तत्वेन 'क्त्वातोसुन् कसुनः' इति अव्ययः-संज्ञायाम् 'अव्ययादाप्सुपः' इति तस्माद्विहितस्य सोर्लुकि सस्य रुत्वे विसर्गे 'उदेतोः' इति ।

विसृपः ( ई. ६४, ६७ )—वि उपसर्गात् सृप्धातोः 'सृपि तृदोः कसुन्' इति कसुन्प्रत्यये 'क्त्वातोसुन्कसुनः' इति अव्ययसंज्ञायाम् 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुब्लुकि रुत्वे विसर्गे 'विसृपः' इति सिद्धम् ।

---

क्त्वातो– क्त्वा, तोसुन् तथा कसुन् प्रत्ययान्त शब्दों की भी अव्ययसंज्ञा होती है ।

अव्ययी—अव्ययीभाव समास की भी अव्यय संज्ञा होती है ।

नोट—लिंग, कारक तथा क्रिया प्रयुक्त भिन्न-भिन्न विकार को जो प्राप्त न करे, वह अव्यय है । वस्तुतः अव्ययीभाव समास में वह अव्ययत्व नहीं है । किन्तु अव्यय की तरह होने से 'अव्ययीभाव' में अव्ययत्व का आरोप किया गया है । (आरोपः=अध्यासः-"अन्यस्मिन् अन्यधर्माऽवभासः अध्यासः" ।

अव्यया—अव्यय से विहित आप् तथा सुप् का लुक् ( लोप ) होता है ।

---

अतः = इसलिये । स्मारं स्मारम् = स्मरण कर करके । जीवसे = जीनेके लिए । पिबध्यै = पीने के लिए । कृत्वा = करके । उदेतोः = उदय होकर । विसृपः = फैलकर । अधिहरि = हरिमें । तत्र शालायाम् = उस घरमें ।

सुपश्च लुक् स्यात् । तत्र शालायाम् । विहितविशेषणान्नेह—अत्युच्चैसौ । अव्ययसंज्ञायां यद्यपि तदन्तविधिरस्ति, तथापि न गौणे । आब्ग्रहणं व्यर्थम्, अलिङ्गत्वात् ।

'सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्' ॥

( भाष्योक्ता ) इति श्रुतिर्लिङ्गकारकसङ्ख्याऽभावपरा ।

वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥'

वगाहः-अवगाहः । पिधानम्-अपिधानम् ।

इत्यव्ययप्रकरणम् ।

—:**:—

अत्युच्चैसौ ( ई. ६८, ६० )—उच्चैरतिक्रान्तः इति विग्रहे 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः । अत्र समासाद्विहितस्य सुपः अव्ययभूतादुच्चैश्शब्दात् परत्वेऽपि ततो विहितत्वाऽभावात् 'अव्ययादाप्सुपः' इति न लुक् । अत्युच्चैरिति समुदायस्य तु नाव्ययत्वम्, स्वरादिगणे उच्चैश्शब्दस्य केवलस्य पाठात् । ननु स्वरादिगणे केवलोच्चैश्शब्दस्य पाठेऽपि तदन्तविधिना 'स्वारादिनिपातमव्ययम्' इति अत्युच्चैश्शब्दस्याऽपि अव्ययसंज्ञा कुतो नेति चेन्न, 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इति न्यायस्य जागरूकत्वात् ।

सदृशं ( ई. ६४ )—त्रिषु लिङ्गेषु, सर्वासु विभक्तिषु, च सर्वेषु वचनेषु, च यत् न व्येति=विकारं न प्राप्नोति, किन्तु सदृशम्=एकप्रकारकम्, एव भवति, तद् 'अव्ययम्' इत्यर्थः । ( विशेषः परिशिष्टे द्रष्टव्यः ) ।

पिधानम् ( ई. ७२ )—'पिधानम्' इत्यव्ययपदम् । अत्र 'भागुरि' नामका-

सदृशं—जिस शब्द का तीनों लिंगों में, सभी विभक्तियों में और सभी वचनों में समान रूप हो—(विकार को प्राप्त नहीं करे) वह 'अव्यय' कहलाता है।

वष्टि—भागुरि आचार्य—'अव्', 'अपि' उपसर्ग के आदि अकार का लोप करते है । यथा—अव + गाहः = वगाहः । अपि + धानम्=पिधानम् । आचार्य जी हलन्त शब्दों से स्त्रिलिंग में 'आप्' भी करते हैं । यथा—वाच् + आ = वाचा । निश् + आ = निशा । दिश् + आ=दिशा । ( किन्तु पाणिनि मतानुयायी आचार्य

# अथ स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम्

।४५४। स्त्रियाम् । ४।१।३। अधिकारोऽयम् समर्थानामिति यावत् । ४५५ । अजाद्यतष्टाप् ४।१।४। अजादीनामकारान्तस्य च वाच्यं यत्स्त्रीत्वं तत्र द्योत्ये

---

चार्यमते अपीत्युपसर्गस्याऽकारस्य लोपे 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुलोपे च कृते 'पिधानम्' इति सिद्धं भवति । यदाह मूले—'वृष्टि भागुरिति ।

इति 'इन्दुमती' टीकायामव्ययप्रकरणं समाप्तम् ।

—:०:—

अजादिभिः स्त्रीत्वस्येति ( ई. ६० )—'प्रत्ययः' 'परश्च' इति निर्देशेन प्रत्ययविधौ पञ्चम्या युक्तत्वेन 'अजाद्यतष्टाप्' इति सूत्रेऽजाद्यतः इति पदस्य पञ्चम्यन्तत्वे 'प्रातिपदिकात्' इत्यधिकारात् प्रातिपदिकादित्यस्य पञ्चम्यन्तत्वेन 'अजाद्यतः' इत्यस्य च पञ्चम्यन्तत्वेन द्वयोरेकविभक्तित्वेन विशेष्यविशेषणभाव-सत्वात् 'येन विधिस्तदन्तस्य' इति तदन्तविधौ, अजाद्यदन्तात् प्रातिपदिकात् टाप् स्यात् स्त्रीत्वे द्योत्ये इत्यर्थेन पञ्चाजीत्यत्रापि टाबापत्तिः । 'समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः' इति तदन्तविधिनिषेधस्तु न शङ्क्यः, 'अमहत्पूर्वाग्रहणेन' अनुपर्जना-धिकारेण च स्त्रीप्रत्यये तदन्तविधिज्ञापकात् ।

---

के मत से अकार का लोपविधायक कोई सूत्र नहीं है, अतः 'अवगाहः' और 'अपिधानम्' ही रूप होंगे ) ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' हिन्दी टीका में अव्ययप्रकरण समाप्त ।

—❀❀—

स्त्रीप्रत्यय—जैसे विसर्ग ( : ) और 'अम्' से क्रमशः पुंस्त्व और नपुंसकत्व द्योतित होता है, वैसे ही कुछ स्त्रीत्व के भी द्योतक प्रत्यय हैं, इन्हीं प्रत्यय के योग से स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द बनते हैं । जैसे—

टाप्, डाप्, चाप् ( आ ) । ङीप्, ङीष्, ङीन् ( ई ) । ऊङ् ( ऊङुतः ) और ति ( **यूनस्तिः** ) ( लेखक के '**संस्कृतव्याकरणम्**' देखिए ) ।

स्त्रियाम्—यह अधिकार सूत्र है । 'समर्थानां प्रथमाद्वा' सूत्र से पूर्व तक इस सूत्र का अधिकार है ।

अजा—अजादि गणपठित शब्दों के बाद तथा अकारान्त शब्दों के बाद स्त्रीत्वविवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय होता है । ( अजादिगण आकृतिगण है ) ।

टाप् स्यात्। अजाद्युक्तिर्ङीषो ङीपश्च बोधनाय। अजा। अतः खट्वा। अजादिभिः स्त्रीत्वस्य विशेषणान्नेह—पञ्चाजी अत्र समासार्थसमाहारनिष्ठं स्त्रीत्वम्। अजा। एडका अश्वा। चटका। मूषिका। एषु जातिलक्षणो ङीष् प्राप्तः। बाला। वत्सा। होडा। मन्दा। विलाता। एषु 'वयसि प्रथमे' (सू ४७९) इति ङीप् प्राप्तः। ७१ सम्भस्त्राऽजिन-शण-पिण्डेभ्यः फलात्*। सम्फला। भस्त्रफला। 'ङ्यापोः—' (सू १००३) इति ह्रस्वः। सदच्काण्ड,प्रान्त-शतैकेभ्यः पुष्पात्*। सत्पुष्पा। प्राक्पुष्पा। प्रत्यक्पुष्पा।

---

इत्थञ्चोक्तदोषवारणाय 'अजाद्यत:' इति पदं सूत्रे षष्ठ्यन्तमेव, तथा सति प्रातिपदिकादित्येतस्य पञ्चम्यन्तत्वेन अजाद्यत इत्यस्य च षष्ठ्यन्तत्वेन द्वयोर्विशेषणविशेष्यभावाभावेन तदन्तविध्यभावात्, अजादीनामकारान्तस्य च वाच्यं यत्स्त्रीत्वं तत्र द्योत्ये प्रातिपदिकाट्टाप् स्यादित्यर्थे पञ्चाजीति समासपदे पञ्चाजशब्दसमुदायवाच्यं स्त्रीत्वं वर्तते, न तु अजमात्रशब्दवाच्यं स्त्रीत्वमिति नास्ति काचिदनुपपत्तिरिति भावः।

अजाद्युक्तिः—अयं भावः-अज-अश्व-एडक-मूषिक-प्रभृतीनाम्, अजादिगणपठितानामपि अजन्तत्वादेव तेभ्यः टापः सिद्धत्वेऽपि पृथग् गणे पाठः वक्ष्यमाणस्य 'वयसि प्रथमे' इति ङीपः 'जातेरस्त्री' इति ङीषः 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति ङीषश्च बाधनार्थो बोध्यः।

पञ्चाजी (ई. ६४, ६८, ७०)—पञ्चानामजानां समाहारः इति विग्रहे 'तद्धितार्थ—' इति द्विगुसमासे सुब्लुकि 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः' इति स्त्रीत्वे 'द्विगोः' इति ङीपि 'यस्येति च' इत्यकारलोपे विभक्तिकार्ये 'पञ्चाजी' इति। अत्र समासार्थभूतो यः समाहारः तन्निष्ठं स्त्रीत्वं पञ्चाजेति समुदाये सत्त्वेन 'अजाद्यतष्टाप्' इत्यत्र 'अजाद्यतः' इति षष्ठीमाश्रित्य अजादीनाम् अदन्तस्य च वाच्ये स्त्रीत्वे टाप्–इत्येवम् अजादिभिः स्त्रीत्वस्य विशेषणादत्र न टाप्।

---

**संभस्त्रा**—सम्, भस्त्रा, अजिन, शण तथा पिण्ड शब्द से पर जो फलवाचक फल शब्द, उससे स्त्रीत्व द्योत्य हो तो 'टाप्' प्रत्यय होता है।

**सदच्**—सत्, अच्, काण्ड, प्रान्त, शत तथा एक शब्द पूर्वक पुष्पशब्दान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य में 'टाप्' प्रत्यय होता है।

७३ शूद्रा चाऽमहत्पूर्वा जातिः* । पुंयोगे तु शूद्री । 'अमहत्पूर्वा' किम् ? महाशूद्री । क्रुञ्चा । उष्णिहा । देवविशा । ज्येष्ठा । कनिष्ठा । 'मध्यमेति पुंयोगेऽपि' (ग) । 'कोकिला जातावपि' (ग) । ७४ मूलान्नञः* अमूला । 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' ( ३०६ ) कर्त्री । दण्डिनी । ४५६ । उगितश्च ४।१।६।

---

शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः ( ई. ७२ )—अत्र 'शूद्रा च' इत्येको योगः, 'अमहत्पूर्वा जातिः' इत्यपरो योगः । पूर्वयोगे 'जातिः' इत्यपकृष्यते । ततश्च शूद्रशब्दः टापं लभते जातिश्चेद् वाच्या' इत्येकोऽर्थः । 'महत्पूर्वः शूद्रशब्दः टापं न लभते जातिश्चेद् वाच्या' इत्यपरोऽर्थः । इत्थं च शूद्रत्वजातिविशिष्टेति विग्रहे शूद्रशब्दात् टापि दीर्घे स्वादि कार्ये 'शूद्रा' इति सिद्धयति । 'महाशूद्री' इत्यत्र तु महत्पूर्वकत्वेन टापोऽभावात् 'पुंयोग' इति ङीष् भवति ।

पुंयोगे तु ( ई. ७३ )—शूद्रशब्दस्य स्त्रियां—'शूद्रा, शूद्री' इति रूपद्वयम् । शूद्रजातिश्चेद्वाच्या तदा 'शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः' इति जातिलक्षणं ङीपं बाधित्वा टापि शूद्रेति रूपम् । शूद्रस्य स्त्री इत्येवं पुंयोगात् स्त्रियां व्यक्तौ वाच्यायां तु 'पुंयोगागादाख्यायाम्' इति ङीषि शूद्रीति रूपम् ।

---

शूद्रा—जातिवाचक अमहत्पूर्वक शूद्र शब्द से भी 'टाप्' होता है ।

मध्यमेति—पुंयोग में भी-मध्यमत्व विशिष्ट 'मध्यमा' में स्त्रीत्वविवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय होता है ।

कोकिला—कोकिलत्व जाति विशिष्ट 'कोकिला' । यहां जातिवाचक कोकिल शब्द से भी स्त्रीत्वविवक्षा में टाप् प्रत्यय होता है ( यह वार्तिक जाति-लक्षण ङीष् का बाधक है ) ।

मूलान्—'नञ्' पूर्वक मूल शब्द से स्त्रीत्वविवक्षा में टाप् प्रत्यय होता है । ( यह वार्तिक 'पाक-कर्ण-पुष्प-मूल ( सू० ५२० ) का बाधक है ) ।

ऋन्नेभ्यः—ऋकारान्त तथा नान्त शब्दों से स्त्रीत्वविवक्षा में 'ङीप्' होता है ।

नोट—( १ ) ऋकारान्त स्वसृ, आदि शब्द तथा संख्यावाची नान्त—पञ्चन्, सप्तन्, नवन्, दशन्, शब्दों से स्त्रीत्वविवक्षा में भी ङीप् नहीं होता है—दे० 'नषट्स्वस्रादिभ्यः' ( सू. ३०८ ) ।

( २ ) 'मन्' भागान्त शब्दोत्तर भी ङीप् नहीं होता है । यथा—पामन् = पामा । महिमन् = महिमा । सीमन् = सीमा । सुदामन्=सुदामा । इत्यादि ।

उगितश्च—उगित् (उ, ऋ, ऌ—इत्) तदन्त अर्थात् १. मतुप्, २. इयसुन्,

उगिदन्तात् प्रातिपदिकात्स्त्रियां ङीप् स्यात् । भवन्ती । पचन्ती । दीव्यन्ती । 'शप्श्यनो:—' ( सू. ४७७ ) इति नुम् । 'उगिदचाम्—' ( सू. ३६१ ) इति सूत्रेऽज्ग्रहणेन 'धातोश्चेदुगित्कार्यं तर्ह्यञ्चतेरेव' इति नियम्यते । तेनेह न–उखास्रत् । क्विप्, 'अनिदिताम्—' (सू. ४१६) इति नलोपः । पर्णध्वत् । अञ्चतेस्तु स्यादेव । प्राची । प्रतीची । ४५७ । वनो र च ४।१।७। वन्नन्तात्तदन्ताच्च प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप्स्यात्, रश्चान्तादेशः । वन्निति ङ्वनिप्क्वनिप्वनिपां सामान्यग्रहणम् । 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्' (प २४ ) । तेन प्रातिपदिकविशेषणात् तदन्तान्तमपि लभ्यते । सुत्वानमतिक्रान्ता अतिसुत्वरी ।

उगिदचामिति—अयम्भावः, उखापूर्वकस्रंसुधातुरुगित्, तस्मात् क्विपि 'अनिदिताम्' इति नलोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सुप्रत्यये हल्ङ्यादिलोपे सकारस्य पदान्तत्वात् 'वसुस्रंसु' इति दत्वे चर्वे च कृते उखास्रदिति । न चात्र उगित्वात् स्त्रीत्वविवक्षायाम् 'उगितश्च' इति ङीबापत्तिरिति वाच्यम् । 'उगिद-चाम्' इति सूत्रे अञ्चुधातोरुगित्वेन नुमि सिद्धे अञ्चुग्रहणेन 'सिद्धे सति आरभ्यमाणो विधिर्नियमाय भवति' इति नियमात् धातोश्चेदुगित्कार्यं तर्ह्यञ्चरे-वेति नियमात् अञ्चुधात्वतिरिक्तधातूनामुगित्कार्याभावज्ञापनेन स्रंसुधातावपि तदप्रवृत्तैरिति दिक् ।

प्राची ( ई. ६२ ) – 'उगिदचाम्–' इति सूत्रस्य अज्ग्रहणेन 'धातोश्चे-दुगित्कार्यं तर्हि अञ्चतेरेवेति नियमस्य जागरूकत्वेऽपि 'उगितश्चे'ति ङीप् ।

अतिसुत्वरी ( ई. ६३ )—सुत्वानमतिक्रान्तेति विग्रहे क्वनिपि 'वनो र च' इति सूत्रे क्वनिपो ग्रहणेन तेन सूत्रेण ङीपि रान्तादेशे च कृते 'यस्येति च' इत्यलोपे विभक्तिकार्ये उक्तप्रयोगसिद्धिः ।

३. क्तवतु तथा ४. शतृ प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिंग में ङीप् प्रत्यय होता है । उदाहरण—

'**पतन्ती**' भवनाद् बाला गर्तं गच्छति पश्यतः ।<br>
एषा '**धनवती**' भूयात् जाया '**बुद्धिमती**' तव ॥<br>
भार्या '**पतिमती**' पूज्या वापी '**पद्मवती**' च या ।<br>
वनं '**गतवती**' सीता शीतं '**पीतवती**' फलम् ॥

वनो—वनन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् और अन्त में रेफादेश भी हो जाता है ।

अतिधीवरी । शर्वरी । ७५ वनो न हश इति वक्तव्यम्* । हशन्ताद्धातो विहितो यो वन् तदन्तादन्ताच्च प्रातिपदिकान्ङीप् रश्च नेत्यर्थः । 'ओणृ अपनयने' । वनिप् 'विड्वनोः–' ( सू २९८२ ) इत्यात्वम् । अवावा ब्राह्मणी । राजयुध्वा । ७६ बहुव्रीहौ वा* । बहुधीवरी–बहुधीवा । पक्षे

---

अयम्भावः—'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य च ग्रहणम्' इति परिभाषया प्रत्ययान्ततदादिरूपार्थस्य लाभो भवति, ततश्च प्रत्ययान्त-तदादिविशेषणं, प्रातिपदिकञ्च विशेष्यमिति 'येन विधिस्तदन्तस्य' इति पुनस्त-दन्तविधौ प्रत्ययान्ततदाद्यन्तरूपं यत्प्रातिपदिकमित्यर्थस्य लाभः ।

इत्थञ्च 'वनो र च' इति सूत्रस्य वन्नन्तात्प्रातिपदिकात् ङीप्, रश्चान्तादेश इत्यर्थो भवति । प्रत्ययान्ततदादि सुत्वन्निति तदन्तप्रातिपदिकम् अतिसुत्वन् इति । ततश्चोक्तप्रयोगे ङीप् रान्तादेशश्च सिद्धः ।

अतिधीवरी ( ई. ७०, ७३ )—धीवानमतिक्रान्ता–अतिधीवरी । 'अन्ये-भ्योऽपि दृश्यते' इति क्वनिप् प्रत्यये 'घुमास्थे'तीत्वे 'वनो र च' इति वन्नन्तात् अतिधीवन् शब्दात् स्त्रियां ङीपि रश्चान्तादेशे 'यस्येति च' इत्यलोपे विभक्तिकार्ये 'अतिधीवरी' इति ।

अवावा ( ई. ६४ )—ओण्धातोः वनिपि 'विड्वनो'रित्यात्त्वे अवादेशे ओण् इति धातोर्हसान्ताद्वन् विहितत्वेन 'वनो न हश इति वक्तव्यम्' इति वार्तिकेन 'वनो र च' इति प्राप्तङीब्रत्वयोः प्रतिषेधात् राजवद्रूपं बोध्यम् ।

बहुधीवरी ( ई. ६८, ७०, ७३, ७५ )—बहवो धीवानः यस्याः इति विग्रहे 'बहुव्रीहौ वा' इति ङीपि रश्चान्तादेशे भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम् । ङीप् रत्वाभावपक्षे 'डाबुभाभ्याम्—' इति डीपि 'बहुधीवा' इति । रमावत् ।

बहुधीवा ( ई. ५७, ५९, ७० )—'वनो र च' इति ङीप्रत्वाऽभावपक्षे रूपमिदम् । अत्र पक्षे 'डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्' इति डापि टिलोपे बहुधीवा-शब्दात् सोर्हल्ङ्यादिलोपे 'बहुधीवा' इति । ङीप्रत्वयोः डापश्चाभावे 'अनो बहुव्रीहेः' इति ङीप्निषेधात् राजवद् रूपं बोध्यम् ।

---

वनो न—( किन्तु ) हसन्त धातुओं से विहित जो वन् ( वनिप् ) तदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्वविवक्षा में ङीप् एवं रेफादेश नहीं होता है ।

बहुव्री–बहुव्रीहि समास में ङीप् और रादेश की प्रवृत्ति विकल्प से होती है ।

डाब्वक्ष्यते । ४५८ । पादोऽन्यतरस्याम् ४।१।८। पाच्छब्दः कृतसमासान्तस्तदन्तात् प्रातिपदिकान्ङीब्वा स्यात् । द्विपदी–द्विपाद् । ४५९ । टाबृचि ४।१।९। ऋचि वाच्यायां पादन्ताट्टाप् स्यात् । द्विपदा ऋक् । एकपदा । 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' ( सू ३०८ ) पञ्च । चतस्रः । 'पञ्च' इत्यत्र नलोपे कृतेऽपि 'ष्णान्ता षट्' ( सू ३६९ ) इति षट्संज्ञां प्रति 'नलोपः सुप्स्वर–' ( सू ३५३ ) इति नलोपस्यासिद्धत्वात् 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' ( सू ३०८ ) इति न टाप् । ४६० । मनः ४।१।११। मन्नन्तान्न ङीप् । सीमा । सीमानौ । ४६१ । अनो बहुव्रीहेः ४।१।१२। अन्नन्ताद्बहुव्रीहेर्न ङीप् । बहुजज्वा । बहुयज्वानौ ।

---

द्विपदी ( ई. ७३ )—द्वौ पादौ यस्याः इति विग्रहे समासे 'संख्यासुपूर्वस्य' इति पादशब्दान्तस्याकारस्य लोपे 'पादोऽन्यतरस्याम्' इति ङीपि भत्वात् 'पादः पत्' इति पदादेशे 'द्विपदी' इति । ङीबभावपक्षे 'द्विपात्' इति ।

पञ्च—( ई. ५७, ६८ )—पञ्चन् शब्दात् जसि, शसि वा 'ष्णान्ताः षट्' इति षट्संज्ञायां 'षड्भ्यो लुक्' इति लुकि 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे पञ्चेति । नचात्र कार्यकालपक्षे प्रतिकार्यं संज्ञाप्रवृत्तेरिति सिद्धान्तिततया जस्शस्लुगर्थं प्रवृत्तया षट्संज्ञया अन्यकार्यसाधनासम्भवेन नलोपोत्तरं 'पञ्च' इत्यत्र षट्संज्ञाया अप्राप्तया 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' इत्यस्याप्रवृत्तेरदन्तत्वादजाद्यतष्टाप्, इति टाप् स्यादिति वाच्यम् ? नलोपे कृतेऽपि नलोपस्य सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति' इति नियमेन षट्संज्ञादृष्ट्या असिद्धत्वेन नान्तबुद्ध्या तत्संज्ञाप्रवृत्तौ न षट्' इति निषेधेन टापोऽभावात् । 'चतसृ + जस् इत्यत्र ऋदन्तलक्षणङीप् तु न, स्वस्रादिषु चतसृशब्दस्य पाठात् ।

---

पादो कृत समासान्त पादशब्दान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिंग में विकल्प से ङीप् होता है ।

टाबृचि—ऋक् अर्थ में पादशब्दान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिंग में टाप् प्रत्यय होता है ।

न षट्—( सू. ३०८ )—षट् संज्ञक तथा स्वस् आदि प्रातिपदिक से स्त्रीप्रत्यय नहीं होता है ।

मनः—मन्तन्त ( 'मनि' प्रत्ययान्त ) प्रातिपदिक से स्त्रीलिंग में ङीप् नहीं होता है ।

अनो—अनन्त बहुव्रीहि से स्त्रीलिंग में ङीप् नहीं होता है ।

४६२। डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम् ४।१।१३। सूत्रद्वयोपात्ताभ्यां डाब्बा स्यात्। सीमा। सीमे–सीमानौ। दामा। दामे–दामानौ। 'न पुंसि दाम' इत्यमरः। बहुयज्वा। बहुयज्वे–बहुयज्वानौ। ४६३। अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम् ४।१।२८। अन्नताद् बहुव्रीहेरुपधालोपिनो वा ङीप् स्यात्। पक्षे डाब्निषेधौ बहुराज्ञी। बहुराज्ञ्यौ—बहुराजे—बहुराजानौ। ४६४। प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः ७।३।४४। प्रत्ययस्थात् ककारात् पूर्वस्याकारस्येकारः स्यादापि परे, स आप्सुपः परो न चेत्। सर्विका। कारिका। 'अतः' किम्? नौका। 'प्रत्ययस्थात्' किम्? शक्नोतीति शका। 'असुपः' किम्? बहुपरिव्राजका नगरी। 'कात्' किम्? नन्दना। 'पूर्वस्य' किम्? परस्य मा भूत्, कटुका। 'तपरः' किम्? राका। 'आपि' किम्? कारकः। ७७ मामक-नरकयोरुप-

---

बहुराज्ञी ( ई. ५८, ६०, ६२ )—बहवः राजानः यस्याः इति विग्रहे बहुराजन्–शब्दात् 'अनो बहुव्रीहेः' इति प्राप्तं ङीब्निषेधं प्रबाध्य 'डाबुभाभ्याम्' इति डापि प्राप्ते तमपि प्रबाध्य 'अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम्' इति ङीपि विभक्त्यादिकार्ये 'बहुराज्ञी' इति। ङीबभावपक्षे 'डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्' इति डापि विभक्त्यादिकार्ये 'बहुराजा' इति। 'अनो बहुव्रीहेः' इति ङीब्निषेधपक्षे तु 'बहुराजा' इति राजन्–शब्दवत् बोध्यम्।

पूर्वस्य किम् ( ई. ६२, ६५, ६८ )—अयम्भावः, 'प्रत्ययस्थात्कात्' इति सूत्रे पूर्वस्येत्यस्याभावे 'तस्मादित्युत्तरस्य' इति परिभाषया अव्यवहितपरस्येत्यंस्योपस्थितौ प्रत्ययस्थककाराव्यवहितपरस्याकारस्येत्त्वं स्यादित्यर्थे कटुकेत्यत्रेत्त्वापत्तिः। कटुक आ इति दशायाम् 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घस्तु न शंक्यः' 'वार्णादाङ्गं बलीयः' इति परिभाषया सूत्रस्यापवादत्वाच्च सवर्णदीर्घाप्रवृत्तेः। कृते तु पूर्वग्रहणे तत्सामर्थ्यात्परिभाषायाः पूर्वम् अप्रवृत्तौ पूर्वस्याकारस्येत्यादिसूत्रार्थो भवति, ततश्च नास्ति दोषः।

---

डाबुभा—मन्नन्त प्रातिपदिक और अन्नन्त बहुव्रीहि से विकल्प से डाप् ( आ ) प्रत्यय होता है।

अन—उपधालोपी अन्नन्त बहुव्रीहि से विकल्प से ङीप् होता है।

मामक—मामक एवं नरक शब्दों को भी आप् के परे ककार से पूर्व अकार को इकार आदेश होता है।

सङ्ख्यानम्*। मामिका। नरान् कायतीति नरिका। ७८ त्यक्त्यपोश्च*। दाक्षिणात्यिका। इहत्यिका। ४६५। न यासयोः ७।३।४५। यत्तदोरस्येन्न स्यात्। यका। सका। यकाम्। तकाम्। ७९ त्यकनश्च निषेधः*। अधित्यका। उपत्यका। ८० आशिषि वुनश्च न*। जीवका। भवका। ८१ उत्तरपदलोपे न*। देवदत्तिका–देवका। ८२ क्षिपकादीनां च*। क्षिपका। ध्रुवका। कन्यका। चटका। ८३ तारका ज्योतिषि*। अन्यत्र तारिका। ८४

---

दाक्षिणात्यिका (ई. ७१) दक्षिणस्यां दिशि भवः इत्यर्थे 'दक्षिणापश्चात् पुरसस्त्यक्' इति त्यकि कित्त्वादादिवृद्धौ 'दाक्षिणात्य' इति, तस्मात् टापि 'दाक्षिणात्या' इति। तस्मात् दाक्षिणात्याशब्दात् स्वार्थे कः 'केऽणः' इति टापो ह्रस्वे पुनष्टापि 'त्यक्त्यपोश्च' इति इत्त्वे सोर्हल्ङ्याब्दिलोपे रूपं सिद्धम्।

अधित्यका (ई. ७३)—'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' इति त्यकन् प्रत्ययान्तात् अधित्यकशब्दात् टापि सोर्हल्ङ्याब्दिलोपे उक्तं रूपं सिद्धम्। 'प्रत्ययस्थात्—' इति इत्त्वं तु न 'त्यकनश्च निषेधः' इति निषेधात्।

---

त्यक्—त्यगन्त और त्यबन्त शब्दों को भी ककार से पूर्व आकारस्थानिक अकार को इकार होता है—आप् के परे।

न यास—यत् और तत् शब्दसम्बन्धी ककार से पूर्व अकार को आप् के परे इकार नहीं होता है।

त्यकन—त्यकन् प्रत्ययान्त सम्बन्धी ककार से पूर्व अकार को आप् के परे इकार नहीं होता है।

आशिषि—आशीर्वादार्थक 'वुन्' प्रत्ययस्थानीय ककार से पूर्व अकार को आप् के परे इकारादेश नहीं होता है।

उत्तर—प्रकृतिभूत अनेक पदघटित शब्द के उत्तर पद का यदि लोप हो गया हो तो प्रत्ययस्थ ककार से पूर्ववर्ती अकार के स्थान में आप् के परे इकारादेश नहीं होता।

क्षिप—क्षिपकादि गणपठित शब्दों मे भी प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व अकार के स्थान में आप् के परे इकार नहीं होता है।

तारका—ज्योतिरर्थक (नक्षत्रवाचक) 'तारका' शब्द के प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व अकार को आप् के परे इकार नहीं होता है। (अन्यत्र = जहां 'तारा' वाचक शब्द रहे वहां 'तारिका'। (इत्व होगा ही)

वर्णका तान्तवे*। अन्यत्र वर्णिका। ८५ वर्तका शकुनौ प्राचाम्*। उदीचां तु वर्तिका। ८६ अष्टका पितृदेवत्ये*। अष्टिका अन्या। ८७ सूतकापुत्रिकावृन्दारकाणां वेति वक्तव्यम्*। इह वा इति च्छेदः। कात्पूर्वस्याकारादेशो वेत्यर्थः। तेन पुत्रिकाशब्दे ङीन् ईवर्णस्य पक्षेऽकारः। अन्यत्रेत्वबाधनार्थमकारस्यैव पक्षेऽकारः। सूतका-सूतिका। इत्यादि। ४६६। उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः ७।३।४६। यकपूर्वस्य स्त्रीप्रत्ययाकारस्य स्थाने योऽकारस्तस्य कात्पूर्वस्येद्वा स्यादापि परे। 'केऽणः' (सू ८३५) इति ह्रस्वः, आर्यका–आर्यिका। चटकका–चटकिका। 'आतः' किम्? साङ्काश्ये भवा साङ्काश्यिका। 'यक' इति किम्? अश्विका। 'स्त्रीप्रत्यय—' इति किम्? शुभं यातीति शुभंयाः अज्ञाता शुभंयाः शुभंयिका। ८८ धात्वन्तयकोस्तु नित्यम्*। सुनयिका।

---

आर्यिका ( ई. ६६, ७० )—आर्याशब्दात् स्वार्थिके कप्रत्यये 'केऽणः' इति यकारादाकारस्य ह्रस्वे स्त्रीत्वाट्टापि दीर्घे आर्यका इति, तस्मात् सौ तस्य हल्ङ्यादिलोपे 'उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः' इति यकारादकारस्य आकारस्थानिकत्वात् पाक्षिके, इत्वे आर्यिका इति। पक्षे 'आर्यका' इति।

शुभंयिका ( ई. ६९ )—शुभं यातीति शुभंया, 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति विच्। तस्मात् शुभंयाशब्दात् स्वार्थे कः 'केऽणः' इति ह्रस्वे टापि 'प्रत्ययस्थात्—'

---

वर्णका—तन्तुओं का समुदायवाचक 'वर्ण का' शब्द के प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व अकार के स्थान में इत्व नहीं होता है। ( अन्यत्र अर्थात् किसी पुस्तक की व्याख्या करने वाले अर्थ में–'वर्णिका'। यहां इत्व होगा ही )।

वर्तका—प्राचीनाचार्यों के मत में शकुनि ( पक्षि ) वाचक 'वर्तका' शब्द के प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व अकार को इत्व नहीं होता है।

अष्टका—पितृ ( देव–कर्म ) वाचक 'अष्टका' शब्द के प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व अकार को इत्व नहीं होता है।

सूतिका—सूतका, पुत्रका तथा वृन्दारका शब्दों के प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व अकार को विकल्प से इत्व होता है—ऐसा कहना चाहिए।

उदीचा—उदीच्य आचार्य के मत में यकार तथा ककार पूर्वक आकार स्थानीय अत् के स्थान में आप् के परे विकल्प से इत्व होता है।

धात्व—किन्तु यदि पूर्वोक्त यकार या ककार धातु के अन्त्यावयव हो तो ककारोत्तरवर्ती अकार को नित्य ही इत्वादेश होता है।

सुपाकिका । ४६७ ।भस्त्रैषाऽजा-ज्ञा-द्वा-स्वा-नञ्पूर्वाणामपि ७।३।४७। स्वेत्यन्तं लुप्तषष्ठीकं पदम् । एषामत इद्वा स्यात् । तदन्तविधिनैव सिद्धे नञ्पूर्वाणामपीति स्पष्टार्थम् । भस्त्राग्रहणमुपसर्जनार्थम् । अन्यस्य तूत्तरसूत्रेण सिद्धम् । 'एषा' 'द्वा' एतयोस्तु सपूर्वयोर्नेत्वम्, अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य 'असुपः'

---

इति इत्वे सोर्हल्ङ्यादिलोपे उक्तं रूपं सिद्धम् । 'उदीचामातः स्थाने—' इति सूत्रार्थे स्त्रीप्रत्यय इत्यनुक्तौ तु अत्रापि इत्वविकल्पापत्तेः ।

भस्त्रैषाजाज्ञेति ( ई. ६८ )—अत्र सूत्रे 'आतः स्थाने' इत्यनुवृत्तस्य स्वशब्दस्यैव विशेषणमिति संज्ञोपसर्जनाभ्यामन्यत्र आत्मीयायाम् अकचि आतः स्थानिकत्वाऽभावात् 'स्विका' 'परमस्विका' इत्यत्र 'प्रत्ययस्थात्–' इति नित्यमेव इत्वं भवति । संज्ञोपसर्जनयोस्तु टापि अज्ञाते के 'केऽणः' इति ह्रस्वे पुनष्टापि 'स्विका, स्वका, निःस्विका, निःस्वका, इत्यादौ विकल्पेनाऽनेन इत्वमिति ।

एषा द्वा एतयोस्तु—'भस्त्रैषाजाज्ञाद्वास्वानञ्पूर्वाणामपि' इति सूत्रस्य व्याख्यावसरे आह—'एषा द्वे'ति । अयम्भावः—यत्र भस्त्राशब्दोऽनुपसर्जनः तत्र 'अभाषितपुंस्काच्च' इति इत्वम् । उपसर्जने तु—'भस्त्रैषा' इति इत्वम् । 'अनेषका' इत्यादौ इत्वं न सिद्ध्यति । तथा हि–'न सु' 'एतत् सु' इत्यलौकिकविग्रहे 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते' इति परिभाषया त्यदादित्वात् प्राक् सुपो लुकि ततस्त्यदादिसमासरूपप्रातिपदिकाट्टापि सुब्विशिष्टस्य समासत्वे जाते सति समासघटकसुप्पर एवायं टाप् इतीत्वमत्र न भवति, 'असुपः' इति प्रतिषेधात् । इह सूत्रे 'उदीचामातः स्थाने' इत्यस्मादातः स्थाने इत्यनुवर्तते । तच्च स्वशब्दाकारस्य विशेषणम् । द्वयेषयोस्तु सर्वनामत्वेन टेः प्रागकचि कृते ककारात् पूर्वं ह्रस्वाकारस्य विद्यमानत्वेन आतः स्थाने अकारस्याऽसम्भवात् । भस्त्रादीनां सर्वत्रैव आतः स्थानिन एव आकारस्य सम्भवेन व्यभिचाराऽभावात् । स्वशब्दस्तु यत्र आत्मीयरूपार्थस्य वाचकः, तत्रैव स्त्रीलिङ्गे वर्तते । एवं सति आकारस्थाने अकाराभावेन उदाहरणं न भवति । किन्तु यत्र उपसर्जनवाची स्यात्, तत्र सर्वनामत्वाभावेन कप्रत्यये कृते उदाहरणं सम्भवति । तथा च स्वस्या निष्क्रान्ता इति विग्रहे उपसर्जनह्रस्वे टापि अज्ञाता निःस्वा 'निःस्विका' 'निःस्वका' इति रूपद्वयं सिद्धम् । आत्मीये स्विकेति नित्यमित्वमिति दिक् ।

---

भस्त्रै—नञ्-पूर्वक, अन्य-पूर्वक अथवा अपूर्वक ( केवल ) भी भस्त्रा, एषा, अजा, ज्ञा, द्वा तथा स्वा शब्दों के आकारस्थानिक ह्रस्व अकार को विकल्प से इकार होता है ।

इति प्रतिषेधात्। अनेषका। परमैषका। अद्वके। परमद्वके। स्वशब्दग्रहणं संज्ञोपसर्जनार्थम्। इह हि 'आतः स्थाने' इत्यनुवृत्तम् स्वशब्दस्यातो विशेषणम्, न तु द्वैषयोरसम्भवात्। नाप्यन्येषाम्, अव्यभिचारात्। स्वशब्दस्त्वनुपसर्जनमात्मीयवाची अकजर्हः। अर्थान्तरे तु न स्त्री। संज्ञोपसर्जनीभूतस्तु कप्रत्ययान्तत्वाद्भवत्युदाहरणम्। एवं चात्मीयायां 'स्विका' 'परमस्विका' इति नित्यमेवेत्वम्। निर्भस्त्रका–निर्भस्त्रिका। एषका–एषिका। कृतषत्वनिर्देशान्नेह विकल्प—एतिके–एतिका। अजका–अजिका। ज्ञका–ज्ञिका। द्वके–द्विके। निःस्वका–निःस्विका। ४६८। अभाषितपुंस्काच्च ७।३।४८। एतस्माद्विहितस्य आतः स्थाने अत इद्वा स्यात्। गङ्गका—गङ्गिका। बहुव्रीहेर्भाषितपुंस्कत्वात्ततो विहिस्य नित्यम्। अज्ञाता अखट्वा—अखट्विका।

---

अद्वके (ई. ७०)—नञ्समासनिष्पन्नाद् अकज्विशिष्टाद् अद्वकिशब्दात् त्यदाद्यत्वे पररूपे टापि औङः शीभावे 'आद्गुणः' इति गुणे 'अद्वके' इति। अत्र 'भस्त्रैषा' इति इत्वन्तु न, अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य 'असुपः' इति प्रतिषेधात्।

निर्भस्त्रिका-निर्भस्त्रका (ई. ६०, ६४)—भस्त्रायाः निष्क्रान्तेति विग्रहे 'निरादयः—' इति समासे 'गोस्त्रियोः—' इति ह्रस्वत्वे पुनष्टापि समासात् सौ कप्रत्यये 'केऽणः' इति ह्रस्वे निर्भस्त्रकशब्दात् पुनष्टापि सवर्णदीर्घे 'भस्त्रैषा—' इति विभाषया इत्वे विभक्तिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम्। अत्र केन व्यवधानात् न सुपः परष्टाविति।

गङ्गाका (ई. ६८, ७०)—गङ्गाशब्दात् कप्रत्यये 'केऽणः' इति ह्रस्वे स्त्रीत्वविवक्षायां पुनष्टापि 'आदाचार्याणाम्' इत्यात्वे विभक्त्यादिकार्ये 'गङ्गाका' इति। पक्षे 'अभाषितपुंस्काच्च' इति विभाषया इत्वे विभक्तिकार्ये 'गङ्गिका' इति। इत्वाभावे 'गङ्गका' इति।

अखट्विका (ई. ६८, ७०, ७३)—'न विद्यते खट्वा यस्याः' इत्यर्थे बहुव्रीहिसमासे सति 'शेषाद्विभाषा' इत्यस्य विकल्पपक्षे 'गोस्त्रियोः—' इति ह्रस्वे स्त्रीत्वविवक्षायां पुनष्टापि विभक्तिकार्ये 'अखट्वा' इति। तस्मात् अज्ञाता खटवा इत्यर्थे कप्रत्यये 'केऽणः' इति ह्रस्वे पुनष्टापि बहुव्रीहेर्भाषितपुस्कत्वात्

---

अभा—अभाषित पुंस्क से (जिसका पुंल्लिग में प्रयोग कभी नहीं होता, उससे) विहित आकार स्थानिक ह्रस्व अकार को विकल्प से इकारादेश होता है।

शैषिके कपि तु विकल्प एव । ४६९ । आदाचार्याणाम् ७।३।४९। पूर्वसूत्रविषये आद्वा स्यात् । गङ्गाका । उक्तपुंस्कात्तु शुभ्रिका । ४७० । अनुपसर्जनात् ४।१।१४। अधिकारोऽयं 'यूनस्तिः' ( सू ५३२ ) इत्यभिव्याप्य । अयमेव स्त्रीप्रत्ययेषु तदन्तविधिं ज्ञापयति ।

४७१ टिड्-ढाऽणञ्-द्वयसज्-दघ्नञ-मात्रच्-तयप्-ठक्-ठञ-कञ्-क्वरपः

---

ततो विहितस्यातः स्थानिकाकारस्य 'अभाषितपुंस्काच्च' इति विभाषया इत्वा-प्राप्ते 'प्रत्ययस्थात्—' इति नित्येत्त्वे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

शैषिके कपि तु विकल्प एव ( ई. ५८ )—अयम्भावः—न सु खट्वा सु इति स्थिते 'शेषाद्विभाषा' इति कपि सुब्लुकि प्रत्ययलक्षणेन भागद्वयस्य सुबन्तत्वात् समाससंज्ञायां 'समासान्ताः' इति शास्त्रबलेन कबन्तस्यैव समास-त्वात् उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययान्तसमासरूपप्रातिपदिकाभावात् 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वत्वाभावेन 'केऽणः' इति प्राप्तह्रस्वस्य 'न कपि' इति निषेधेन 'आपोऽन्य-तरस्याम्' इति ह्रस्वे कपः प्राग्वर्तिखट्वशब्दात् परस्य आपः अभाषितपुंस्काद्वि-हितत्वेन तत्स्थानिकाकारस्य 'अभाषितपुंस्काच्च' इति वैकल्पिकेत्त्वे विभक्ति-कार्ये 'अखट्विका' 'अखट्वका' इति । ह्रस्वाभावे तु 'अखट्वाका' इति त्रिविधं रूपमत्र निर्बाधमिति दिक् ।

अनुपसर्जनात्–अधिकारोऽयमिति—अयम्भावः, 'समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः' इति तदन्तविधिप्रतिषेधे 'टिड्ढाणञ्—' इत्यस्य टिद्रूपं यत्प्रातिपदि-कमित्यर्थे अवयवेऽचरितार्था अनुबन्धा समुदायस्योपकारका भवन्तीति बलात् कुरु चरीति सिद्धौ, अनुपसर्जनाधिकारः किमर्थः, 'बहुकुरुचरा' इत्यत्र तु न दोषः, 'यं समुदायं यो न व्यभिचरति स तस्योपकारको भवति' इति स्वीकारादिति वाच्यम्, 'स्त्रीप्रत्यये समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः' इत्यस्याप्रवृत्तिज्ञापनेन चारितार्थ्यात् ।

---

आदा—आचार्यों के मत से अभाषित पुंस्क प्रातिपदिक से विहित आत् के स्थान में विहित अत् को आकारादेश विकल्प से हो जाता है।

अनुप—'यूनस्ति' (४।१।७७) सूत्रपर्यन्त इस (४।१।१४) सूत्र का अधिकार है ( उन सूत्रों से विहित कार्य अनुपसर्जन से होता है, यह समझना चाहिए ) ।

टिड्ढा—अनुपसर्जन जो टिदन्त तदादि एवं 'ढ' आदि ( ढ, अण्, अञ्, द्वयसच्, दघ्नच्, मात्रच्, तयप्, ठक्, ठञ्, कञ्, क्वरप् ) प्रत्ययान्त तदादि, तदन्त स्त्रीरूपार्थ में विद्यमान प्रातिपदिक (टिदन्त, तदाद्यन्त, ढाद्यन्त, तदाद्यन्त) से ङीप् होता है।

४।१।२१५। अनुपसर्जनं यट्टिदादि तदन्तं यददन्तं प्रातिपदिकं ततः स्त्रियां ङीप् स्यात्। कुरुचरी। उपसर्जनत्वान्नेह—बहुकुरुचरा। नदट्-नदी। 'वक्ष्यमाणा' इत्यत्र टित्त्वादुगित्त्वाच्च ङीप्प्राप्तो यासुटो ङित्त्वेन 'लाश्रयमनुबन्धकार्यं नादेशानाम्' (प ७०) इति ज्ञापनान्न भवति, श्नः शानचः शित्त्वेन क्वचिदनुबन्धकार्येऽप्यनल्विधाविति निषेधज्ञापनाद्वा। सौपर्णेयी। ऐन्द्री। औत्सी। ऊरुद्वयसी। ऊरुदघ्नी। ऊरुमात्री। पञ्चतयी। आक्षिकी। लावणिकी। यादृशी। इत्वरी। 'ताच्छीलिके णेऽपि' (प ६८) चौरी। ८९ नञ्-स्नञीकक्ख्युंस्तरुण-

वक्ष्यमाणा (ई. ५७, ५९, ६८, ७०)—ननु 'न ल्यपि' इति सूत्रारम्भसामर्थ्येन अनुबन्धकार्ये कर्तव्येऽनल्विधाविति निषेधाभावेन स्थानिवत्त्वात् टित्त्वधर्ममवलम्ब्य वक्ष्यमाणेत्यत्र ङीप् कथन्न स्यादिति चेत् न, याऽसुटो ङित्त्वेन लाश्रयमनुबन्धकार्यम् आदेशानां न भवतीति निषेधात्।

न च 'पिच्च ङिन्न' ङिच्च पिन्न' इति भाष्येण यासुटो ङित्त्वं तत्र सार्थकमिति वाच्यम्। 'हलः श्नः शानज्झौ' इति सूत्रे शानचः शित्त्वेन क्वचिदनुबन्धकार्येऽपि 'अनल्विधौ' इति निषेधो भवतीति ज्ञापनात्। एवञ्चात्र स्थानिवद्भावो न भवतीति ङीपोऽप्रवृत्तिरिति भावः।

पञ्चतया (ई. ७१)—पञ्च अवयवाः यस्याः इति विग्रहे 'संख्याया अवयवे तयप्' इति तयपि 'टिड्ढाणञ्—' इति तयप्प्रत्ययान्तत्वात् ङीपि विभक्तिकार्ये 'पञ्चतयी' इति।

इत्वरी (ई. ६३, ६५, ७२)—इण्धातोः 'इण्नशजिसर्तिभ्यः क्वरप्' इति क्वरपि 'ह्रस्वस्य—' इति तुकि 'इत्वर' इति। तस्माद् 'टिड्ढाणञ्—' इति ङीपि 'यस्येति च' इत्यकारलोपे विभक्तिकार्ये 'इत्वरी' इति।

चौरी (ई. ७०)—चुरा शीलमस्या इति विग्रहे 'शीलं छत्रादिभ्यो णः' इति णप्रत्यये, वृद्धौ आकारलोपे 'ताच्छीलिके णेऽपि' इति वचनात् ङीपि चौरीति सिध्यति। उक्तवचने प्रमाणञ्च 'कार्मस्ताच्छील्ये' इति सूत्रम्। अन्यथा शीलार्थेऽण्प्रत्यये प्रकृतिभावविधायकस्य 'अन्' इति सूत्रस्याप्रवृत्तौ 'नस्तद्धिते' इति सूत्रेणैव टिलोपे सिद्धे टिलोपनिपातनार्थं 'कार्मस्ताच्छील्ये' इति सूत्रं व्यर्थमेवेति दिक्।

नञ्-स्नञ्—नञ्-प्रत्ययान्त, स्नञ्-प्रत्ययान्त, ईकक्-प्रत्ययान्त, ख्युन्-प्रत्ययान्त तथा तरुण एवं तुमुन् प्रातिपदिक से स्त्रीरूप अर्थ में ङीप् प्रत्यय होता है—ऐसा समझना चाहिए।

तलुनानामुपसङ्ख्यानम्*। स्त्रैणी। पौंस्नी। शाक्तीकी। आढ्यङ्करणी। तरुणी। तलुनी। ४७२। यञश्च ४।१।१६। यञन्तात्स्त्रियां ङीप् स्यात्। अकारलोपे कृते। ४७३। हलस्तद्धितस्य ६।४।१५०। हलः परस्य तद्धित-यकारस्योपधाभूतस्य लोपः स्यादीति परे। गार्गी। अनपत्याधिकारस्थान्न ङीप्*। द्वीपे भवा द्वैप्या। अधिकारग्रहणान्नेह—देवस्यापत्यं दैव्या। 'देवाद्यञञौ' (वा० २९५) इति हि यञ् प्राग्दीव्यतीयः, न त्वपत्याधिकार-पठितः। ४७४। प्राचां ष्फ तद्धितः ४।१।१७। यञन्तात् ष्फो वा स्यात् स्त्रियाम्, स च तद्धितः। ४७५। षः प्रत्ययस्य १।३।६। प्रत्ययस्यादिः ष इत् स्यात्। ४७६। आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् ७।१।२। प्रत्य-यादिभूतानां फादीनां क्रमादायन्नादय आदेशाः स्युः। तद्धितान्तत्वात् प्रातिपदि-कत्वम्। षित्त्वसामर्थ्यात् ष्फेणोक्तेऽपि स्त्रीत्वे 'षिद्गौरा–' (सू ४९९) इति वक्ष्यमाणो ङीष्, गार्ग्यायणी। ४७७। सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः ४।१।१८

---

द्वैप्या (ई. ७२)—'क्वरपोऽयञश्च' इति संहितापाठेन 'अपत्यग्रहणं कर्त-व्यम्' इति वार्तिकप्रत्याख्यानस्य फलैक्याय वार्तिके अपत्यपदम्—अपत्याधिकार-परम्, इत्यनुमीयते, तेन 'द्वीपे भवा द्वैप्या' इत्यत्र इव 'देवस्यापत्यं दैव्या' इत्यत्रापि 'यञश्च' इति ङीप् नेति। 'देवाद्यञञौ' इति हि यञ् प्राग्दीव्यतीयो न त्वपत्याधिकारपठित इति तत्त्वविदः।

गार्ग्यायणी (ई. ६४, ६६, ७१)—यञन्तात् गार्ग्यशब्दात् 'प्राचां ष्फस्त-

---

यञश्च—अनुपसर्जन यञन्त तदादि, तदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीरूप अर्थ में ङीप् प्रत्यय होता है।

हलः—हल् से उत्तर उपधाभूत तद्धित प्रत्ययावयव यकार का लोप होता है, ईकार के परे।

प्राचां—यञन्त प्रातिपदिक से स्त्रीरूप अर्थ में 'ष्फ' प्रत्यय होता है और उसकी तद्धितसंज्ञा होती है।

षः प्रत्य—प्रत्यय के आदि अवयव षकार की इत्संज्ञा होती है।

आय—प्रत्ययों के आदिभूत—'फ ढ, ख, छ, घ' के स्थान में क्रमशः—'आयन्, एय्, ईन्, ईय् तथा इय्' आदेश हो जाते हैं।

सर्वत्र—लोहित्यादि से लेकर कत-पर्यन्त यञन्त प्रातिपदिक से भी स्त्रीलिंग में 'ष्फ' प्रत्यय होता है।

लोहितादिभ्यः कतशब्दान्तेभ्यो यञन्तेभ्यो नित्यं ष्फः स्यात् । लौहित्यायनी । कात्यायनी । ४७८ । कौरव्यमण्डूकाभ्यां च ४।१।१९। आभ्यां ष्फः स्यात् । टाब्ङीषोरपवादः । 'कुर्वादिभ्यो ण्यः' ( सू ११७७ ) कौरव्यायणी । 'ढक् च मण्डूकात्' ( सू ११२४ ) इत्यण् । माण्डूकायनी । ९१ आसुरेरुपसङ्ख्यानम्* । आसुरायणी । ४७९ । वयसि प्रथमे ४।१।२०। प्रथमवयोवाचिनोऽ-

द्धिते' इति ष्फप्रत्यये 'षप्रत्ययस्य' इति षस्येत्संज्ञालोपयोः 'यस्येति च' इत्यलोपे 'आयनेयी'ति फस्यायन्नादेशे षित्वसामर्थ्यात् ष्फेणोक्तेऽपि स्त्रीत्वे 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति न्यायं बाधित्वा 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीषि णत्वे विभक्त्यादिकार्थे 'गार्ग्यायणी' इति । पक्षे 'यञश्च' इति ङीपि अकारलोपे 'हलस्तद्धितस्य' इति यलोपे विभक्तिकार्ये 'गार्गी' इति ।

कात्यायनी ( ई. ७३ )—कतस्यापत्यं स्त्री कात्यायनी । गर्गादियञन्तात् कात्यशब्दात् 'सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः' इति नित्यं ष्फप्रत्यये षस्य इत्संज्ञायां लोपे च कृते फस्यायनि 'यस्येति' च' इति यकारादकारस्य लोपे षित्वात् ङीषि विभक्तिकार्ये 'कात्यायनी' इति ।

आसुरायणी ( ई. ६९, ७० )—'प्राचां ष्फस्तद्धिते' इति सूत्रे तद्धितग्रहणात् क्वचिदन्योऽपि भवतीति ज्ञापनेन 'आसुरेरुपसंख्यानम्' इति सिद्धम् । तेन आसुरस्यापत्यं स्त्री इति विग्रहे आसुरशब्दात् ष्फप्रत्यये षस्येत्संज्ञायां लोपे च विहिते फस्यायन्नादेशे षित्वात् ङीषि णत्वे विभक्तिकार्ये आसुरायणी इति ।

---

कौरव्य—यञन्त कौरव्य तथा माण्डुक्य शब्दों से भी स्त्रीलिंग में 'ष्फ' प्रत्यय होता है ।

आसुरेः—'इञ्' प्रत्ययान्त आसुरी शब्द से भी स्त्रीलिंग मैं 'ष्फ' प्रत्यय होता है ।

वयसि—प्रथम वयस् के बोधक अकारान्त प्रातिपदिक के उत्तर स्त्रीलिंग में ङीप् प्रत्यय होता है ( अत एव वृद्धा, स्थविरा, आदि में ङीप् नहीं होता ) ।

नोट—वयस् तीन प्रकार का है—'कौमार, यौवन, वार्धक' इसमें कौमारवाचक से ही ङीप् होता है । वयस् का लक्षण—मनुः—

**कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौण्ड्रं च दशमावधि ।**
**कैशोरमापञ्चदशाद् यौवनं तु ततः परम् ॥**

दन्तात् स्त्रियां ङीप् स्यात् । कुमारी । ९२ वयस्यचरम इति वाच्यम्* । वधूटी । चिरण्टी । वधूटचिरण्टशब्दौ यौवनवाचिनौ । 'अतः' किम् ? शिशुः । कन्याया न, 'कन्यायाः कनीन च' ( सू. ११२१ ) इति निर्देशात् । ४८० । द्विगोः ४।१।२१। अदन्ताद् द्विगोर्ङीप् स्यात् । त्रिलोकी अजादित्वात् त्रिफला । त्र्यनीका सेना । ४८१ । अपरिमाण-विस्ताऽचित-कम्बल्येभ्यो न तद्धितलुकि ४।१।२२। अपरिमाणान्ताद् विस्ताद्यन्ताच्च द्विगोर्ङीब्न स्यात्तद्धितलुकि सति । पञ्चभिरश्वैः क्रीता पञ्चाश्वा । आर्हीयष्ठक् 'अध्यर्ध—' ( सू. १६९३ ) इति लुक् । द्वौ विस्तौ पचति द्विविस्ता । द्व्याचिता । द्विकम्बल्या । परिमाणान्तात्तु द्व्याढकी । 'तद्धितलुकि' किम् ? समाहारे पञ्चाश्वी । ४८२ । काण्डान्तात् क्षेत्रे ४।१।२३। क्षेत्रे यः काण्डान्तो द्विगुस्ततो न ङीप् , तद्धितलुकि । द्वे काण्डे प्रमाणमस्या द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः । 'प्रमाणे द्वयसच्—' ( सू. १८३८ ) इति

---

त्रिलोकी ( ई. ६९ ) —त्रयाणां लोकानां समाहारः इति विग्रहे समास-निष्पन्नात् त्रिलोकशब्दात् 'द्विगोः' इति ङीपि 'यस्येति च' इत्यलोपे विभक्ति-कार्ये 'त्रिलोकी'। इति ।

पञ्चाश्वा ( ई. ६७ )—पञ्चभिः अश्वैः क्रीतेति विग्रहे समासनिष्पन्नात् पञ्चाश्वशब्दात् 'द्विगोः' इति ङीपि प्राप्ते 'अपरिमाणविस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धितलुकि' इति निषेधे टापि 'यस्येति च' इत्यलोपे विभक्तिकार्ये रूपं सिद्धम् ।

---

वयस्य—यहां वार्तिककार ( कात्यायन ) 'प्रथमे' के स्थान में 'वयसि अचरमे' अर्थात् वृद्धावस्था को छोड़कर अन्यवयोवाचक से भी ङीप् होता है—ऐसा कहते हैं । अतः यौवनवाचक वधूट और चिरण्ट शब्दों से भी ङीप् होता है । ( 'बाला' इत्यादि में तो अजादित्वात् 'टाप्' ही होता है—यह पहले ही कहा गया है ) ।

द्विगोः—( संख्यापूर्वो द्विगुः ) स्त्रीलिंग में वर्तमान द्विगुसंज्ञक अदन्त प्रातिपदिक से ङीप् होता है । ( किन्तु त्रिफला, त्र्यनीका आदि में अजादित्वात् टीप् ही होगा ) ।

अपरि-स्त्रीवाचक अपरिमाणान्त एवं विस्त, अचित, और कम्बल्य शब्दान्त द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से तद्धित प्रत्यय के लुक् होने पर ङीष् नहीं होता है ।

काण्डा—तद्धित प्रत्यय के लुक् होने पर स्त्रीवाचक काण्डान्त द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से क्षेत्र अर्थ में ङीष् नहीं होता है ।

विहितस्य मात्रचः 'प्रमाणे लः' ( वा ४५२ ) 'द्विगोर्नित्यम्' ( वा ४५३ ) इति लुक् । 'क्षेत्रे' किम् ? द्विकाण्डी रज्जुः ।

४८३ । पुरुषात् प्रमाणेऽन्यतरस्याम् ४।१।२४। प्रमाणे यः पुरुषस्तदन्ताद् द्विगोर्ङीब्वा स्यात्तद्धितलुकि । द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्याः सा द्विपुरुषी—द्विपुरुषा वा परिखा । ४८४ । ऊधसोऽनङ् ५।४।१३१। ऊधोऽन्तस्य बहुव्रीहेरनङादेशः स्यात् स्त्रियाम् । इत्यनङि कृते डाब्ङीब्निषेधेषु प्राप्तेषु । ४८५ । बहुव्रीहेरूधसो ङीष् ४।१।२५। ऊधोऽन्ताद् बहुव्रीहेर्ङीप् स्यात् स्त्रियाम् । कुण्डोध्नी । 'स्त्रियाम्' किम् ? कुण्डोधो धैनुकम् । इहानङपि न, तद्विधौ 'स्त्रियाम्' इत्युपसंख्यानात् । ४८६ । संख्याऽव्ययादेर्ङीप् ४।१।२६। ङीषोऽपवादः । द्व्यूध्नी । अत्यूध्नी । बहुव्रीहेरित्येव, ऊधोऽतिक्रान्ता अत्यूधाः । ४८७। दामहायनान्ताच्च

---

द्विकाण्डी ( ई. ७० )—द्वे काण्डे प्रमाणमस्याः इति विग्रहे 'तद्धितार्थ' इति समासे 'प्रमाणेद्वयसज्' इति विहितस्य मात्रचः 'प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्' इति लुकि 'द्विगोः' इति ङीपि द्विकाण्डीति, रज्जुरिति शेषः । 'काण्डान्तात् क्षेत्रे' इति ङीपि निषेधो न भवति, द्विकाण्डशब्दस्य क्षेत्रवृत्तित्वाऽभावात् । 'काण्डान्तात् क्षेत्रे' इति सूत्रस्थ 'क्षेत्रे' इत्यस्य प्रत्युदाहरणमेतत् । ( षोडशहस्तप्रमाणो दण्डः काण्डमिति ) ।

द्विपुरुषी ( ई. ७२ )—द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्याः इति विग्रहे 'तद्धितार्थं' इति द्विगुसमासे 'प्रमाणे द्वयसज्–' इति विहितस्य मात्रचः 'प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्' इति लुकि 'द्विपुरुष' इति । तस्मात् स्त्रीत्वविवक्षायां 'पुरुषात् प्रमाणेऽन्यतरस्याम्' इति विभाषया ङीपि अलोपे विभक्तिकार्ये 'द्विपुरुषी' इति । पक्षे टापि 'द्विपुरुषे'ति ।

अत्यूध्नी ( ई. ७१, ७३ )—अतिशयितमूधो यस्याः इति विग्रहे बहु-

---

पुरुषात्- तद्धित प्रत्यय के लुक् होने पर प्रमाणार्थक पुरुषशब्दान्त स्त्रीवाचक द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से ङीष् विकल्प से होता है ।

ऊधसो— 'ऊधस्' शब्दान्त बहुव्रीहि से स्त्रीलिंग में अनङ् आदेश होता है ।

बहुव्रीहेः—'ऊधस्' शब्दान्त बहुव्रीहि से स्त्रीलिंग में ङीष् होता है ।

संख्या—संख्या तथा अव्यय आदि में हो जिसके ऐसे स्त्रीलिंग में वर्तमान 'ऊधस्' शब्दान्त बहुव्रीहि से ङीप् प्रत्यय होता है ।

दाम—संख्यावाचक शब्द जिसके आदि में हो, ऐसे स्त्रीवाचक दामान्त और हायनान्त बहुव्रीहि से ङीप् होता है ।

४।१।२७। संख्यादेर्बहुव्रीहेर्दामान्ताद्धायनान्ताच्च ङीप् स्यात्। दामान्ते डाप्प्रतिषेधयोः प्राप्तयोर्हायनान्ते टापि प्राप्ते वचनम्। द्विदाम्नी। अव्ययग्रहणाननुवृत्तेः 'उद्दामा वडवा' इत्यत्र डाब्निषेधावपि पक्षे स्तः। द्विहायनी बाला। ९३ त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य णत्वं वाच्यम्*। ९४ वयोवाचकस्यैव हायनस्य ङीप् णत्वं चेष्यते*। त्रिहायणी। चतुर्हायणी। वयसोऽन्यत्र-द्विहायना, चतुर्हायना शाला। ४८८। नित्यं संज्ञाछन्दसोः ४।१।२९। अन्नन्ताद् बहुव्रीहेरुपधालोपिनो ङीष्। सुराज्ञी नाम नगरी। अन्यत्र पूर्वेण विकल्प एव। वेदे तु शतमूर्ध्नी। ४८९। केवल-मामक-भागधेय-पापा-पर-समानाऽऽर्यकृत-सुमङ्गल-भेषजाच्च ४।१।३०। एभ्यो नवभ्यो नित्यं ङीप् स्यात् संज्ञाछन्दसोः। 'अथोत इन्द्रः केवलीर्विशः'। मामकी। भागधेयी। पापी। अपरी। समानी। आर्यकृती। सुमङ्गली। भेषजी। अन्यत्र 'केवला' इत्यादि। मामकग्रहणं नियमार्थम्, अण्यन्तत्वादेव सिद्धेः। तेन लोकेऽसंज्ञायां—मामिका। ४९०। अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक् ४।१।३२। एतयोः स्त्रियां नुक्स्यात्। 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (सू० ३०६)।

---

व्रीहिसमासे सुब्लुगादिकार्ये यणि 'ऊधसोऽनङ्' इत्यनङि 'संख्याऽव्ययादेर्ङीप्' इति ङीपि भत्वादल्लोपे प्रातिपदिकादिकार्ये 'अत्यूध्नी' इति। 'संख्याव्ययादे-रि'त्यत्र बहुव्रीहेरित्यनुवर्तनात् ऊधोऽतिक्रान्तेति विग्रहे 'अत्यादयः' इति समासे तु अबहुव्रीहित्वात्—'अत्यूधाः' इत्येव स्यात्।

भेषजी ( ई. ६८ )—भिषज इयमित्यर्थेऽणि आदिवृद्धिं प्रबाध्य 'केवल' इति सूत्रे 'भेषज' इत्युपादानादेव निपातनादेकारादेशे 'केवलमामक–' इति ङीपि यस्येति चेत्यलोपे स्वादिकार्ये। 'भेषजी' इति। संज्ञाछन्दसोरिति नियमादन्यत्र 'भेषजा' इति।

---

त्रिचतु—त्रि एवं चतुर् शब्द से पर ( वयस्-वाचक ) हायन के नकार को णकार होता है।

नित्यं—संज्ञा तथा वेद में उपधालोपी स्त्रीवाचक अन्नन्त बहुव्रीहि से नित्य ही ङीष् होता है।

केवल—संज्ञा तथा वेद में स्त्रीवाचक—केवल, मामक, भागधेय, पाप, अपर, समान, आर्य, कृत, सुमङ्गल तथा भेषज शब्दों से ङीष् होता है।

अन्तर्व—अन्तर्वत् और पतिवत् शब्द को स्त्रीलिंग में नुक् का आगम होता है।

गर्भिण्यां जीवद्भर्तृकायां च प्रकृतिभागौ निपात्येते। तत्र अन्तः अस्त्यस्यां गर्भः इति विग्रहे अन्तरशब्दस्याधिकरणशक्तिप्रधानतयाऽस्तिसामानाधिकरण्याभावादप्राप्तो मतुब्निपात्यते। 'पतिवत्नी' इत्यत्र तु वत्वं निपात्यते। अन्तर्वत्नी। पतिवत्नी। प्रत्युदाहरणं तु अन्तरस्त्यस्यां शालायां घटः। पतिमती पृथिवी।
४९१। पत्युर्नो यज्ञसंयोगे ४।१।३३। पतिशब्दस्य नकारादेशः स्याद्यज्ञेन सम्बन्धे। वसिष्ठस्य पत्नी तत्कर्तृकस्य यज्ञस्य फलभोक्त्रीत्यर्थः, दम्पत्योः सहाधिकारात्। ४९२। विभाषा सपूर्वस्य ४।१।३४। पतिशब्दान्तस्य सपूर्वस्य प्रातिपदिकस्य नो वा स्यात्। गृहस्य पतिः गृहपतिः—गृहपत्नी। 'अनुपसर्जनस्य' इतीहोत्तरार्थमनुवृत्तमपि न पत्युर्विशेषणं, किं तु तदन्तस्य। तेन बहुव्रीहावपि,

---

मामक इति (ई. ६६)—मामकशब्दस्य स्त्रीलिङ्गे टापि विभक्तिकार्ये 'मामका' इत्येव भवति। तथा हि—ममेयमित्यर्थे 'तस्येदम्' इत्यणि 'तवकममके'ति ममकादेशे आदिवृद्धौ अणन्तत्वात् 'टिड्ढाणञ्—' इति ङीपि सिद्धे 'केवलमामक—' इति सूत्रे मामकग्रहणं व्यर्थं सत् नियमयति—'अणन्तान्मामकशब्दाद्यदि ङीप् स्यात्तर्हि संज्ञाछन्दसोरेवे'ति तेन लोकेऽसंज्ञायां च 'मामके'ति।

अन्तर्वत्नी (ई. ६३) अन्तर्वत्—शब्दस्य स्त्रियाम् 'अन्तर्वत्नी' इति। तथाहि—अन्तरस्त्यस्यां गर्भं इति विग्रहे अन्तःशब्दस्याधिकरणशक्तिप्रधानतया अस्ति सामानाधिकरण्याभावात् 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इति निपातनात् मतुपि 'अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक्' इति नुकि 'मादुपधायाश्च' इति मस्य वत्वे 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीपि विभक्तिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम्।

---

पत्युर्नो—यज्ञ के सम्बन्ध अर्थ में स्त्रीवाचक पति शब्द के इकार को नकारादेश हो जाता है।

विभाषा—यदि पति शब्द समास का अन्तिम अवयवरूप होकर स्त्रीत्व का वाचक हो तो ऐसे पति शब्दान्त प्रातिपदिक के इकार को नकारादेश होता है, विकल्प से।

नोट—नकारादेश पक्ष में नान्त होने से ऋन्नेभ्यो ङीप् (सू. ३०६) से ङीप् होकर—गृहस्य पतिः=गृहपत्नी और नकाराभाव में 'गृहपतिः' होता है। एवं—सभापत्नी—सभापतिः। राष्ट्रपत्नी—राष्ट्रपतिः, इत्यादि वैकल्पिक रूप होते हैं। (इस प्रकार लोक में स्त्री भी—राष्ट्रपति, सभापति कही जा सकती है)।

दृढपत्नी-दृढपतिः। वृषलपत्नी-वृषलपतिः। अथ 'वृषलस्य पत्नी' इति व्यस्ते कथमिति चेद् ? पत्नीव पत्नीत्युपचारात्। यद्वा, आचारक्विबन्तात् कर्तरि क्विप्। अस्मिंश्च पक्षे 'पत्नियौ' 'पत्नियः' इतीयङ्विषये विशेषः। 'सपूर्वस्य किम् ? गवां पतिः स्त्री। ४९३। नित्यं सपत्न्यादिषु ४।१।३५। पूर्वविकल्पापवादः। समानस्य सभावोऽपि निपात्यते। समानः पतिर्यस्याः सा सपत्नी। एकपत्नी। वीरपत्नी। ४९४। पूतक्रतोरै च ४।१।३६। 'इयं त्रिसूत्री पुंयोग एवेष्यते' पूतक्रतोः स्त्री पूतक्रतायी। 'यया तु क्रतवः पूताः स्यात् पूतक्रतुरेव सा'

---

दृढपत्नी ( ई. ६८ )—'विभाषा सपूर्वस्य' इति सूत्रे उत्तरत्रानुवृत्तयेऽनुवृत्तस्य 'अनुपसर्जनात्' इत्यस्य श्रुतत्वेन सपूर्वस्य पत्यन्तस्येति विशेषणात् दृढा पतिर्यस्येति बहुव्रीहावपि नुकि 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीति अलोपे विभक्त्यादिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम्।

वृषलपत्नी ( ई. ६६ )—वृषलस्य पतिः स्त्री इति विग्रहः। वृषलस्य यज्ञे अधिकाराभावेन 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इत्यस्याप्रवृत्तौ 'विभाषा सपूर्वस्य' इत्यनेनात्र नुकि 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीपि 'यस्येति चे'ति अलोपे विभक्तिकार्ये 'वृषलपत्नी' इति। पक्षे 'वृषलपतिः' इति। ( एवम् इयं स्त्री राष्ट्रपतिः, राष्ट्रपत्नी वा, इत्यपि भवति )।

वृषलस्य पत्नीति व्यस्ते—अयम्भावः वृषलस्य यज्ञेऽधिकाराभावेन 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इति सूत्राप्रवृत्तिः। समासाभावेन विद्यमानपूर्वत्वात् 'विभाषा सपूर्वस्य' इत्यस्यात्र प्रवृत्तिरिति न शङ्कनीयम्, पत्नीव पत्नीति समाधानात्। यथा पाणिगृहीती भार्यायां यज्ञाधिकारस्तथैव लक्षणया अस्या अपि यज्ञाधिकारः कल्पनीय इति 'पत्युर्नो यज्ञ' इति सूत्रेण सिद्धिः।

पूतक्रतायी ( ई. ७२ )—पूतः क्रतुः येन सः पूतक्रतुः, तस्य स्त्रीत्यर्थे 'पूतक्रतोरै च' इति ङीपि तकारादुकारस्यैकारे तस्य आयादेशे भत्वाद् अलोपे विभक्तिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम्।

---

नित्यं—समानादि ( समान, एक, वीर, भ्रातृ, पुत्र ) पूर्वपदक पत्यन्त प्रातिपदिक के इकार को नित्य ही नकारादेश होता है। ('समानः पतिः यस्याः' इस विग्रह में समान को सभाव भी निपातनात् हो जाता है )।

पूत—स्त्रीत्वविवक्षा में पूतक्रतु शब्द से ङीप् एवं अन्त में ऐकारादेश भी हो जाता है।

४९५। वृषाकप्यग्नि-कुसित-कुसिदानामुदात्तः ४।१।२७। एषामुदात्त ऐ आदेशः स्यान्ङीप् च। वृषाकपेः स्त्री वृषाकपायी। 'हरविष्णू वृषाकपी' इत्यमरः। 'वृषाकपायी श्रीगौर्योः' इति च। अग्नायी। कुसितायी। कुसिदायी। कुसिदशब्दो ह्रस्वमध्यो न तु दीर्घमध्यः। ४९६। मनो रौ वा ४।१।३८। मनुशब्दस्यौकारादेशः स्यादुदात्तैकारश्च वा, ताभ्यां सन्नियोगशिष्टो ङीप् च। मनोः स्त्री मनावी—मनायी—मनुः। ४९७। वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः ४।१।३९। वर्णवाची योऽनुदात्तान्तस्तोपधस्तदन्तादनुपसर्जनात् प्रातिपदिकाद्वा ङीप् स्यात्, तकारस्य नकारादेशश्च। एनी—एता। रोहिणी—रोहिता। 'वर्णानां तणतिनितान्तानाम्' ( फि ३३ ) इति फिट्सूत्रेणाद्युदात्तः 'त्र्येण्या च शलल्या' इति गृह्यसूत्रम्। त्रीणि एतानि अस्या इति बहुव्रीहिः।

---

अग्नायी ( ई. ७० )—अग्निशब्दात् 'वृषाकप्यग्निकुसितकुसिदानामुदात्तः' इति उदात्तैयादेशे ङीपि च कृते आयादेशे भत्वात् अलोपे विभक्तिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम्।

रोहिणी ( ई. ६३, ६५ )—रक्तवर्णपर्यायात् रोहितशब्दात् 'वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः' इति ङीपि तकारस्य नत्वे च कृते णत्वे 'यस्येति च' इत्यलोपे प्रातिपदिकात् सौ सुलोपे उक्तं रूपं सिद्धम्।

त्र्येण्या च शलल्या ( ई. ७३ )—अयम्भावः—'वर्णादनुदात्तात्—' इति सूत्रे 'अनुपसर्जनात्' इत्यस्य गृह्यमाण ( श्रुतवर्ण ) विशेषणत्वमेव युक्तम्, तनु तदन्तविधिलभ्यवर्णान्तविशेषणत्वमिति चेन्न, 'त्र्येण्या च शलल्या' इति गृह्यसूत्रस्याऽसङ्गत्यापत्तेः, तथा हि—अनुपसर्जनादित्यस्य गृह्यमाणविशेषणत्वे सति त्रीणि एतानि अस्याः इति बहुव्रीहिनिष्पन्न 'त्र्येत' शब्दघटक 'एत' शब्दस्य वर्णवाचिनः उपसर्जनत्वात् ङीप् नत्वे न स्याताम्। वर्णान्तविशेषणत्वे तु त्र्येतशब्दस्य अनुपसर्जनत्वान्न दोषः। इति।

---

वृषा—वृषाकपि, अग्नि, कुसित और कुसिद शब्दों से स्त्रीलिंग में ङीष् प्रत्यय तथा अन्त में उदात्त ऐकारादेश भी होता है।

मनो—'मनु' शब्द के अन्त्य 'अल्' को औकार आदेश तथा उदात्त धर्मविशिष्ट ऐकारादेश भी होता है एवं जहां जहां औकार और ऐकार आदेश होते हैं वहाँ-वहाँ तत्सन्नियोग शिष्ट ( साथ ही साथ ) ङीप् प्रत्यय भी होता है।

'अनुदात्तात्' किम् ? श्वेता । 'घृतादीनां च' ( फि २१ ) इत्यन्तोदात्तोऽयम् । अत इत्येव । शितीः स्त्री । १५ पिशङ्गाद ( वा ) उपसंख्यानम्* । पिशङ्गी-पिशङ्गा । ९६ असितपलितयोर्न* । असिता । पलिता । ९७ छन्दसि क्नमेके* । असिक्नी । पलिक्नी । अवदातशब्दस्तु न वर्णवाची, किं तु विशुद्धवाची । तेन 'अवदाता' इत्येव । ४९८ । अन्यतो ङीष् ४।१।४० । तोपधभिन्नाद्वर्ण-वाचिनोऽनुदात्तान्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् स्यात् । कल्माषी । सारङ्गी । 'लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः' ( फि ४२ ) इति मध्योदात्तावेतौ । 'अनु-दात्तान्तात्' किम् ? कृष्णा । कपिला । ४९९ । षिद्गौरादिभ्यश्च ४।१।४१। षिद्भ्यो गौरादिभ्यश्च ङीष् स्यात् । नर्तकी गौरी । ९८ आमनडुहः स्त्रियां वा* । अनडुही-अनड्वाही । 'पिप्पल्यादयश्च' (ग) आकृतिगणोऽयम् । ५०० ।

---

अनड्वाही ( ई. ७० )—अनडुह्शब्दस्य गौरादिगणे पाठात् 'षिद्गौरा-दिभ्यश्च' इति ङीषि 'सावनडुहः स्त्रियां वा' इति वार्तिकेन आमि, यणादेशे विभक्त्यादिकार्ये 'अनड्वाही' इति । आमभावे 'अनडुही' इति ( अनडुहः—वृषभस्तस्य स्त्री, अनो वहतीति यौगिको वा अनड्वाही—अनडुहीति ) ।

---

पिश—स्त्रीवाचक पिशङ्ग शब्द से विकल्प से ङीप् प्रत्यय होता है ।

असित—स्त्रीवाचक असित एवं पलित शब्दों से ङीप् तथा तकार को नकारादेश भी नहीं होता है ।

छन्दसि – कुछ आचार्य वेद में असित, पलित शब्दों से उपर्युक्त ङीप् तथा इन शब्दों के तकार के स्थान में क्नम् आदेश मानते हैं ।

अन्यतो—तोपध से भिन्न वर्णवाची अनुदात्तान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिंग में ङीप् प्रत्यय होता है ।

षिद्—षित् ( षकारेत्संज्ञक ) प्रातिपदिक से तथा गौरादिगण पठित शब्दों से स्त्रीत्वविवक्षा में ङीष् होता है ।

( षित् = नर्तक, रजक, लुण्टाक, ( लूटने वाला ), कुट्टाक (काटने वाला) । गौरादि = गौर, पिप्पल, मृग, हरिण, मातामह, पितामह, मत्स्य, मनुष, सुन्दर, अनडुह, पाण्डुर इत्यादि—आकृति गण हैं ) ।

आम्—गौरादि गणपठित अनडुह शब्द से स्त्रीलिंग में ङीष् प्रत्यय होता है और साथ ही विकल्प से आम् का आगम भी हो जाता है ।

सूर्य-तिष्या-ऽगस्त्य-मत्स्यानां य उपधायाः ६।४।१४९। अङ्गस्योपधाया यस्य लोपः स्यात् स चेद्यः सूर्याद्यवयवः। ९९ मत्स्यस्य ङ्याम्*। १०० सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां च*। १०१ तिष्य-पुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम्*। मत्सी। 'मातरि षिच्च' (वा ३२८) इति षित्वादेव सिद्धे गौरादिषु मातामहीशब्दपाठादनित्यः षितां ङीष्, दंष्ट्रा।

५०१। जानपद-कुण्ड-गोण-स्थल-भाज-नाग-काल-नील-कुश-कामुक-कबराद् वृत्त्यमत्राऽऽवपनाऽकृत्रिमा-श्राणा-स्थौल्य-वर्णाऽनाच्छादनाऽयोविकारमैथुनेच्छा-केशवेशेषु ४।१।४२। एभ्य एकादशभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः क्रमाद् वृत्त्यादिष्वर्थेषु ङीष् स्यात्। जानपदी वृत्तिश्चेत्। अन्या तु जानपदी। उत्सा-

---

जानपदी (ई. ६९)—जनपदे भवः जानपदः। तस्मात् 'जानपद–' इति सूत्रेण ङीपि भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये 'जानपदी' इति। जानपदी, वृत्तिश्चेत्= जीविका गम्या चेदित्यर्थः। ननु उत्सादित्वादञन्तत्वेन 'टिड्ढाणञ्—' इति ङीपि सत्यपि 'जानपदी'ति सिद्धौ ङीष्विधानं किमर्थमिति चेन्न, ङीप्याद्युदात्तत्वम्, ङीषि तु प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वमित्युभयोर्भेदात्।

---

सूर्य—सूर्य, तिष्य, अगस्त्य और मत्स्य सम्बन्धी उपधाभूत यकार का लोप होता है, वह यकार यदि सूर्यादि शब्द का अवयव हो।

मत्स्य—मत्स्य शब्द के यकार का लोप होता है, ङी प्रत्यय के परे।

सूर्यागस्त्य—सूर्य एवं अगस्त्य शब्दों के यकार का लोप होता है, 'ङी' और 'छ' प्रत्यय के परे।

तिष्य—तिष्य और पुष्य के यकार का लोप होता है नक्षत्र सम्बन्धी अण् प्रत्यय के परे।

जान-पद—जानपद, कुण्ड, गोण, स्थल, भाज, नाग, काल, नील, कुश, कामुक तथा कबर—इन ग्यारह प्रातिपदिकों से क्रमशः—वृत्ति, अमत्र, आवपन, अकृत्रिम, श्राणा, स्थौल्य, वर्ण, अनाच्छादन, अयोविकार, मैथुनेच्छा तथा केशवेश अर्थों में ङीष् प्रत्यय होता है।

जानपदी—प्र० ङीषन्त 'जानपदी' शब्द अन्तोदात्त है और द्वि० ङीबन्त 'जानपदी' शब्द आद्युदात्त है। अर्थ दोनों का एक ही है—कभी बन्द नहीं होने वाली जीविका।

दित्वादङन्तत्वेन 'टिड्ढा'-( सू ४७१ ) इति ङीप्याद्युदात्तः। कुण्डी अमत्रं चेत्। कुण्डा अन्या। 'कुडि दाहे' 'गुरोश्च हलः' ( सू ३२८० ) इत्यप्रत्ययः। यस्तु 'अमृते जारजः कुण्डः' इति मनुष्यजातिवचनस्ततो जातिलक्षणो ङीष् भवत्येव। अमत्रे हि स्त्रीविषयत्वादप्राप्तो ङीष् विधीयते न तु नियम्यते। गोणी आवपनं चेत्। गोणा अन्या। स्थली अकृत्रिमा चेत्। स्थला अन्या। भाजी श्राणा चेत्। भाजा अन्या। नागी स्थूला चेत्। नागा अन्या। गजवाची नागशब्दः स्थौल्य-गुणयोगादन्यत्र प्रयुक्त उदाहरणम्। सर्पवाची तु दैर्घ्यगुणयोगादन्यत्र प्रयुक्तः प्रत्यु-दाहरणम्। काली वर्णश्चेत्। काला अन्या। नीली अनाच्छादनं चेत्। नीला अन्या। नील्या रक्ता शाटीत्यर्थः। 'नील्या अन्वक्तव्यः' ( वा ३१७ ) इत्यन्। अनाच्छादनेऽपि न सर्वत्र, किन्तु। १०२ नीलादोषधौ*। नीली। १०३ प्राणिनि च*। नीली गौः। १०४ संज्ञायां वा*। नीली-नीला। कुशी अयोविकारश्चेद्। कुशा अन्या। कामुकी मैथुनेच्छा चेत्। कामुका अन्या। कबरी केशानां सन्निवेशश्चेत्। कबरा अन्या चित्रेत्यर्थः। ५०२। शोणात् प्रा-

---

कुण्डी अमत्रं चेत् ( ई. ७१ )—ननु जानपदेति सूत्रे अमत्रग्रहणेन कुण्ड-शब्दादमत्रे एव ङीष् नान्यत्रेति नियमेन, 'अमृते जारजः कुण्डः' इति कुण्डशब्दा-ज्जातिलक्षणो ङीष् कथमिति चेन्न, अमत्रेऽनुगतसंस्थानव्यंग्यरूपजातित्वाभावेना-प्राप्तौ नियमत्वासम्भवात्। स्त्रीविषयत्वादिति मूलस्य जातित्वाभावादित्यर्थं इति दिक्।

गोणी ( ई. ७४ )—ओप्यते निःक्षिप्यते अस्मिन्नित्यर्थे आङ्पूर्वकात् वपेर्ल्युट् 'आवपनम्' इति। तस्मिन्नर्थे गोणशब्दात् 'जानपदे'ति ङीषि भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये 'गोणी' इति।

नागी स्थूला चेत् ( ई. ७३ )—ननु नागशब्दस्य जातिवाचकत्वेन जातेरिति ङीषिसिद्धे जानपदेति सूत्रे नागग्रहणं व्यर्थमिति चेन्न, इयं स्त्री नागी ( हस्तिनी ) स्थौल्यगुणयोगादित्यत्र नागशब्दस्यैकव्यक्तिवृत्तित्वेन जातिवाचकत्वाभावेना-सिद्धेः। न चात्र स्थूलग्रहणं व्यर्थमिति वाच्यम्, इयं स्त्री नागा सर्पिणी दैर्घ्य-गुणयोगादित्यत्र दोषापत्तेः।

नीलादोषधौ ( ई. ७३ )—'जानपद' इति सूत्रेण अनाच्छादने नीलशब्दस्य

---

शोणात्—शोण शब्द से स्त्रीलिंग में ङीष् होता है, प्राचीन आचार्यों के मत में।

चाम् ४।१।४३। शोणी-शोणा । ५०३ । वोतो गुणवचनात् ४।१।४४। उदन्ताद् गुणवाचिनो वा ङीष् स्यात् । मृद्वी—मृदुः । 'उतः' किम् ? शुचिः । 'गुणः' इति किम् ? आखुः । १०५ खरुसंयोगोपधान्न* खरुः पतिंवरा कन्या । पाण्डुः । ४०४ । बह्वादिभ्यश्च ४।१।४५। एभ्यो वा ङीष् स्यात् । बह्वी—बहुः । 'कृदिकारादक्तिनः' ( ग ) । रात्रिः—रात्री । 'सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके' (ग) । शकटिः—शकटी । 'अक्तिन्नर्थात्' किम् ? अजननिः । क्तिन्नन्तत्वादप्राप्ते विध्यर्थं पद्धतिशब्दो गणे पठ्यते । 'हिमकाषिहतिषु च' ( सू ९९४ ) इति

---

ङीष्विधाने नीला कुण्डी इत्यत्रापि ङीष् स्यादित्यत आह—'नीलादौषधौ' 'प्राणिनि च' नीलादनाच्छादनेऽपि भवन् ङीष् ओषधौ प्राणिनि चैव स्यात् न त्वन्यत्रेति वार्त्तिकार्थः । एवञ्च तत्रैव 'संज्ञायां वा' इत्यपि वार्तिकम् । संज्ञायामुक्तविषये तदन्यत्रापि ङीष् वा स्यादित्यर्थः । एवञ्च 'नीली-नीला' इति द्वयमपि साधु ।

उतः किं शुचिः ( ई. ७२ )—अयम्भावः—'वोतो गुणवचनात्' इति सूत्रे उत इति पदाभावेऽपि अत इत्यस्य सम्बन्धेनाकारान्तादेव ङीष् इति शुचिशब्देऽकारान्तत्वाभावेन ङीष् न स्यादिति न शङ्कनीयम् । 'खरुसंयोगोपधान्न' इति वार्तिकवैयर्थ्यात् ।

रात्रिः ( ई. ७१ )—औणादिकत्रिप्रत्ययान्तात् रात्रिशब्दात् 'कृदिकारादक्तिनः' इति बह्वाद्यन्तर्गणसूत्रात् विभाषया ङीषि भत्वादिकारलोपे विभक्तिकार्ये 'रात्री' इति । पक्षे 'रात्रिः' इति भवति ।

---

वोतो—उकारान्त गुणवाचक प्रातिपदिक से स्त्रीलिंग में ङीष् होता है ।

खरु—पति-प्राप्ति की इच्छा करने वाली ( कन्या ) अर्थवाचक खरु एवं संयोगोपध शब्द से स्त्रीलिंग में ङीष् नहीं होता है ।

बह्वा—बहु आदि प्रातिपदिकों से स्त्रीलिंग में विकल्प से ङीष् होता है ।

नोट—बह्वादि-बहु, पद्धति, अञ्चति, अङ्कति, अंहति, शकटि, शक्ति, शारि, वारि, राति, राधि—इत्यादि, आकृति गण है ।

कृदि—क्तिन् प्रत्यय से भिन्न इकारान्त शब्दों से स्त्रीलिंग में विकल्प से ङीष् होता है ।

सर्वतो—किन्हीं आचार्यों के मत में—अक्तिन्नर्थक इकारान्त शब्दों से स्त्रीलिंग में ङीष् विकल्प से होता है ।

पद्भावः। पद्धतिः-पद्धती। ५०५। पुंयोगादाख्यायाम् ४।१।४८। या पुमाख्या पुंयोगात् स्त्रियां वर्तते ततो ङीष् स्यात्। गोपस्य स्त्री गोपी। १०५ पालकान्तान्न*। गोपालिका। अश्वपालिका। १०७ सूर्याद् देवतायां चाप् वाच्यः*। सूर्यस्य स्त्री देवता सूर्या। 'देवतायाम्' किम्? सूरी = कुन्ती, मानुषीयम्।

---

पद्धतिः ( ई. ७१ )—पादाभ्यां हतिः इति विग्रहे तृतीयासमासे सति 'हलकाषिहतिषु च' इति पादशब्दस्य पदादेशे पूर्वसवर्णे च कृते पद्धतिशब्दो निष्पन्नः। तस्मात् क्तिन्नन्तात् 'सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके' इति ङीषि अप्राप्तौ बह्वादिगणे पद्धतिशब्दो पठ्यते, तेनात्र 'बह्वादिभ्यश्च' इति ङीषि भत्वादिलोपे विभक्तिकार्ये 'पद्धती' इति। पक्षे 'पद्धतिः' इति भवति।

पुंयोगादिति ( ई. ६८ )—इह पुमिति लुप्तषष्ठीकं पृथक् पदं, तच्चावर्तते। पुंयोगादिति हेतौ पञ्चमी; आख्यायामिति तु पञ्चम्यर्थे सप्तमी तथा च—या पुमाख्या ( पुंवाचकः शब्दः ) पुंयोगात् स्त्रियां वर्तते ततो ङीष् स्यादित्यर्थः।

गोपालिका ( ई. ६९ )—गाः पालयतीति गोपालः' गोपाल एव गोपालकः, तस्य स्त्री गोपालिका। अत्र 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति ङीष्प्राप्ते 'पालकान्तान्न' इति निषेधे टापि 'प्रत्ययस्थात्–' इति इत्वे भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम्।

सुरी ( ई. ६८ )—सूर्यशब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायां 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति गौरादित्वात् ङीषि 'सूर्यतिष्यागस्त्यानां य उपधायाः' इति यकारस्य 'यस्येति च' इति अकारस्य च लोपे विभक्त्यादिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम्। इयं सूरी–कुन्ती, मानुषी न तु देवता। तेन 'सूर्याद्देवतायामि'ति 'चाप्' न।

---

पुंयोगा—जो पुंवाचक शब्द पुंयोग ( दाम्पत्य रूप या जन्य-जनकभाव रूप ) से स्त्रीलिंग में वर्तमान हो, उससे ङीष् होता है।

उदाहरण—( १ ) गोपी। सूर्यस्य स्त्री = सूरी ( कुन्ती = 'सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां च' वा. )। अगस्तस्य स्त्री = अगस्ती। गणकस्य स्त्री = गणकी।

( २ ) केकयस्य कन्या = केकयी। देवकस्य कन्या = देवकी। पुत्रस्य कन्या = पौत्री। जनकस्य कन्या = जानकी। इत्यादि।

पाल—पुंवाचक शब्द के अन्त में यदि 'पालक' शब्द हो तो ङीष् नहीं होता है।

सूर्याद्—देवता अर्थ में सूर्य शब्द से स्त्रीलिंग में चाप् प्रत्यय होता है।

५०६ । इन्द्र-वरुण-भव-शर्व-रुद्र-मृड-हिमारण्य-यव-यवन-मातुलाऽऽचार्याणामानुक् ४।१।४९। एषामानुगागमः स्यान्ङीष् च । इन्द्रादीनां षण्णां मातुलाचार्ययोश्च पुंयोग एवेष्यते । तत्र ङीषि सिद्धे आनुगागममात्रं विधीयते । इतरेषां चतुर्णामुभयम् । इन्द्राणी । १०८ हिमाऽरण्ययोर्महत्त्वे* । महद्धिमं हिमानी । महदरण्यम् अरण्यानी । १०९ यवाद्दोषे* । दुष्टो यवो यवानी । ११० यवनाल्लिप्याम्* । यवनानां लिपिर्यवनानी । १११ मातुलोपाध्याययोरानुग्वा* । मातुलानी–मातुली । उपाध्यायानी–उपाध्यायी । ११२ या तु स्वयमेवाऽध्यापिका तत्र वा ङीष् वाच्यः* । उपाध्यायी–उपाध्याया । ११३ आचार्यादणत्वं च* । आचार्यस्य स्त्री आचार्यानी । पुंयोग इत्येव । आचार्या, स्वयं व्याख्यात्री । ११४ अर्य-क्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे* । अर्याणी—अर्या । स्वामिनी वैश्या वेत्यर्थः । क्षत्रियाणी—

---

उपाध्याया ( ई. ६६ )—अत्र 'या तु स्वयमेवाध्यापिका तत्र वा ङीष् वाच्यः' इपि ङीषि भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये 'उपाध्यायी' इति । पक्षे टापि 'उपाध्याया' इति च भवति । 'उपाध्यायस्य स्त्री' इति विग्रहे तु पुंयोगे ङीषि, आनुकि च सति 'उपाध्यायानी-उपाध्यायी' इति भवति ।

अर्याणी ( ई. ६८ )—अर्यशब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायाम् 'अर्यक्षत्रियाभ्यां

---

इन्द्र—इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, हिम, अरण्य, यव, यवन, मातुल तथा आचार्य शब्दों से पुंयोग में आनुक् तथा उसी के साथ ङीष् भी होता है ।

हिमा—हिम तथा अरण्य शब्दों से महत्त्व अर्थ में ही ङीष् तथा आनुक् होता है ।

यवाद्—यव शब्द से दोष ( अंकुरोत्पादक शक्तिहीन ) अर्थ में ही ङीष् तथा आनुक् का आगम होता है ।

यवना—यवन शब्द से लिपि अर्थ में ही ङीष् तथा आनुक् का आगम होता है ।

मातुलो—मातुल एवं उपाध्याय शब्दों से केवल आनुक् विकल्प से होता है ।

आचार्या—आचार्य शब्द से ङीष् एवं आनुकागम के साथ साथ णत्व का प्रतिषेध भी समझना चाहिए ।

अर्य—अर्य तथा क्षत्रिय शब्दों से स्वार्थ ( प्रकृत्यर्थ ) में विकल्प से ङीष् एवं आनुक् का आगम होता है ।

क्षत्त्रिया । पुंयोगे तु—अर्यी । क्षत्त्रियी । कथं 'ब्रह्माणी' इति ? ब्रह्माणमानयति जीवयतीति 'कर्मण्यण्' ( सू २९१३ )। ५०७ क्रीतात् करणपूर्वात् ४।१।५०। क्रीतान्ताददन्तात् करणादेः स्त्रियां ङीष् स्यात् । वस्त्रक्रीती । क्वचिन्न—धनक्रीता । ५०८। क्तादल्पाख्यायाम् ४।१।५१। करणादेः क्तान्ताददन्तात् स्त्रियां ङीष् स्यादल्पत्वे द्योत्ये । अभ्रलिप्ती द्यौः । ५०९ । बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात् ४।१।५२। बहुव्रीहेः क्तान्तादन्तोदात्താददन्तात् स्त्रियां

---

वा स्वार्थे' इति ङीषि आनुकि च कृते भत्वादलोपे णत्वे विभक्तिकार्ये 'अर्याणी' इति । पक्षे टापि 'अर्या' इति । स्वामिनी वैश्या वेत्यर्थः । पुंयोगे तु अर्यस्य स्त्री-'अर्यी' इति भवति ।

ब्रह्माणी ( ई. ६४ )—ब्रह्माणम् आनयति = जीवयति इति विग्रहे ण्यन्तात् 'आनि' धातोः 'कर्मण्यण्' इत्यणि 'णेरनिटि' इति णिलोपे 'आन' शब्देन ब्रह्माणमित्यस्य उपपदसमासे सुब्लुकि नलोपे सवर्णदीर्घे 'ब्रह्मान' शब्दात् 'टिड्ढाणञ्—' इति ङीपि 'यस्येति च' इत्यकारलोपे 'पूर्वपदात् संज्ञायाम्' इति णत्वे विभक्तिकार्ये ब्रह्माणी इति । 'इन्द्रवरुण—' इति सूत्रे 'ब्रह्मन्' शब्दस्याग्रहणात् ब्रह्मणः स्त्री इत्यर्थे ब्रह्माणी' कथमिति प्रश्ने आह—कथं ब्रह्माणीति ।

वस्त्रक्रीती ( ई. ७२ )—अत्र 'क्रीतात् करणपूर्वात्' इति ङीषि भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये 'वस्त्रक्रीती' इति । ननु 'वस्त्रेण क्रीता' इति विग्रहे समासे सति अदन्तत्वाऽभावात् कथं ङीष् इति चेन्न, 'वस्त्र टा क्रीत' इति स्थिते 'गतिकारके'ति परिभाषया सुबुत्पत्तेः प्रागेव क्रीतशब्देन समासे सुब्लुकि वस्त्रक्रीतेति प्रातिपदिकस्य अदन्तत्वनिषेधादिति भाष्ये स्पष्टम् ।

धनक्रीता (ई. ७०)—ननु 'वस्त्रक्रीती' इतिवदत्रापि ङीष् कुतो नेति चेन्न, 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति सूत्रे बहुलग्रहणेन 'गतिकारकेति' परिभाषया अनित्यत्वज्ञापनात् सुबन्तेन समासात् पूर्वमेव धनेन क्रीतमित्यर्थे टापि ततः सुपि समासेऽदन्तत्वाऽभावात् 'क्रीतात्करणपूर्वात्' इत्यस्याप्राप्तेः ।

---

क्रीतात्—करण कारक पूर्वक क्रीतशब्दान्त प्रातिपदिक से ङीष् होता है।

क्तादल्पा—करण कारक पूर्वक क्तान्त प्रातिपदिक से ङीष् होता है ।

बहुव्रीहेः—अन्तोदात्त क्तान्त बहुव्रीहि से स्त्रीत्वविवक्षा में ङीष् प्रत्यय होता है ।

ङीष् स्यात् । ११५ जातिपूर्वादिति वक्तव्यम्* । तेन बहुनञ्सुकालसुखादिपूर्वान्न । ऊरुभिन्नी । नेह—बहुक्रीता । ११६ जातान्तान्न* । दन्तजाता । ११७ पाणिगृहीती भार्यायाम्* । पाणिगृहीता अन्या ।

५१० । अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा ४।१।५३। पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् । सुरापीती-सुरापीता । 'अन्तोदात्तात्' किम् ? वस्त्रच्छन्ना । 'अनाच्छादनात्' इत्युदात्तनिषेधः । अत एव पूर्वेणापि न ङीष् । ५११ । स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् ४।१।५४। असंयोगोपधमुपसर्जनं यत्स्वाङ्गं तदन्ताददन्तात् प्रातिपदिकाद्वा ङीष् । केशानतिक्रान्ता अतिकेशी-अतिकेशा । चन्द्रमुखी—चन्द्रमुखा । संयोगोपधात्तु—सुगुल्फा । 'उपसर्जनात्' किम् ? शिखा । स्वाङ्गं त्रिधा—(१) 'अद्रवं मूर्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्' । सुस्वेदा, द्रवत्वात् ।

---

ऊरुभिन्नी (ई. ६४, ६८)—भिन्नौ असंयुक्तौ उरू यस्याः सेति विग्रहः । अत्र 'बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात्' इति ङीषि भत्वादकारलोपे विभक्तिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम् ।

स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात् (ई. ६४, ६६, ७०)–अत्र सूत्रे 'स्वाङ्गपदेन स्वस्य= अवयवीभूतस्य, अङ्गं स्वाङ्गम्' इति कथने 'सुमुखा शाला' इत्यत्राऽपि ङीष् स्यात्–मुखस्य शालाङ्गत्वात् । किञ्च 'सुकेशी रथ्या' इत्यत्र ङीष् न स्यात्–केशानां प्राण्यङ्गत्वाऽभावात् । तस्मात् भाष्योक्तं 'अद्रवमि'ति त्रिविधं स्वाङ्गं गृह्यते ।

(१) 'अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्' = न विद्यते द्रवो यस्य तद् अद्रवम्, अतः सु=शोभनः, स्वेदः = धर्मजः—उदक्प्रस्रवो यस्याः सा

---

जाति—किन्तु पूर्व सूत्र में "जातिपूर्वक अन्तोदात्त क्तान्त बहुव्रीहि से ङीष् हो" ऐसा कहना चाहिये ।

जाता—'जात' शब्दान्त बहुव्रीहि से ङीष् नहीं होता है ।

पाणि—भार्या (विवाहिता) अर्थ में ही पाणिगृहीत शब्द से ङीष् होता है ।

अस्वांग—स्वांग से भिन्न पूर्वपदक अन्तोदात्त क्तान्त बहुव्रीहि से स्त्रीत्वविवक्षा में विकल्प से ङीष् होता है ।

स्वाङ्गा—स्वाङ्ग जो असंयोगोपध उपसर्जन, तदन्त जो प्रातिपदिक उससे स्त्रीत्वविवक्षा में विकल्प से ङीष् होता है ।

अद्रवं—'स्वाङ्गात्' सूत्र में त्रिविध स्वांगों का ग्रहण हुआ है—

**(१) अद्रवं मूर्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम् ।**

सुज्ञाना, अमूर्तत्वात् । सुमुखा शाला, अप्राणिस्थत्वात् । सुशोफा विकारजत्वात् । ( २ ) अतत्स्थं तत्र दृष्टं च–सुकेशी सुकेशा वा रथ्या, अप्राणिस्थस्यापि प्राणिनि दृष्टत्वात् । (३) तेन चेत् तत् तथा युतम् ॥ सुस्तनी–सुस्तना वा प्रतिमा, प्राणिवत्प्राणिसदृशे स्थितत्वात् । ५१२ । नासिकोदरौष्ठ-जङ्घा-दन्त-कर्ण-शृङ्गाच्च

---

'सुस्वेदा' इत्यत्र ङीष् न । मूर्तिमत्=स्पर्शवद् द्रव्यपरिमाणं मूर्तिस्तद्वत् । अत एव 'सुज्ञाना' इत्यत्र ङीष् न । प्राणिस्थम् = प्राणिनि–प्राणवति जन्तौ विद्यमानम् । अतः 'सुमुखा शाला' इत्यत्र ङीष् न । अविकारजम् = रोगादिविकाराजन्यम् । अतः सु = अधिकः, शोफः = श्वयथुः, यस्याः सा 'सुशोफा' इत्यत्र ङीष् न ।

( २ ) अतत्स्थं तत्र दृष्टं च = अतत्स्थं = सम्प्रति अप्राणिस्थमपि, च = किन्तु, तत्र = प्राणिनि, दृष्टं = दृश्यमानं, यत्तदपि स्वाङ्गमित्यर्थः । अतः 'सुकेशी रथ्या' इत्यत्र ङीष् सिद्धः । रथ्यायां = वीथ्यां, विकीर्णः केशः सम्प्रति अप्राणिस्थत्वेऽपि कदाचित् प्राणिस्थत्वादिति भावः ।

( ३ ) तेन चेत्तत्तथायुतम् = येनाङ्गेन प्राणिरूपं वस्तु यथायुतं, तेन सत्सदृशेन अङ्गेन सद् = अप्राणिरूपं वस्तु, तथा प्राणिवत्, युतं = युक्तं चेत् = स्यात्, तदपि प्राणिनि दृष्टं स्वाङ्गमित्यर्थः । अत एव 'सुस्तनी प्रतिमा' इत्यत्र ङीष् सिद्धः ।

---

( २ ) अतस्थं तत्र दृष्टं च ( ३ ) तेन चेत्तथा युतम् ॥

( १ ) अद्रवं = जो द्रवबाची नहीं हो, अतः 'सुस्वेदा' में, मूर्तिमत् = जो मूर्तिमान हो, अतः 'सुज्ञाता' में, प्राणिस्थम् = जो प्राणी में स्थित हो, अतः 'सुमुखा' ( शाला ) में, अविकारजम् = जो विकार से उत्पन्न नहीं हो, अतः 'सुशोफा' में ङीष् नहीं हुआ ।

( २ ) अतस्थं तत्र इष्टं च= जो सम्प्रति प्राणी में स्थित न भी हो किन्तु कभी भी प्राणी में देखा गया हो, अतः 'सुकेशी' ( रथ्या = गली ) में ङीष् सिद्ध हुआ, क्योंकि गली में विखरे हुए केश सम्प्रति प्राणीस्थ नहीं भी है, किन्तु कभी तो वे प्राणिस्थ ( प्राणी के मस्तक पर ) देखे गये थे ।

( ३ ) तेन चेत्तत्तथायुतम् = प्राणी की तरह ही प्राणी में स्थित हो, अतः 'सुस्तनी' ( प्रतिमा ) यहाँ ङीष् सिद्ध हुआ ।

नासिको—बहुव्रीहि समास में—नासिका, उदर, ओष्ठ, जङ्घा, दन्त, कर्ण तथा शृङ्ग शब्दान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्वविवक्षा में ङीष् होता है, विकल्प से ।

४।१।५५। एभ्यो वा ङीष् स्यात् । आद्ययोर्बह्वज्लक्षणो निषेधो बाध्यते, पुरस्तादपवादन्यायात् । 'ओष्ठादीनां पञ्चानां तु 'असंयोगोपधात्' इति पर्युदासे प्राप्ते वचनं, मध्येऽपवादन्यायात् । सहनञ्लक्षणस्तु प्रतिषेधः परत्वादस्य बाधकः । तुङ्गनासिकी-तुङ्गनासिका, इत्यादि । नेह—सहनासिका । अनासिका । अत्र वृत्तिः-'अङ्ग-गात्र-कण्ठेभ्यो वक्तव्यम्' स्वङ्गी-स्वङ्गा । इत्यादि । एतच्चानुक्तसमुच्चयार्थेन चकारेण सङ्ग्राह्यमिति केचित् । 'भाष्याद्यनुक्तत्वादप्रमाणम्' इति प्रामाणिकाः । अत्र वार्तिकानि-११८ पुच्छाच्च* । सुपुच्छी-सुपुच्छा । ११९ कबर-मणि-विष-शरेभ्यो नित्यम्* । कबरं चित्रं पुच्छं यस्याः सा कबरपुच्छी मयूरी इत्यादि । १२० उपमानात् पक्षाच्च पुच्छाच्च* । नित्यमित्येव । उलूकपक्षी शाला । उलूकपुच्छी सेना ५१३ । न क्रोडादि-

---

तुङ्गनासिकी ( ई. ५०, ५६ )—अत्र 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद्' इति सूत्रेण प्राप्तङीषः 'न क्रोडादिबह्वचः' इति निषेधे प्राप्ते तं प्रबाध्य 'नासिकोदरौष्ठ' इति ङीष्विकल्पे 'तुङ्गनासिकी' अभावपक्षे 'तुङ्गनासिका इति च । नचैवं बह्वल्लक्षणस्य निरवकाशत्वापत्तिरिति चेन्न, सुजघनेत्यादौ सावकाशत्वात् । नन्वेवं 'सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च' इति निषेधस्य सकेशा, इत्यादौ सावकाशत्वेन 'सहनासिका' 'सहोदरा' इत्यादावप्यनेन ङीष्विकल्पः स्यादिति वाच्यम् । 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान्विधीन्बाधन्ते नोत्तरान्'इति न्यायेन 'न क्रोडादिबह्वचः' इत्यस्यैव बाधसम्भवात् । ( तुङ्गः = उन्नतः, एवञ्च उन्नता नासिका यस्याः इत्यर्थः ) ।

अङ्गगात्र—'अङ्गगात्र' इति 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात् ' इति सूत्रस्य वृत्तिः—इति काशिका ।

---

अङ्ग—बहुव्रीहि समास में वर्तमान अङ्ग, गात्र तथा कण्ठ शब्दान्त प्रातिपदिक से भी स्त्रीत्वविवक्षा में ङीष् विकल्प से होता है ऐसा कहना चाहिए ।

पुच्छा—पुच्छान्त प्रातिपदिक से भी स्त्रीत्वविवक्षा में विकल्प से ङीष् समझना चाहिए ।

कवर—बहुव्रीहि समास में—कवर, मणि, विष तथा शर शब्दपूर्वक पुच्छान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्वविवक्षा में नित्य ही ङीष् होता है । ( कवरपुच्छी ( मयूरी ) । मणिपुच्छी । विषपुच्छी ( वृश्चिकी = बिच्छू ) शरपुच्छी ।

उप—उपमान पूर्वपदक पक्ष तथा पुच्छ शब्दों से नित्य ही ङीष् होता है ।

न क्रो—क्रोडादि गणपठित शब्दान्त तथा बह्वजन्त प्रातिपदिकों से स्त्रीत्वविवक्षा में ( 'स्वाङ्गात्' सूत्र से प्राप्त ) ङीष् नहीं होता ( 'टाप्' हो जाता है ) ।

बह्वचः ४।१।५६। क्रोडादेर्बह्वचश्च स्वाङ्गान्न ङीष्। कल्याणक्रोडा। अश्वानामुरःक्रोडा। आकृतिगणोऽयम्। सुजघना। ५१४। सह-नञ्-विद्यमान-पूर्वाच्च ४।१।५७। सहेत्यादित्रिकपूर्वान्न ङीष्। सकेशा। अकेशा। विद्यमाननासिका। ५१५। नखमुखात् संज्ञायाम् ४।१।५८। ङीष् न स्यात्। शूर्पणखा। गौरमुखा। 'संज्ञायाम्' किम्? ताम्रमुखी कन्या। ५१६। दिक्पूर्वपदान् ङीप् ४।१।६०। दिक्पूर्वपदात् स्वाङ्गान्तात् प्रातिपदिकात् परस्य ङीषो ङीबादेशः स्यात्। प्राङ्मुखी। आद्युदात्तं पदम्। ५१७। वाहः ४।१।६१। वाहन्तात् प्रातिपदिकान्ङीष् स्यात्। ङीषे वानुवर्तते न ङीप्। 'दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे'। ५१८। सख्यशिश्वीति भाषायाम् ४।१।६२। इतिशब्दः प्रकारे 'भाषायाम्' इत्यस्या-

---

सुजघना (ई. ६६, ६९)—सु = शोभनं, जघनं यस्याः इति विग्रहे स्त्रीत्वविवक्षायां 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद्' इति प्राप्तं ङीषं 'न क्रोडादिबह्वचः' इति बह्वच्कत्वान्निषेधे अदन्तत्वाट्टापि विभक्त्यादिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम्।

शूर्पणखा (ई. ६१)—'शूर्पणखा' नाम राक्षसीति रामायणे प्रसिद्धा। शूर्पाणीव कररुहाः यस्या इति अस्वपदविग्रहः। संज्ञात्वेन नित्यसमासत्वात् 'नखमुखात् संज्ञायाम्' इति ङीष्निषेधे सति 'पूर्वपदात् संज्ञायामगः' इति णत्वे सुबाद्युत्पत्तिः। यदा तु शूर्पवन्नखानि यस्या इति योगमात्रं विवक्ष्यते न तु संज्ञा; तदा असंज्ञात्वात् न ङीब्निषेधो न वा णत्वं भवति।

---

क्रोडादि—क्रोड, कर, नख, भुज, गल, गुद, नाल, खुर, शफ, उख, शिख, बाल आदि। आकृति गण हैं।

सह—सह, नञ् एवं विद्यमान पूर्वक स्वाङ्गवाचक प्रातिपदिक से स्त्रीत्वविवक्षा में ङीष् नहीं होता है।

नख—स्वाङ्गवाची नख तथा मुखान्त प्रातिपदिक से संज्ञा में ङीष् नहीं होता है।

दिक्—दिग्-वाचक पूर्वपदक स्वाङ्गान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्वविवक्षा में ङीष् के स्थान में (आद्युदात्त) ङीप् हो जाता है।

वाहः—वाह्-शब्दान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्वविवक्षा में ङीष् होता है (वेद में ही)।

सख्य—स्त्रीत्वविवक्षा में सखि तथा अशिशु शब्दों से भाषा (लौकिक प्रयोग में) ङीष् होता है (क्वचित् वैदिक में भी)।

नन्तरं द्रष्टव्यः । तेन छन्दस्यपि क्वचित् । सखी । अशिश्वी । 'आवेनवो धुनयन्तामशिश्वीः ।' ५१९ । जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् ४।१।६३। जातिवाचि यन्न च स्त्रियां नियतमयोपधं ततः स्त्रियां ङीष् स्यात् । 'आकृतिग्रहणा जातिः' अनुगतसंस्थानव्यङ्ग्येत्यर्थः । तटी । लिङ्गानाञ्च न सर्वभाक् सकृदाख्यात-

---

जातेरस्त्रीति ( ई. ६२, ६४ )—'जातेरस्त्रीविषयात्' इति सूत्रे जातिपदेन त्रिधा जातिर्गृह्यते । तत्र प्रथमलक्षणम्—'आकृतिग्रहणा जातिः' इति । आकृतिः-अवयवसन्निवेशविशेषः । ईदृशाकारो गौरित्युपदिष्टे पुच्छलाङ्गूलाद्या-कृतिनिर्देशेन गवादिषु जातिर्गृह्यते, तदा ह्यनुगतेऽपि ह्यनुगतमेकाकारेण प्रतीतं यत्संस्थानम् अवयवसन्निवेशः, तेन व्यङ्ग्या या सा जातिरित्यर्थः । तथाहि-नद्यादीनां जलसमीपदेशो यत्र यत्र वर्तते, तत्र तत्र तट इति बुद्धिर्जायते, इति तटशब्दादपि जातिलक्षणो ङीष् भवति । परञ्च एतत् लक्षणं वृषलत्वादीनां जातित्वे साधकं न भवति । यथा—हस्ताद्यवयवसन्निवेशो यथा ब्राह्मणादीनां वर्तते, तथा शूद्रस्यापि इति प्रथमलक्षणेन न गतार्थत्वम्, अत उच्यते-'लिङ्गा-

---

जातेरस्त्री—स्त्रीलिंगमात्र में अनियत जातिवाचक यकारोपध से भिन्न प्रातिपदिक से स्त्रीत्वविवक्षा में ङीष् होता है ।

आकृति—उपर्युक्त सूत्र में त्रिविध जाति का ग्रहण होता है—( १ ) आकृतिग्रहणा जातिः, ( २ ) लिङ्गानां च न सर्वभाक् सकृदाख्यात-निर्ग्राह्या, ( ३ ) गोत्रं च चरणैः सह ।

( १ ) आकृति—स्वरूप ( अवयव-सन्निवेशविशेष ) से ही जो जानी जा सके, वह जाति है । यथा—तटी, घटी, आदि ।

( २ ) लिङ्गानां च—जिससे सब लिंग नहीं होते हों और एक व्यक्ति में कहने पर दूसरे व्यक्ति में कहे बिना ही जो जाति का ज्ञान हो सके, वह भी जाति है ।

नोट—वृषलत्व जाति के सिद्ध करने में मूलोक्त प्रथम लक्षण साधक नहीं हो सका, क्योंकि हस्ताद्यवयव-सन्निवेश-विशेष जैसा वृषल ( शूद्र ) में है, वैसा ही ब्राह्मण, क्षत्री, आदियों में भी देखा जाता है, अतः 'लिङ्गानां च' इस द्वितीय लक्षण की आवश्यकता हुई । उदाहरण—'वृषली'—यहां एक ही व्यक्ति में वृषलत्व ( शूद्रत्व ) का ज्ञान कराने पर, उसके पुत्र, पौत्रादि में कराये बिना भी वृषलत्व जाति सुग्रह हो जाती है ।

निर्ग्राह्या । 'असर्वलिङ्गत्वे सत्येकस्यां व्यक्तौ कथनाद्व्यक्त्यन्तरे कथनं विनाऽपि सुग्रहा जातिः' इति लक्षणान्तरम् । वृषली । 'सत्यन्तम्' किम् ? शुक्ला । 'सकृत्'–इत्यादि किम् ? देवदत्ता । 'गोत्रं च चरणैः सह' अपत्यप्रत्ययान्तः शाखाध्येतृवाची च शब्दो जातिकार्यं लभत इत्यर्थः । औपगवी । कठी । बह्वृची । 'ब्राह्मणी' इत्यत्र तु शार्ङ्गरवादिपाठान्ङीना ङीष्बाध्यते

---

नाञ्च न सर्वभाक्' इति । एकस्यां ब्राह्मणादिव्यक्तौ ऐकवारं कथनात् = उपदेशात्, द्वितीयव्यक्तौ कथनं विनापि जातेर्ज्ञानं सुलभमिति वृषलत्वादीनां जातित्वसिद्धिः । ननु एताभ्याम् औपगवी कठीत्यादेरसंग्रहः, अनुगतसंस्थानव्यङ्ग्यत्वाभावात्, सर्वलिङ्गत्वाच्चेति चेद् ? उच्यते–'गोत्रं च चरणः सह' इति । अपत्यप्रत्ययान्तः चकारात् शाखाध्येतृवाची च शब्दो जातिकार्यं लभत इत्यर्थः । एवम् 'औपगवी, 'कठी' इत्यादेः सिद्धिरिति दिक् ।

वृषली ( ई. ६४, ६८, ७० )—वृषलशब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायां 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इति भत्वादलोपे विभक्त्यादिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम् । जातित्वं चात्र 'लिङ्गानाञ्च न सर्वभाक्' इति ।

औपगवी ( ई. ६४, ६८,७३ )—उपगोरपत्यं स्त्रीत्यर्थे अपत्यार्थेऽणि वृद्धौ अवादेशे गोत्रप्रत्ययान्तस्यापि जातित्वस्वीकारात् 'जातेरस्त्री—' इति ङीषि 'यस्येति च' इत्यलोपे सुलोपे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

---

( ३ ) गोत्रञ्च—अपत्य प्रत्ययान्त शब्द और शाखाध्येतृवाची शब्द भी जातिकार्य ( ङीष् ) को प्राप्त होता है । उदाहरण—औपगवी, कठी, बह्वृची ।

नोट—'औपगवी, कठी, बह्वृची, आदि में ( १ ) प्रथम ( आकृति = अनुगतसंस्थानव्यंग्यत्व) तथा ( २ ) द्वितीय असर्वलिंगत्वरूप जातित्व का अभाव है, अतः ( ३ ) गोत्रं च चरणैः सह । इस तृतीय लक्षण की आवश्यकता हुई ।

कठी ( कठशाखाध्येत्री ), बह्वृची ( बहुशाखाध्येत्री ) आदि वैदिक प्रयोगों से सिद्ध होता है कि पहले स्त्रियां वेद पढ़ती थीं । वर्तमान युग में भी गार्गी, भारती ( आद्यशंकराचार्य से शास्त्रार्थ में परास्त होने वाली, पं. मण्डनमिश्र की पत्नी ) आदि विदुषियों का कथानक भी इसका प्रचुर मापक है । "न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयाताम्" यह वचन तो किसी मापक ग्रंथ मे देखने को नहीं मिलता ।

"ब्राह्मणो हि निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" इस महाभाष्योक्त वचन से भी ज्ञात होता है कि ब्राह्मणेतर सभी वर्णों को 'सकारण' वेद पढ़ना और जानना चाहिए ।

'जातेः' किम् ? मुण्डा । अस्त्रीविषयात् किम् ? बलाका । 'अयोपधात्' किम् ? क्षत्त्रिया । १२१ योपधप्रतिषेधे हय-गवय-मुकय-मनुष्य-मत्स्यानामप्रतिषेधः* । हयी । गवयी । मुकयी । 'हलस्तद्धितस्य' ( सू ४७३ ) इति यलोपः । मनुषी । 'मत्स्यस्य ङ्याम्' ( ९९ ) मत्सी ।

५२० । पाक-कर्ण-पर्ण-पुष्प-फल-मूल-बालोत्तरपदाच्च ४।१।६४। पाकाद्युत्तरपदाज्जातिवाचिना स्त्रीविषयादपि ङीष् स्यात् । ओदनपाकी । शङ्कुकर्णी । शालपर्णी । शंखपुष्पी । दासीफली । दर्भमूली । गोवाली । ओषधिविशेषे रूढा एते । ५२१ । इतो मनुष्यजातेः ४।१।६५। ङीष् स्यात् । दाक्षी । योपधादपि । उदमेयस्यापत्यं स्त्री औदमेयी । 'मनुष्य' इति किम् ? तित्तिरिः । ५२२। ऊङुतः ४।१।६६। उकारान्तादयोपधान्मनुष्यजातिवाचिनः स्त्रियामूङ् स्यात् । कुरूः । 'कुरुनादिभ्यो ण्यः' ( सू ११९२ ) तस्य 'स्त्रियामवन्ति—' ( सू ११९७) इत्यादिना लुक् । 'ययोपधात्' किम् ? अध्वर्युः । १२२ अप्राणिजातेश्चारज्ज्वा-

---

मुकयी ( ई. ७२ )—चतुष्पाज्जातिविशेषस्य संज्ञेयम् । अत्र 'अयोपधात्' इति प्रतिषेधात् ङीष्प्राप्तौ 'योपधप्रतिषेधे हयगवय—' इति ङीषि भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम् ।

कुरूः ( ई. ६३ )—कुरुक्षेत्रस्य राजा कुरुः तस्यापत्यं स्त्रीत्यर्थः । 'गोत्रं च चरणैः सह' इति जातित्वे 'ऊङुतः' इति कुरुशब्दात् ऊङि सवर्णदीर्घे स्वाद्युत्पत्तिः ।

---

योपध—यकारोपध-हय, गवय, मुकय, मत्स्य तथा मनुष्य प्रातिपदिकों से स्त्रीत्वविवक्षा में ङीष् का प्रतिषेध ( निषेध ) नहीं होता है ।

मत्स्य—ङी प्रत्यय के परे मत्स्य के यकार का लोप होता है ।

पाक—पाक, कर्ण, पर्ण, पुष्प, मूल तथा बालोत्तर पदपरक जातिवाचक प्रातिपदिक से स्त्रीत्वविवक्षा में ङीष् होता है ।

इतो—इकारान्त मनुष्य जातिवाचक शब्दों से स्त्रीत्वविवक्षा में ङीष् होता है ।

ऊङु—यकार उपधा में न हो ऐसा मनुष्य जातिवाची उकारान्त शब्द से स्त्रीत्वविवक्षा में 'ऊङ्' प्रत्यय होता है ।

अप्रा—रज्ज्वादि से भिन्न अप्राणि जातिवाचक शब्दों से भी स्त्रीत्वविवक्षा में ऊङ् प्रत्यय का विधान समझना चाहिए ।

दीनामुपसंख्यानम्* । रज्ज्वादिपर्युदासादुवर्णान्तेभ्य एव । अलाब्वा । कर्कन्ध्वा । अनयोर्दीर्घान्तत्वेऽपि 'नोङ् धात्वोः' ( सू ३७२० ) इति विभक्त्युदात्तत्वप्रतिषेधे ऊङः फलम् । प्राणिजातेस्तु—कृकवाकुः । रज्ज्वादेस्तु रज्जुः । हनुः । ५२३ बाह्वन्तात् संज्ञायाम् ४।१।६७। स्त्रियामूङ् स्यात् । भद्रबाहूः । संज्ञायाम् किम् ? वृत्तबाहुः । ५२४ पङ्गोश्च ४।१।६८। पङ्गूः । १२३ श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च* । चादूङ् । पुंयोगलक्षणस्य ङीषोऽपवादः । लिङ्गविशिष्टपरिभाषया स्वादयः । श्वश्रूः ५२५ ऊरूत्तरपदादौपम्ये ४।१।६९। उपमानवाचिपूर्वपदमूरूत्तरपदं यत्प्रातिपदिकं तस्मादूङ् स्यात् । करभोरूः । ५२६ संहित-शफ-लक्षण-वामादेश्च ४।१।७०। अनौपम्यार्थं सूत्रम् । संहि-

---

अलाब्वा ( ई. ६८ )—अलाबूशब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायाम् 'अप्राणिजातेश्च' इति ऊङि सवर्णदीर्घे अलाबूशब्दो निष्पन्नः । तस्मादलाबूशब्दात् टायां यणादेशे 'अलाब्वा' इति । ( अलाबूशब्दस्य दीर्घान्तत्वेऽपि 'नोङ्धात्वो'रिति विभक्त्युदात्तत्वप्रतिषेध ऊङः फलम् ) ।

श्वश्रूः ( ई. ७०, ७३ )—श्वशुरस्य स्त्रीति विग्रहे पुंयोगलक्षणे ङीषि तमपवाद्य 'श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च' इति ऊङि तत्सन्नियोगेन रेफादकारस्य शकारादुकारस्य च लोपे विभक्तिकार्ये 'श्वश्रूः' इति ।

करभोरूः ( ई. ७२ )—करभाविव ऊरू यस्या इति विग्रहः । करभोरूशब्दस्य 'आकृतिग्रहणे'ति त्रिविधजातित्वाऽभावात् 'ऊङुतः' इत्यस्याप्राप्त्या 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' इति ऊङि सवर्णदीर्घे स्वाद्युत्पत्तिः ।

---

बाह्व—बाहु शब्दान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्वविवक्षा में ऊङ् प्रत्यय होता है, संज्ञा में ।

पङ्गो—पङ्गु शब्द से स्त्रीत्वविवक्षा में ऊङ् प्रत्यय होता है ।

श्वशु—स्त्रीत्वविवक्षा में श्वशुर शब्द से ऊङ् प्रत्यय तथा श्वशुर का अवयव उकार एवं अन्त्य अकार का लोप भी हो जाता है ।

ऊरू—उपमानवाची शब्द पूर्वपद में हो और ऊरू शब्द उत्तर पद में रहे तो ऐसे ऊरूत्तर प्रातिपदिक से स्त्रीत्वविवक्षा में ऊङ् होता है ।

संहित—संहित, शफ, लक्षण या वाम शब्दपूर्वक ऊरूत्तर प्रातिपदिक से स्त्रीत्वविवक्षा में ऊङ् प्रत्यय होता है ।

तोरू: । सैव शफोरू: । शफौ = खुरौ ताविव संश्लिष्टत्वादुपचारात् । लक्षण-शब्दादर्शआद्यच् । लक्षणोरू: । वामोरू: । १२४ सहित-सहाभ्यां चेति वक्तव्यम् ॥ । हितेन सह सहितौ ऊरू यस्याः सा सहोरू: । यद्वा, विद्यमान-वचनस्य सहशब्दस्य ऊर्वतिशयप्रतिपादनाय प्रयोगः । ५२७ संज्ञायाम् ४।१।७२। कद्रूकमण्डल्वोः संज्ञायां स्त्रियामूङ् स्यात् । कद्रूः । कमण्डलूः 'संज्ञा-याम्' किम् ? कद्रुः । कमण्डलुः । अच्छन्दोऽर्थं वचनम् । ५२८ शार्ङ्गरवा-द्यञो ङीन् ४।१।७३। शार्ङ्गरवादेरञो योऽकारस्तदन्ताच्च जातिवाचिनो ङीन्स्यात् । शार्ङ्गरवी । वैदी । 'जातेः' इत्यनुवृत्तेः पुंयोगे ङीषेव ।

---

शफोरू: ( ई. ६९ )—शफौ=खुरौ, ताविव संश्लिष्टौ ऊरू यस्याः इति विग्रहे निष्पन्नात् शफोरुशब्दात् 'संहितशफलक्षणवामादेश्च' इति ऊङि सवर्ण-दीर्घे विभक्त्यादिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम् ।

सहोरू: ( ई. ६५ )—'सहितसहाभ्यां चेति वक्तव्यम्' इति ऊङि सवर्ण-दीर्घे गुणे प्रातिपदिकार्थे 'सहोरूः' इति । ननु सहशब्दस्य विद्यमानत्वे 'सहोरूः' इत्यस्य सहशब्दप्रयोगो व्यर्थं इत्यत आह मूले—सहेते ( रतिकालिकमर्दनम् ) इति सहौ, सहौ ऊरू यस्याः सा 'सहोरूः' इति । किञ्च विद्यमानवचनत्वेऽपि सहशब्दस्य न वैयर्थ्यम् ! ऊर्वतिशयप्रतिपादनाय प्रयोगात् ।

शार्ङ्गरवी ( ई. ७० )—शृङ्गरुशब्दादपत्येऽणि 'आदिवृद्धौ 'ओर्गुणः' इति गुणेऽवादेशे 'शार्ङ्गरव' इति तस्मात् जातित्वान्ङीषि प्राप्ते तम्प्रबाध्य 'शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्' इति ङीनि भत्वादल्लोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

वैदी ( ई. ७३ )—विदस्यापत्यं स्त्रीत्यर्थे 'अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्' इत्यञि कृते गोत्रत्वेन जातित्वान्ङीषि प्राप्ते 'शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्' इति ङीनि अल्लोपादिकार्ये 'वैदी' इति ।

---

सहित—सहित तथा सह शब्द पूर्वपदक ऊरूत्तर प्रातिपदिक से भी स्त्रीत्व विवक्षा में ऊङ् होता है—ऐसा कहना चाहिए ।

संज्ञा—संज्ञा में कद्रु और कमण्डलु शब्दों से स्त्रीत्वविवक्षा में ऊङ् प्रत्यय होता है ।

शार्ङ्ग—शार्ङ्गरवादि (शार्ङ्गरव, कपाटव, ब्राह्मण, वैद, गौतम, कामण्ड-लेय, आशोकेय, वात्स्यायन, काव्य, चण्डाल, भोगवत्, पुत्री, आदि ) शब्दों से तथा अकारोत्तरपदक अञन्त शब्दों से स्त्रीत्वविवक्षा में ङीन् प्रत्यय होता है ।

नृनरयोर्वृद्धिश्च ( ग ) इति गणसूत्रम् । नारी । ५२९ यङश्चाप् ४।१।७४। यङन्तात् स्त्रियां चाप् स्यात् । 'यङ' इति ष्यङ्ष्यङोः सामान्यग्रहणम् । आम्बष्ठ्या । कारीषगन्ध्या । १२५ षाद्यञश्चाब्वाच्यः* । पौतिमाष्या । ( गौकक्ष्या, शार्कराक्ष्या ) ५३० आवट्याच्च ४।१।७५ अस्माच्चाप् स्यात् । 'यङश्च'

---

नारी ( ई. ६३, ६७, ७० )—नृनरशब्दयोरुदाहरणं नारीति । तत्र नृशब्दात् 'नृनरयोर्वृद्धिश्च' इति गणसूत्रेण चकारात् ङीन् विधानेन पूर्वं ङीनि वृद्धौ रपरत्वे च 'नारी' इति । एवं नरशब्दात् पूर्वं ङीनि यस्येतिलोपे नकारादकारस्य वृद्धौ नारीति । न च यस्येति लोपात् प्रागलोऽन्त्यपरिभाषया नरशब्दान्ताकारस्य वृद्धिः कुतो नेति वाच्यम् । 'वर्णादाङ्गं बलीयः' इति परिभाषाबलेन अन्त्यस्याकारस्य यस्येतिलोपेनापहारात् । केचित्तु, नरस्य—अः नरः, ना च नरश्च तयोः नृनरयोः इति प्रश्लेषसामर्थ्यान्नकाराकारस्यैव वृद्धिः स्यादित्याहुः । न च नृशब्दात् पूर्वोक्तप्रकारेण नारीति सिद्धौ नरग्रहणं व्यर्थमिति वाच्यम्, नरत्वजातिवाचिनो नरशब्दात् स्त्रियां जातिलक्षणङीषि नरीति व्यावृत्त्यर्थं तस्यावश्यकत्वात् । वृद्धिविधानार्थं गणसूत्रमेतदिति बोध्यम् । 'नारी सीमन्तिनी वधूः' इत्यमरः ।

कारीषगन्ध्या ( ई. ६१, ६३, ६८ )—करीषं गवादिपशुपुरीषं तस्य गन्ध इव गन्धो यस्य स करीषगन्धिः । करीषगन्धेः गोत्रापत्यं स्त्रीत्यर्थे अणि तस्य 'अणिञोरनार्षयोः' इति ष्यङादेशे 'यस्येति' च इतीकारलोपे 'यङश्चाप्' इति चापि भत्वादकारलोपे विभक्तिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम् ।

---

नृ-नरयोः—नृ एवं नर शब्दों से स्त्रीत्वविवक्षा में ङीन् प्रत्यय होता है और नृ तथा नर के अच् को वृद्धि भी हो जाती है ।

नोट—'नृ' शब्द से 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' सूत्र से तथा 'नर' शब्द से जातिलक्षण ङीप् प्राप्त था, दोनों को बाध कर इस गण सूत्र से ङीन् प्रत्यय होता है ।

यङश्चाप्—यङन्त शब्द से स्त्रीत्वविवक्षा में चाप् प्रत्यय होता है ।

षाद्—षकार से पर यञ् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्वविवक्षा में चाप् प्रत्यय होता है ।

आव—यङन्त आवट्य शब्द से भी स्त्रीत्वविवक्षा में चाप्-प्रत्यय होता है ।

नोट्—'अवट' शब्द गर्गादि है । अवटस्यापत्यं स्त्री—'आवट्या' । गर्गादित्वाद् यङ् हुआ है ।

( सू ४७२ ) इति ङीपोऽपवादः । अवट्शब्दो गर्गादिः । आवट्या । **५३१ तद्धिताः** ४।१।७६। आपञ्चमसमाप्तेरधिकारोऽयम् । **५३२ यूनस्तिः** ४।१।७७ युवन्शब्दात् तिप्रत्ययः स्यात् स च तद्धितः । लिङ्गविशिष्टपरिभाषया सिद्धे तद्धिताधिकार उत्तरार्थः । युवतिः । अनुपसर्जनादित्येव । बहवो युवानो यस्यां सा बहुयुवा । 'युवती' इति तु यौतेः शत्रन्तान्ङीपि बोध्यम् ।

इति स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम् ।

—❀❀—

युवतिः ( ६५, ६९, ७१ )—युवन् शब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायां 'यूनस्तिः' इति तिप्रत्यये 'स्वादिष्वि'ति पदत्वान्नलोपे विभक्तिकार्ये 'युवतिः' इति । दीर्घँकारान्तोऽपि स्त्रियां वर्तते, तत्तु युधातोर्लटः शतरि शपो लुकि उवङि उगित्त्वात् ङीपि 'युवती' इति । ( यौति = पत्या सह आत्मानं मिश्रीकरोतीत्यर्थः ) ।

इति 'इन्दुमती' टीकायां स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम् ।

—:०:—

तद्धिताः—यहाँ से ( चतुर्थ अध्याय प्र० पाद से लेकर ) पञ्चम अध्याय तक इसका अधिकार है, अर्थात् यहाँ से लेकर वक्ष्यमाण प्रत्यय तद्धितसंज्ञक होते हैं।

यूनः—युवन् शब्द से स्त्रीत्वविवक्षा में तद्धितसंज्ञक 'ति' प्रत्यय होता है।

**अभ्यास**

अधोलिखित-शब्दानां स्त्रीलिङ्गे प्रथमपुरुषे पृथक्–पृथक् रूपाणि प्रदर्शयन्तु—

अश्व, कारक, अञ्चल, कर्तृ, तपस्विन्, गोप, निशाचर, बाल, बालक, वधूट, श्वशुर, आचार्य, उपाध्याय, मातुल, नृ, नर, पाणिगृत, गृहपति, राष्ट्रपति, नरपति, युवन् ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' हिन्दी टीका में स्त्रीप्रत्यय प्रकरण समाप्त ।

—:❀❀:—

# अथ कारकप्रकरणम्

५३३ प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचन-मात्रे प्रथमा २।३।४६।
नियतोपस्थितिः प्रातिपदिकार्थः। मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः। प्रातिपदिकार्थ-

---

कारकस्य किं लक्षणम् ( ई. ७०, ७२ )—क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्। क्रियान्वयित्वं कारकत्वमित्येतावन्मात्रस्वीकारे 'ब्राह्मणस्य पुत्रं पन्थानं पृच्छति' इत्यत्र ब्राह्मणस्यापि कारकत्वं स्यात्। साक्षात् क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्' इति स्वीकारे तु 'मातुः स्मरति' इत्यत्र मातुः कारकत्वे षष्ठ्याः कारकत्वं नास्ति' इति वचनाऽसंगतिः स्यादतः 'क्रियाजनकत्वम्' अर्थात् क्रियाजनकत्वेनाऽन्वयित्वं तत्त्वमित्यवसेयम्।

प्रातिपदिकार्थेति ( ई. १९६० )—पदम् पदमिति प्रतिपदम्' प्रतिपदे भवं प्रातिपदिकम्, तस्यार्थः प्रातिपदिकार्थः ( सत्ता ), स च लिङ्गं च परिमाणं च वचनं चेति प्रतिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनानि, तान्येव प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रं तस्मिन्। 'द्वन्द्वादौ द्वन्द्वमध्ये द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बद्धचते' इति भाष्योक्ते द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणमात्रपदस्य प्रत्येकमन्वयात् प्रातिपदिकार्थमात्र इत्याद्यर्थः सम्पद्यते।

---

'साक्षात् क्रियाजनकत्वं कारकत्वं' = क्रिया का जो साक्षात् जनक हो, उसे कारक कहते हैं। कारक छै हैं—

**'कर्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च।**
**अपादानाऽधिकरणं च इत्याहुः कारकाणि षट्' ॥**

'क्रियासम्पादकः कर्ताः' = क्रिया के सम्पादन-विषय में जो स्वतन्त्र ( प्रधान ) भाव से विवक्षित रहता है उसे 'कर्ता' कहते हैं। कर्ता से प्रथमा विभक्ति होती है। कहा भी है—

**'भवेद् विभक्तिः प्रथमा कर्तृवाच्यस्य कर्तरि।**
**सम्बुद्धौ नाममात्रे च कर्मवाच्यस्य कर्मणि ॥**
**क्वचिद्-अव्यययोगे च प्रथमा कथ्यते बुधैः ॥**

प्रातिपर्दि— प्रातिपदिकार्थमात्र में, प्रातिपदिकार्थाऽपेक्षया लिङ्गमात्र के

मात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये संख्यामात्रे च प्रथमा स्यात् । उच्चैः । नीचैः । कृष्णः श्रीः । ज्ञानम् । अलिङ्गा नियतलिङ्गाश्च 'प्रातिपदिकार्थमात्रे' इत्यस्योदाहरणम् । अनियतलिङ्गास्तु लिङ्गमात्राद्याधिक्यस्य । तटः । तटी । तटम् । परिमाणमात्रे–

( स्वार्थ = द्रव्य–लिङ्ग–संख्या–कारकाणि, इति पञ्चकं प्रातिपदिकार्थः । अर्थात् –'यस्मिन् प्रातिपदिके उच्चारिते स्वार्थ–द्रव्य–लिङ्ग–संख्या–कारकेषु मध्ये यस्यार्थस्य नियमेन उपस्थितिः, स प्रातिपदिकार्थः । )

नियतोपस्थितिकः (ई. ६०, ६२)—नियता= व्यापिका, उपस्थितिर्यस्य स 'नियतोपस्थितिकः ।' यस्मिन् प्रातिपदिके उच्चारिते सति यस्यार्थस्य नियमेनोपस्थितिः स नियतोपस्थितिकः ।

नीचैः ( ई. ६९ )—'अव्ययादाप्सुपः' इति सूत्रे 'अव्ययग्रहणं व्यर्थमलिङ्गत्वात्' इति भाष्योक्तरीत्या अव्यये कस्यापि लिङ्गस्यानुपस्थितिरिति 'प्रातिपदिकार्थलिङ्ग—' इत्यनेनाऽत्र प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा भवति । ( नन्वत्र अव्ययात् प्रथमोत्पत्तेः फलाभावः 'अव्ययादाप्सुपः' इति लुकोऽवश्यं प्रवृत्तेरिति चेन्न, पदत्वार्थं सुबुत्पत्तेरावश्यकत्वात् । तेन नीचैरित्यादौ रुत्वविसर्गौ 'नीचैस्तेऽसम्यग्भाषणम्' इत्यादौ तेमयादिसिद्धिश्च भवति ) ।

---

आधिक्य में तथा परिमाणमात्र के आधिक्य में, एवं वचनमात्र के आधिक्य में, प्रथमा विभक्ति होती है ।

नोट—जिस प्रातिपदिक के उच्चारण करते ही-स्वार्थ, द्रव्य, लिङ्ग, संख्या और कारक, इन पांचों में जिसका ज्ञान निश्चित रूप से हो, उसे ही यहां 'प्रातिपदिकार्थ' कहते हैं । इसी लिये—उच्चैः, नीच्चैः आदि अलिङ्गक एवं सत्तामात्र बोधक अव्यय शब्दों से तथा रामः, लता एवं ज्ञानम् आदि नियत लिंगक शब्दों से प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा विभक्ति होती है ।

अनियत— जिन शब्दों का लिंग निश्चित नहीं है, उन शब्दों में लिङ्गमात्र के आधिक्य में प्रथमा ( सु, औ, जस् ) होती है । जैसे—तटः, तटी, तटम् ।

परिमाण—परिमाणमात्र का उदाहरण है—द्रोणः, तण्डुलः, खारी, शाली, आढकम्, चूर्णम्—इत्यादि । यहां परिमाण मात्र में प्रथमा होने पर द्रोण रूप परिमाण से परिच्छिद्य ( तौला हुआ ) तण्डुल ऐसा अभीष्ट अर्थ होता है । यहां यदि प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा होती तो द्रोण रूप तण्डुल ऐसा अनभीष्ट अर्थ हो जाता ।

द्रोणो व्रीहिः। द्रोणरूपं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरित्यर्थः। प्रत्ययार्थे परिमाणे प्रकृत्यर्थोऽभेदेन संसर्गेण विशेषणम्, प्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीहौ विशेषणमिति विवेकः। वचनं-संख्या। एकः। द्वौ। बहवः। इहोक्तार्थत्वाद्विभक्तेरप्राप्तौ वचनम्। ५३४ सम्बोधने च २।३।४७। इह प्रथमा स्यात्। हे राम। इति प्रथमा विभक्तिः।

---

द्रोणो व्रीहिः इति ( ई. ६०, ७२, ७८ )—अयम्भावः—प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमासिद्धौ किमर्थं परिमाणग्रहणमिति चेत्, 'नामार्थयोरभेदादतिरिक्तः सम्बन्धोऽव्युत्पन्नः' इति व्युत्पत्त्या 'द्रोणाऽभिन्नं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिः, इति मूलोक्तार्थानुपपत्तेः। परिमाणग्रहणसत्त्वे तु प्रत्ययार्थे परिमाणे प्रकृत्यर्थः (द्रोणरूपार्थः) अभेदेन संसर्गेण विशेषणम्, प्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावसम्बन्धेन व्रीहौ विशेषणमिति।

इहेति ( ई. ६८, ७० )—नन्वत्र प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमासिद्धौ सूत्रे वचनग्रहणं किमर्थमिति चेन्न, 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति निषेधात् 'एकः' इत्यादौ प्रथमाऽनापत्तेः। अन्या विभक्तिस्तु न सम्भवति अन्विततार्थकविभक्तिकल्पनापेक्षया अनुवादकविभक्तेरेव न्याय्यत्वादिति।

सम्बोधने च—अभिमुखीकृत्य ज्ञापनं 'सम्बोधनम्। सम्बोधने अधिके गम्येऽपि प्रथमा स्यादित्यर्थः।

हे राम ( ई. ६४, ६९ )—अत्र 'सम्बोधने च' इति सम्बोधने अधिके

---

वचनम्—वचन का अर्थ है संख्या। संख्या मात्र में प्रथमा का उदाहरण है—एकः, द्वौ, बहवः, आदि। यहां पर—एकत्व, द्वित्व तथा बहुत्व—एक, द्वि तथा बहु शब्द से क्रमशः उक्त होने पर भी संख्या ( वचन ) मात्र में प्रथमा विधान करने के कारण प्रथमा विभक्ति होती है। अन्यथा **'उक्तार्थानामप्रयोगः'** ( अर्थात् किसी शब्द द्वारा उक्त या प्रतिपादित अर्थ के लिये दूसरे शब्द का प्रयोग न हो ) इस न्याय से वहाँ एकत्व, द्वित्व एवं बहुत्व के द्योतक क्रम से स्वादि प्रथमा विभक्ति नहीं होती।

सम्बो—सम्बोधन के अर्थ में भी ( अर्थात् प्रातिपदिकार्थ के साथ सम्बंधनार्थ में भी ) प्रथमा ( सु, औ, जस् ) विभक्ति होती है।

नोट—( १ ) जो वस्तु पहिले से सिद्ध हैं, उसके अभिमुखीकरण को सम्बोधन कहते हैं, अतः सम्बोधन विभक्ति अनुवाद्य विषय में होती है, न कि विधेय विषय में। जैसे—'हे राम! मां पाहि?।

५३५ कारके १।४।२३। ( २ कर्म ) इत्यधिकृत्य। ५३६ कर्तुरीप्सिततमं कर्म १।४।४९। कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। 'कर्तुः'

---

गम्येऽपि रामशब्दात् 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' इत्येकवाक्यतया प्रथमैकवचन-सुप्रत्यये 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इत्युकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' इति सुलोपे 'हे राम' इति। मां पाहीति शेषः।

कर्तुरिति ( ई० ७३ )—कारके इत्यनुवर्तते तच्च प्रथमया विपरिणम्यते। कर्तुरिति 'क्तस्य च वर्तमाने' इति कर्तरि षष्ठी। आप्तुमिष्यमाणमीप्सितम्, अतिशयेनेप्सितमीप्सिततमम्। धातूपात्तव्यापाराश्रयः कर्ता। केनाप्तुमित्याकाङ्क्षायां कर्तृविशेषणीभूतव्यापारेणेत्यर्थाल्लभ्यते। ततश्च—कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्, अर्थात् कर्ता स्वक्रियाद्वारा यत् किञ्चित् प्राप्तुम् इष्टतमं मन्यते तत्कर्मकारकं स्यादित्यर्थः सम्पद्यते।

कर्तुः किमपि ( ई. ७४, ७८ )—ननु कारकाधिकारात् कारकवृत्ति-

---

किन्तु 'हे राजन्! सार्वभौमो भव ?' यहाँ राजा पहिले से सिद्ध है इसलिये अनुवाद्य होने के कारण यहाँ सम्बोधन में प्रथमा हुई, किन्तु 'सार्वभौम' विधेय है, अतः उससे सम्बोधन में प्रथमा नहीं होती है। प्रायः चेतन पदार्थ में ही सम्बोधन का प्रयोग होता है।

( २ ) सम्बोधन और ( वक्ष्यमाण ) सम्बन्ध भी कारक नहीं है। यतः— 'हे मित्र! त्वम् गङ्गायाः उदकं पिब' इस व्यापार का कर्ता 'त्वम्' है, न कि मित्र। मित्र और गङ्गा तो केवल गङ्गा का सम्बन्ध बताता है, न कि क्रिया का सम्पादक ( जनक ) है।

कारके—यह अधिकार सूत्र है। अधिकार का अर्थ है—**'स्वदेशे वाक्यार्थ-शून्यत्वे सति परदेशे वाक्यार्थबोधकत्वम्**। अर्थात् जो अपने स्थान पर वाक्यार्थ बोध न कराता हुआ दूसरे स्थान पर आगे के दूसरे सूत्रों के साथ मिलकर वहां पर अर्थ का बोध कराता है।

कर्म—संज्ञा के जिस रूप पर क्रिया के व्यापार का फल पड़ता है उसे 'कर्म' कहते हैं। कर्मलक्षण—

**'कर्तृवृत्ति-व्यापारप्रयोज्य-फलवत्त्वप्रकारकेच्छानिरूपितविषयताश्रयत्वं कर्मत्वम्।**

कर्तुः—क्रिया के द्वारा कर्ता का इष्टतम कारक की कर्मसंज्ञा होती है,

किम् ? माषेष्वश्वं बध्नाति। कर्मण ईप्सिता माषाः, न तु कर्तुः। तमब्ग्रहणं किम् ? पयसा ओदनं भुङ्क्ते। 'कर्म' इत्यनुवृत्तौ पुनः कर्मग्रहणमाधारनिवृत्त्यर्थम्। अन्यथा 'गेहं प्रविशति' इत्यत्रैव स्यात्। ५३७ अनभिहिते २।३।१। इत्यधिकृत्य। ५३८ कर्मणि द्वितीया २।२।२। अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात्।

---

व्यापारप्रयोज्यं यत्फलं तादृशफलवत्त्वप्रकारिकेच्छानिरूपितविषयताश्रयः कारकं सत् कर्मसंज्ञं भवतीत्यर्थेनैव 'हरिं भजति' इत्यादौ कर्मत्वे सिद्धे कर्तुः ग्रहणं किमर्थमिति चेन्न, माषेषु प्रसक्तमश्वं माषविनाशो मा भूदित्यन्यत्र बध्नातीत्यर्थके 'माषेष्वश्वं बध्नाति' इत्यत्र अश्ववृत्तिव्यापारप्रयोज्यगलाधःसंयोगाश्रयत्वेन माषाणां कर्मत्वापत्तेः, कृते च तस्मिन् कर्तृग्रहणसामर्थ्यात् प्रकृतधातूपात्तप्रधानीभूतव्यापाराश्रयस्यैव कर्तुर्ग्रहणेनादोषात्।

तमब्ग्रहणं किम् ( ई. ६३, ६७, ६८ )—अवयवद्वारा समुदाये प्रश्नः—'कर्तुरुद्देश्यं कर्म' इत्येव सिद्धे ईप्सिततमग्रहणं किमर्थमिति चेन्न, यदा कृतभोजनोऽपि देवदत्तः पयोलोभेन पुनरोदनभोजने प्रवर्तते, तदा 'पयसा ओदनं भुङ्क्ते' इत्यत्र पयसः कर्मत्वापत्तेः। नचैवमपि ईप्सितमित्येव सिद्धे तमब्ग्रहणं व्यर्थमिति वाच्यम्, 'अग्नेर्माणवकं वारयति' इत्यत्र वारिधातुवाच्यसंयोगरूपफलाश्रयत्वेन अग्नेरपि कर्मत्वापत्तौ 'वारणार्थानामीप्सितः' इत्यस्य अनवकाशतया माणवकादपि पञ्चम्यापत्तेः। कृते तु तस्मिन् ईप्सिततमे अस्य प्रवृत्तिरिति। 'पयः पिबति' इत्यादौ तु पयसः ईप्सिततमत्वेन कर्मसंज्ञा भवत्येवेति दिक्।

कर्मणि द्वितीया—अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात्। अर्थात् यदि कर्मणोऽभिधानं द्वितीयातिरिक्तविभक्तिभिर्न कृतं तदा कर्मपदात् द्वितीया भवति। यथा—'देवो ग्रामं गच्छति' अत्र देवः स्वगमनक्रियाद्वारा ग्रामं प्राप्तुम् इष्टतमं मन्यते अतोऽत्र ग्रामपदं-कर्मकारकं भवति।

---

अर्थात् क्रिया द्वारा जो आक्रान्त हो, याने कर्ता अपनी क्रिया ( व्यापार ) द्वारा जिसको प्राप्त करता हो उसे कर्मकारक कहते हैं ( कर्मकारक से द्वितीया विभक्ति होती है )।

अनभि—यह भी अधिकार सूत्र है। अनभिहित का अर्थ है। 'अनुक्त'—जो किसी पद-विशेष या पदांश द्वारा कहा न गया हो। उस 'अनभिहित' का आगे आने वाले सूत्रों मे अन्वय करके अर्थ करना चाहिए।

कर्मणि—अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

हरिं भजति। अभिहिते तु कर्मणि 'प्रातिपदिकार्थमात्रे' इति प्रथमैव। अभिधानं च प्रायेण तिङ्कृत्तद्धितसमासैः। तिङ्—हरिः सेव्यते। कृत्-लक्ष्म्या सेवितः। तद्धितः-शतेन क्रीतः शत्यः। समासः—प्राप्तः आनन्दो यं स प्राप्तानन्दः। क्वचिन्निपातेनाभिधानम्। यथा—'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्'। साम्प्रतमित्यस्य हि युज्यत इत्यर्थः। ५३९ तथा युक्तं चानीप्सितम् १।४।५०। ईप्सिततमवत्क्रियया युक्तमनीप्सितमपि कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति। ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते।

---

हरिं भजति (ई. ५८, ६०)—अत्र हरिशब्दस्य 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इति (भजकर्तृवृत्तिक्रियाजन्यप्रीतिरूपफलाश्रयत्वेनेच्छोद्देश्यतया) कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इति 'द्व्येकयोः—' इत्येकवाक्यतया द्वितीयैकवचनेऽमि पूर्वरूपे 'हरिम्' इति।

हरिः सेव्यते (ई. ६८, ७०)—अत्र हरिशब्दस्य सेवकवृत्तिसेवारूपक्रियाजन्यप्रीतिरूपफलाश्रयत्वेन—इच्छोद्देश्यतया 'कर्तुरीप्सित—' इति कर्मत्वेऽपि तस्य 'सेव्यते' इति कर्मतिङाऽभिहितत्वेन 'अनभिहिते' इत्यधिकारेण द्वितीयाप्रवृत्तौ हरित्वहरि-पुंस्त्वरूपाणां त्रयाणामेवार्थानां प्रतिपादने 'प्रातिपदिकार्थ—' इति प्रथमैवेति 'हरिः सेव्यते' इति सिद्धम्।

ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति (ई. ७४)—अत्र स्पृश्यमानस्य तृणस्य ईप्सिततमत्वाभावेऽपि 'गंगां स्पृशति' इत्यादौ स्पृश्यमानस्य ईप्सिततमस्य गंगादेरिव क्रियाजन्यसंयोगात्मकफलाश्रयत्वात् 'तथायुक्तं चानीप्सितम्' इति कर्मत्वात् 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया भवति। ग्रामस्य तु 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इति कर्मत्वं बोध्यम्।

ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते (ई. ६१, ६८, ७०)—अत्र विषस्य

---

क्वचिन्नि—कहीं निपात से भी कर्म का अभिधान होता है। यथा—'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयंच्छेतुम् असाम्प्रतम्'। 'साम्प्रतम्' निपात है, जिसका अर्थ है 'युज्यते', इससे विषवृक्षरूप कर्म उक्त हो गया है, अतः कर्म (विषवृक्षो) में द्वितीया नहीं हुई।

तथायुक्तं—(क्वचित्) जब कोई पदार्थ कर्ता द्वारा अत्यधिक ईप्सीत होने पर भी क्रिया से ईप्सीततम के समान अत्यधिक सम्बन्ध रखता है, तब उस पदार्थ की भी कर्मसंज्ञा होती है।

५४० अकथितं च १।४।५१ । अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् ।

दुह्-याच्-पच्-दण्ड्-रुधि-प्रच्छि-चि-ब्रू-शासु-जि-मथ्-मुषाम् ।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नी-हृ-कृष्-वहाम् ॥

'दुह्यादीनां द्वादशानां तथा नीप्रभृतीनां चतुर्णां कर्मणा यद्युज्यते तदेवाकथितं कर्म' इति परिगणनं कर्तव्यमित्यर्थः ।

---

द्वेष्यतया ईप्सिततमत्वाभावेपि 'ओदनं भुङ्क्ते' इत्यादौ भुज्यमानस्य ईप्सिततमस्य ओदनादेरिव क्रियाजन्यगलबिलप्रवेशात्मकफलाश्रयत्वात् 'तथायुक्तं चानीप्सितम्' इति कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया भवति । ओदनस्य तु 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इति कर्मत्वं ज्ञेयम् ।

अकथितञ्च ( सू. ७० )—यदा अपादानत्वादिविशेषात्मना न विवक्षितं, किन्तु सम्बन्धसामान्यात्मनैव, तदा तत्कर्मसंज्ञकमिति सूत्रार्थः । न चैवमपादानस्य सम्बन्धित्वेन विवक्षितत्वात् सर्वत्र कर्मसंज्ञाऽपत्तिः स्यादिति चेदत्र वार्तिककृता श्लोकेन परिगणितम् 'दुह् याच्-पच्-दण्ड' इत्यादिना मूले ।

---

अकथितं—अपादानादि कारकों की अविवक्षा से कर्मत्व रूप में ही वक्ता की विवक्षा होने पर अपादानादि भी कर्म हो जाते हैं ।

तात्पर्य है कि यदि अपादानादि कारकों को उन्हीं के रूप में प्रकट करना इष्ट न हो—केवल साधारण रूप में ही उन्हें कारक अभिव्यक्त करना हो, तो उन्हें कर्म मान लिया जाता है । ऐसी अवस्था में उन्हें—'अकथित' या 'अविवक्षित' अथवा 'गौणकर्म कहते हैं, यद्यपि उनमें अर्थ की प्रतीति कर्म से भिन्न रूप में होती है ।

दुह्याच्—इन धातुओं में प्रधान और अप्रधान दो कर्म होते हैं । क्रिया के साथ प्रधान रूप से जिसका सम्बन्ध होता है, उसे प्रधान कर्म कहते हैं । इन्हीं परिगणित दुहादि धातुओं या इनके समानार्थक धातुओं के ही अपादानादि विशेष कारकों की अविवक्षा कर कर्मसंज्ञा की जानी चाहिए—अन्य धातुओं के नहीं । इस प्रकार वे अपादानादि के रूप में अविवक्षित होने से कर्मकारक होते हैं अत एव अकथित कर्म कहलाते हैं । इन धातुओं के प्रधान कर्म से उनका सम्बन्ध होता है, अतः वे गौण कर्म कहलाते हैं ।

परिगणनं—परिगणित धातुओं के प्रकृति स्वरूप—१. दुह् प्रपूरणे (दुहना

गां दोग्धि पयः। बलिं याचते वसुधाम्। अविनीतं विनयं याचते। तण्डुलानोदनं पचति। गर्गान् शतं दण्डयति। व्रजमवरुणद्धि गाम्। माणवकं

गां दोग्धि पयः ( ई. ६८, ७० )—गोः सकाशात् पयः क्षारयतीत्यर्थः। अत्र क्षरणे गोरपादानत्वात् प्राप्तां पञ्चमीं बाधित्वा 'अकथितञ्चे'ति कर्मत्वे कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया भवति। पयसस्तु 'कर्तुरीप्तिततमं कर्मे'ति कर्मत्वं बोध्यम्।

बलिं याचते वसुधाम् ( ई. ६२, ६४, ६८ )—अत्र बलेरित्यस्य 'अकथितञ्च' इति कर्मत्वात् द्वितीया। बलिकर्तृकं वसुधाकर्मकं दानं प्रार्थयते इत्यर्थः। वसुधायास्तु 'कर्तुरि'ति कर्मत्वम्।

परिगणनं—अयमाशयः, संस्कृते कियन्तो धावत: द्विकर्मकाः मन्यन्ते। द्विकर्मकत्वं न कस्याऽपि धातोः स्वाभाविकं किन्तु वक्तुरीच्छाधीनम्, अत एव तादृशं गौणकर्म कथ्यते॥ तथा च यदा वक्ता अपादानादिविवक्षाम् अकृत्वा कर्मणि विवक्षते तदा तत्र गौणी कर्मसंज्ञा भवति। अत एव सूत्रकृता (पाणिनिना) तेषाम् अकथितं कर्मेति नाम कृतम्। तदपि परिगणितधातुप्रयोगे एव, नतु सर्वत्रेति।

अविनीतं विनयं याचते ( ई. ५९, ६२ )—अविनीतकर्तृकं विनयकर्मकमभ्युपगमं प्रार्थयत इत्यर्थः। अत्र 'अकथितञ्च' इति कर्तुः कर्मत्वविवक्षायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया भवति। विनयस्य तु 'कर्तुरीप्सिततमं कर्मे'ति कर्मत्वं बोध्यम्।

व्रजमवरुणद्धि गाम् ( ई. ७०, ७३ )—गां निर्गमप्रतिबन्धपूर्वकं व्रजे

२. टुयाचृ याच्ञायाम् ( मांगना ), ३. पच् पाके ( पकाना ), ४. दण्ड ताड़ने ( सजा देना ), ५. रुधिर् आवरणे ( रोकना ), ६. प्रच्छ् ज्ञीप्सायाम् (पूछना), ७. चिञ् चयने ( चुनना ), ८. ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि ( स्पष्ट बोलना ), ९. शासु अनुशिष्टौ ( शासन करना ), १०. जि अभिभवे (जीतना), ११. मन्थ् विलोडने ( मथना ), १२. मुष् स्तेये ( चुराना ) तथा १३. णीय् प्रापणे ( ले जाना ), १४. हृञ् हरणे ( जबरजस्ती ले जाना ), १५. कृष् विलेखने ( खींचना ), १६. वह् प्रापणे ( पहुँचाना )।

नोट—'विवक्षाधीनानि कारकाणि भवन्ति' इस सिद्धान्त से वक्तुः इच्छा= विवक्षा करने पर—'गोः दुग्धं दोग्धि, प्रभोः धनं याचते, इत्यादि अपादानादि कारक भी हो सकते हैं।

पन्थानं पृच्छति। वृक्षमवचिनोति फलानि। माणवकं धर्मं ब्रूते, शास्ति वा। शतं जयति देवदत्तम्। सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति। देवदत्तं शतं मुष्णाति। ग्राममजां नयति हरति, कर्षति, वहति वा। अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा। बलिं भिक्षते वसुधाम्। माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति।

---

चिरस्थितिकां करोतीत्यर्थः। अत्र चिरस्थितिं प्रति व्रजस्याधिकरणमुपेक्ष्य गोद्वारा तत्स्थित्याश्रयतया 'अकथितञ्च' इति कर्मत्वविवक्षायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया। गोरित्यस्य तु 'कर्तुरि'ति कर्मत्वम्।

वृक्षमवचिनोति फलानि (ई. ६९)—वृक्षात् प्रच्याव्य फलान्यादत्ते इत्यर्थः। अत्र प्रच्याव्यादानविषयत्वात् फलानि प्रधानकर्म, प्रच्यवावधित्वात् वृक्षोऽपादनम्। तस्य अपादानमुपेक्ष्य 'अकथितञ्च' इति कर्मत्वविवक्षायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया।

माणवकं धर्मं ब्रूते (ई. ६८)-माणवकाय धर्मं बोधयतीत्यर्थः। व्यापार-प्रयोज्यबोधविषयत्वाद् धर्मः प्रधानकर्म। बोधविषयेण कर्मणाऽभिप्रेयमाणत्वात् माणवकः सम्प्रदानम्। तस्य सम्प्रदानत्वमुपेक्ष्य 'अकथितञ्च' इति कर्मत्व-विवक्षायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया भवति।

सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति—(ई. ७४)—क्षीरोदधेः सकाशात् सुधां मन्थानदण्डभ्रमणेनोद्भावयतीत्यर्थः। अत्र सुधां प्रधानकर्म, क्षीरोदधिस्तु उद्भवं प्रत्यपादानम्। तस्य 'अकथितञ्च' इत्यनेन कर्मत्वविवक्षायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया भवति।

बलिं भिक्षते वसुधाम् (ई. ७५)—'अहमपीदमचोद्यं चोद्ये' इति 'तद्राजस्य बहुषु' इति सूत्रस्थभाष्यात् 'अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा' इति ज्ञायते। तथा च दुहाद्यर्थकधात्वन्तरयोगेऽपि द्विकर्मकत्वं लभ्यते। तेन 'बलिं भिक्षते वसुधाम्' इत्यादावपि 'अकथितं च' इति गौणे कर्मणि द्वितीया भवति।

अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा—परिगणितानां दुहादिषोडश धातूनां ये अर्थाः

---

अर्थनिबन्धने—यह उपर्युक्त परिगणित १६ धातुओं के अपादानादि विशेष कारकों की अविवक्षा कर देने पर, जो कर्मसंज्ञा कही गयी है वह धातुओं के अर्थ पर आधारित है, अर्थात् इन १६ धातुओं के समान अर्थवाली जितनी धातुएँ हैं, उनके योग में भी कर्मसंज्ञा होती है। यथा—'बलिं भिक्षते वसुधाम्। इत्यादि।

१२६ अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम् ॥ कुरून् स्वपिति । मासमास्ते । गोदोहमास्ते । क्रोशमास्ते ।
५४१ गति-बुद्धि-प्रत्यवसानार्थ-शब्दकर्माऽकर्मकाणामणि कर्ता स णौ १।४।५२। गत्याद्यर्थानां शब्दकर्मणामकर्मकाणां चाणौ यः कर्ता स णौ कर्म स्यात् ।

---

तदर्थकाः ये ये धातवः तेषां प्रयोगेऽपि अपादानादिविशेषैः अविवक्षितं कारकं गौण ( अकथित ) कर्मसंज्ञकं भवति । अत एव 'बलिं याचते वसुधाम्' इत्यादि साधु ।

( नव्यास्तु परिगणितातिरिक्तानां येषां द्विकर्मकत्वमिष्टं तेषां व्यापाराद्यर्थकत्वेन 'कर्तु'रित्येव कर्मत्वमिति वदन्ति । अत एव 'दुहि-याचि-रुधि-प्रच्छि-भिक्षि-चिञाम्' इति भाष्योक्तपरिगणनेन भिक्षिग्रहणं चरितार्थमिति वदन्ति । )

कुरून् स्वपिति ( ई. ६९, ७१ )—कुरुषु निद्रां करोतीत्यर्थः । कुर्वादिरनुद्देश्यत्वादत्र 'कर्तु'रित्यनेन कर्मत्वाभावात् 'अकर्मकधातुभिर्योगे' इति कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया भवति । ग्रामसमूहात्मककुरुपञ्चालाऽवन्त्यादिपरोऽत्र देशशब्दः, न तु ग्रामादिरपि । तेन 'ग्रामे स्वपिति' इत्यत्र न द्वितीया ।

क्रोशमास्ते ( ई. ६९ )—अत्र 'कालाध्वनोः–' इति वार्तिकेन कर्मत्वात् 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया भवति । अत्र वार्तिके गन्तव्यत्वेनाऽध्वनो विशेषितत्वात् नियतपरिमाणः क्रोशादिरेव गृह्यते । तेन 'अध्वन्यास्ते' इत्यत्र द्वितीया न भवति ।

गतिबुद्धि ( ई. ६०, ६८ )—गत्याद्यर्थानां शब्दकर्मणामकर्मकाणां चाऽणौ यः कर्ता स णौ कर्म स्यादिति सूत्रार्थः । 'शत्रूनगमयत् स्वर्गम्' इत्याद्युदाहर-

---

अकर्मक—अकर्मक धातुओं के योग में—देश, काल ( दिन, रात, मास, वर्ष आदि ), भाव ( अवस्था ) तथा मार्ग ( गन्तव्य अध्वा )—इन चारों की कर्मसंज्ञा होती है ।

नोट—'गोदोहमास्ते' यहाँ 'गोदोहनं गोदोहः' गोदोह शब्द भाववाचक है । गोदोहम् आस्ते = गोदोहन का समय है, यह अर्थ है ।

गतिबुद्धि—गत्यर्थक ( चलना ), बुद्ध्यर्थक ( समझना ), प्रत्यवसान (भोजन) अर्थक धातुओं का शब्दकर्मक तथा अकर्मक धातुओं का अण्यन्तावस्था में जो कर्ता वह ण्यन्तावस्था में ( णिच् होने पर ) कर्म हो जाता है ।

शत्रूनगमयत् स्वर्गं वेदार्थं स्वानवेदयत् ।
आशयच्चामृतं देवान् वेदमध्यापयद् विधिम् ॥

णानि । शत्रवः स्वर्गमगच्छन् हरिस्तान् प्रैरिरदिति-शत्रूनगमयत् स्वर्गम् । गत्यर्थस्योदाहरणमिदम् । स्वे=स्वकीयाः, वेदार्थमविदुः, तान् हरिः वेदार्थमवेदयदिति वेदार्थं स्वानवेदयत् । बुद्धिचर्यस्योदाहरणमिदम् । देवाः अमृतमाश्नन्, तान् हरिः आशयदिति—आशयच्चामृतं देवान् । प्रत्यवसानार्थस्योदाहरणमिदम् । विधिः वेदमधी तं हरिः अध्यापयदिति-वेदमध्यापयद्विधिम् । शब्दकर्मणः उदाहरणमेतत् । सलिले पृथ्वी आस्ते, तां हरिः आसयदिति—आसयत् सलिले पृथ्वीम् । अकर्मकस्योदाहरणमेतत् । ( यः स मे श्रीहरिर्गतिरिति प्रतिवाक्यमन्वयः ) ।

शत्रूनगमयत् स्वर्गम् ( ई. ७०, ७२ )—'गतिबुद्धि—' सूत्रस्थगत्यर्थस्योदाहरणमिदम् । शत्रवः ( युद्धे मृताः ) स्वर्गमगच्छन् तान् हरिः प्रैरिरदिति—हरिः शत्रून् स्वर्गमगमयत् । शत्रुनिष्ठं यद् गमनं तदनुकूलो यन्निष्ठो व्यापारः स हरिर्मे गतिरस्तु, इति वाक्यार्थः । ननु शत्रूनगमयदित्यादौ 'कर्तुः—' इति सूत्रेणैव कर्मत्वे सिद्धे 'गतिबुद्धि—' इति सूत्रं व्यर्थमिति चेन्न, 'णिजर्थव्यापारप्रयोज्यफलाश्रयाणां यदि कर्मत्वं स्यात् तर्हि गत्याद्यर्थकानामेव' इति नियमार्थंत्वात् । तेन 'पाचयत्योदनं देवदत्तेन यज्ञदत्तः' इत्यादौ देवदत्तस्य कर्मत्वं नेति ।

वेदमध्यापयद्विधिम् ( ई. ६८, ६९ )—'गतिबुद्धि—' सूत्रस्थशब्दकर्मणः उदाहरणमेतत् । विधिः = ब्रह्मा, वेदमधीतवान्, तं हरिः अध्यापयदित्यर्थः । अत्र प्रयोज्यकर्तुर्विधेः कर्मत्वम् ।

---

शत्रूनगमयत्—इस कारिका में 'गतिबुद्धि' सूत्र के पाँचों उदाहरण है—( १ ) शत्रवः स्वर्गम् अगच्छन्, तान् ( हरिः ) प्रैरयत्, इति 'शत्रूनगमयत्' = जिसने शत्रुओं को स्वर्ग पहुचाया । ( २ ) स्वे वेदार्थम् अविदुः तान् ( हरिः ) प्रैरयत्, इति 'वेदार्थं स्वानवेदयत्' = जिसने अपने लोगों को वेदार्थ का ज्ञान कराया । (३) देवाः अमृतम् आश्नन् तान् (हरिः) प्रैरयत्, इति 'आशयच्चाऽमृतं देवान् = जिसने देवताओं को अमृत पिलाया । ( ४ ) विधिः वेदम् अध्यैत तं ( हरिः ) प्रैरयत्, इति 'वेदमध्यापयद्विधिम्' = जिसने ब्रह्मा को वेद पढ़ाया । ( ५ ) पृथ्वी सलिले आस्त, तां ( हरिः ) प्रैरयत्, इति 'आसयत् सलिले पृथ्वीम् = जिसने पृथ्वी को जल पर ठहराया । 'स मे श्रीहरिर्गतिः=वह श्रीहरि मेरी गति ( रक्षक ) हों ।

**आसयत् सलिले पृथ्वीं यः स मे श्रीहरिर्गतिः ।**

'गति' इत्यादि किम् ? पाचयत्योदनं देवदत्तेन । 'अण्यन्तानाम्' किम् ? गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तं, तमपरः प्रयुङ्क्ते, गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः । १२७ नीवह्योर्न* । नाययति वाहयति वा भारं भृत्येन ।

१२८ नियन्तृकर्तृकस्य वहेरनिषेधः* । वाहयति रथं वाहान् सूतः । १२९ आदिखाद्योर्न* । आदयति खादयति वा अन्नं बटुना ।

१३० भक्षेरहिंसार्थस्य न* । भक्षयत्यन्नं बटुना । 'अहिंसार्थस्य' किम् ? भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम् । १३१ जल्पतिप्रभृतीनामुपसङ्ख्यानम्* । जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः १३२ दृशेश्च ।

---

आसयत् सलिले पृथ्वीम् ( ई. ६० )—'गतिबुद्धि—' सूत्रस्थाऽकर्मकस्योदाहरणमिदम् । सलिले पृथ्वी आस्ते, तां हरिः आसयदित्यर्थः । अत्र पृथिव्याः प्रयोज्यकर्त्र्याः कर्मत्वम् ।

नाययति० ( ई. ६५, ७० )—भृत्यो भारं नयति वहति वा, तमधिपतिः प्रेरयतीत्यर्थः । अत्र 'नीवह्योर्न' इति निषेधात् भृत्यस्य 'गतिबुद्धि–' इति कर्मत्वं न भवति ।

---

नीवह्यो—'नी' और 'वह्' धातुओं के अण्यन्त अवस्था का कर्ता ण्यन्त अवस्था में कर्म नहीं होता है ।

नियन्तृ—( किन्तु ) 'वह्' धातु का कर्ता यदि प्रेरणार्थक में नियन्ता ( पशु-वाहक या सारथि ) हो तो पूर्वोक्त निषेध लागू नहीं होता अर्थात् अण्यन्त अवस्था का कर्ता ण्यन्त अवस्था में कर्म हो जाता है ।

आदि—भक्षणार्थक ण्यन्त 'आदि' और खादि धातुओं की अण्यन्तावस्था के कर्ता का प्रेरणार्थक ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा का प्रतिषेध समझना चाहिए—कर्मसंज्ञा नहीं होती है ।

भक्षेः–अहिंसार्थक 'भक्ष्' धातु के अण्यन्तावस्था के कर्ता का भी प्रेरणार्थक ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा नहीं होती है ।

जल्प—'गति बुद्धि' सूत्र में 'जल्प' आदि धातुओं का भी ग्रहण करना चाहिए—अर्थात् 'जल्प' आदि धातुओं के अण्यन्तावस्था में जो कर्ता, वह प्रेरणार्थक ण्यन्तावस्था में कर्म हो जाता है ।

दृशेश्च—'दृश्' धातु के भी अण्यन्तावस्था के कर्ता को प्रेरणार्थक ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा होती है ।

दर्शयति हरिं भक्तान्। सूत्रे ज्ञानसामान्यार्थानामेव ग्रहणं, नतु तद्विशेषार्थानामिति अनेन ज्ञाप्यते। तेन 'स्मरति' 'जिघ्रति' इत्यादीनां न। स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन। १३३ शब्दायतेर्न॥। शब्दाययति। देवदत्तेन। धात्वर्थसंगृहीतकर्मत्वेनाकर्मकत्वात् प्राप्तिः। येषां देशकालादिभिन्नं कर्म न सम्भवति तेऽत्राकर्मकाः, न त्वविवक्षितकर्माणोऽपि। तेन 'मासमासयति देवदत्तम्'

---

दर्शयति हरिं भक्तान् ( ई. ६८, ७०, ७२ )—हरिं भक्ताः पश्यन्ति तान् गुरुः प्रेरयतीत्यर्थः। अत्र 'दृशेश्च' इति अण्यन्तकर्तुः कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया भवति। नन्वत्र बुद्धयर्थत्वादेव कर्मत्वे सिद्धे 'दृशेश्चे'ति वार्तिकं किमर्थमिति चेन्न' 'गतिबुद्धि—' इति सूत्रे ज्ञानसामान्यार्थानामेव ग्रहणं न तु तद्विशेषार्थानामिति ज्ञापनार्थत्वात्। तेन स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेनेत्यत्र कर्मत्वं नेति।

मासमासयति ( ई. ६१, ६४, ७५ )—अयम्भावः, धातोरर्थान्तरे वृत्ते धात्वर्थेनोपसंग्रहात्। प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया' इत्युक्त्या अविवक्षितकर्मत्वेन अकर्मकत्वात् 'पाचयति देवदत्तेन' इत्यत्र कर्मत्वं कुतो नेति चेन्न, अकर्मकग्रहणसामर्थ्यात् 'येषां देशकालादिभिन्नं कर्म न सम्भवति तेऽत्राऽकर्मकाः, नत्वविवक्षितकर्माणोऽपि' इत्यर्थबोधनेनादोषात्। तेन 'मासमासयति देवदत्तम्' इत्यत्र कर्मत्वं भवति। 'देवदत्तेन पाचयति' इत्यादौ तु नेति दिक्।

---

शब्दा—'शब्दाय' ( नामधातु ) के कर्ता को प्रेरणार्थक ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा नहीं होती है।

येषां—यहाँ ( 'गतिबुद्धि' सूत्र में ) अकर्मक धातुओं में उन्हीं धातुओं का ग्रहण है, जिनका देश, काल आदि से भिन्न कर्म न हो, अर्थात् देश, काल ही जिनका कर्म हो। नतु = न कि ऐसी अकर्मक धातुओं का ग्रहण होता है, जो कि सकर्मक होती हुई भी वक्ताद्वारा कर्म की अविवक्षा करके अकर्मक रूप में प्रयुक्त होती हो।

नोट—वक्ता की विवक्षा पर सकर्मक धातु भी अकर्मक हो जाता है।

"धातोरर्थान्तरे वृत्ते, धात्वर्थेनैव संग्रहात्।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया॥

इत्यादौ कर्मत्वं भवत्येव । 'देवदत्तेन पाचयति' इत्यादौ तु न । ५४२ हृक्रोरन्यतरस्याम् १।२।५३ हृक्रोरणौ यः कर्ता स णौ वा कर्मसंज्ञः स्यात् । हारयति कारयति वा भृत्यं—भृत्येन वा कटम् । १३४ अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्॥ अभिवादयते दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन वा । ५४३ अधिशीङ्स्थासां कर्म १।४।४६ अभिपूर्वाणामेषामाधारः कर्म स्यात् । अधिशेते, अधितिष्ठति, अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः । ५४४ अभि-नि-विशश्च १।४।४७ अभिनीत्येतत्सङ्घातपूर्वस्य विशतेराधारः कर्म स्यात् । अभिनिविशते सन्मार्गम् । 'परिक्रयणे सम्प्रदानम्'—( सू ५८१ ) इति सूत्रादिह मण्डूकप्लुत्या अन्यतरस्यां ग्रहणमनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाश्रयणात् क्वचिन्न । पापेऽभिनिवेशः । ५४५ उपान्वध्याङ्वसः १।४।४८ उपादिपूर्वस्य वसतेराधारः कर्म स्यात् । उपवसति, अनुपवसति, अधिवसति, आवसति वा वैकुण्ठं हरिः । १३५ अभुक्त्यर्थस्य न॥ वने उपवसति ।

---

अधितिष्ठति वैकुण्ठं हरिः ( ई. ६५ )—अत्र 'अधिशीङ्स्थासां कर्म,' इति कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया भवति । अधिस्त्वत्र सप्तम्यर्थस्याधारस्य द्योतकः । वैकुण्ठे हरिः तिष्ठतीत्यर्थः ।

उपवसति ( ई. ५६, ६१ )—'उपान्वध्याङ्वसः' इत्यनेनात्र कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया भवति । वैकुण्ठे हरिः वसतीत्यर्थः । उपसर्गावत्राधारद्योतकाविति ।

---

हृक्रो—हृ ( ले जाना ) और कृ ( करना ) धातुओं के अण्यन्तावस्था का जो कर्ता उसे ण्यन्तावस्था में विकल्प से कर्मसंज्ञा होती है ।

अभिवादि—आत्मनेपद में अभिपूर्वक 'वद्' धातु तथा 'दृश्' धातु की अण्यन्तावस्था के कर्ता की ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा समझनी चाहिए ।

अधि—अधि उपसर्गक शीङ् ( सोना ), स्था ( ठहरना ) तथा आस् ( बैठना ) धातुओं के आधार की कर्मसंज्ञा होती है ।

अभि—'अभि' तथा 'नि' उपसर्ग-विशिष्ट विश् धातु के आधार की भी कर्मसंज्ञा होती है ।

उपा—उप, अनु, अधि अथवा आङ् उपसर्ग-विशिष्ट वस् ( निवास ) धातु के आधार की कर्मसंज्ञा होती है ।

अभु—किन्तु जब 'उप' उपसर्गपूर्वक वस् धातु का अर्थ 'उपवास' करना होता है, तब उसके आधार की कर्मसंज्ञा नहीं होती है ।

१३६ उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु ।
द्वितीयाम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते* ॥

उभयतः कृष्णं गोपाः । सर्वतः कृष्णम् । धिक् कृष्णाभक्तम् । उपर्युपरि लोकं हरिः । अध्यधि लोकम् । अधोऽधो लोकम् ।

१३७ अभितः-परितः-समया-निकषा-हा-प्रतियोगेऽपि* । अभितः कृष्णम् । परितः कृष्णम् । ग्रामं समया । निकषा लङ्काम् । हा कृष्णाभक्तम् । तस्य शोच्यत इत्यर्थः । बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित् । ५४६ अन्तराऽन्तरेण युक्ते २।३।४ आभ्यां योगे द्वितीया स्यात् । अन्तरा त्वां मां हरिः । अन्तरेण हरिं न सुखम् ।

---

उभसर्वतसोरिति—उभशब्दसर्वशब्दप्रकृतिक-तसन्तयोः प्रयोगे सति, धिक्-शब्दस्य प्रयोगे सति, कृतद्विर्वचनेषु उपर्यादिषु त्रिषु प्रयुज्यमानेषु ततः उक्त-प्रदेशेभ्योऽन्यत्रापि ( वक्ष्यमाण 'अभितः' इत्यादि योगेऽपि ) द्वितीयेत्यर्थः ।

सर्वतः कृष्णम् ( ई. ६६, ७२ )—कृष्णस्य सर्वेषु पार्श्वेषु गोपाः इत्यर्थः । अत्र 'उभसर्वतसोः इति श्लोकवार्तिकेन द्वितीया भवति ।

उपर्युपरि लोकं हरिः (ई. ७१)–'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' इति द्विर्वचनम् । लोकस्य समीपे उपरि हरिरस्तीत्यर्थः । 'उभसर्वतसोः–' इत्यनेनात्र द्वितीया ।

---

उपपद—यहाँ से पद ( प्रातिपदिक ) को आश्रयण करके कर्मसंज्ञक द्वितीया विभक्ति शुरू होती है ।

**पदमाश्रित्योत्पन्ना या विभक्तिः सा उपपदविभक्तिः ।**

उभसर्वतसः—उभयतः, सर्वतः, धिक्, तथा—उपर्युपरि, अध्यधि, अधोऽधः शब्दों और इनसे भिन्न दूसरे शब्दों के योग में भी प्रातिपदिक से द्वितीया विभक्ति होती है ।

अभितः—अभितः ( आगे-पीछे ) परितः (चारो ओर), समया (समीप), निकषा (समीप), हा (शोक) और प्रति के योग में भी द्वितीया विभक्ति होती है ।

नोट—'उभसर्वतसः' इस श्लोकवार्तिकोक्त **'ततोऽन्यत्राऽपि दृश्यते'** वाक्य का ही यह वार्तिक फलितार्थ कथन है ।

अन्तरा—अन्तरा ( मध्य ), अन्तरेण ( विना ) इन ( अव्यय पदों ) के योग में द्वितीया विभक्ति होती है ।

## ( कर्मप्रवचनीयप्रकरणम् )

५४७ कर्मप्रवचनीयाः १।४।८३ इत्यधिकृत्य। ५४८ अनुर्लक्षणे १।४।८४ लक्षणे द्योत्येऽनुरुक्तसंज्ञः स्यात्। गत्युपसर्गसंज्ञाऽपवादः। ५४९ कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया २।३।८ एतेन योगे द्वितीया स्यात्। जपमनु प्रावर्षत्! हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थः। परापि 'हेतौ' (सू ५६९) इति तृतीया अनेन बाध्यते, 'लक्षणेत्थम्भूत'—( सू ५५३ ) इत्यादिना सिद्धे पुनः संज्ञाविधानसामर्थ्यात्। ५५० तृतीयार्थे १।२।८५ अस्मिन् द्योत्येऽनुरुक्तसंज्ञः स्यात्। नदीमन्ववसिता सेना। नद्या सह सम्बद्धेत्यर्थः। पिञ् 'बन्धने' क्तः। ५५१ हीने १।४।८६ हीने द्योत्येऽनुः प्राग्वत्। अनु हरिं सुराः। हरेर्हीना इत्यर्थः। ५५२ उपोऽधिके च १।४।८७ अधिके हीने च द्योत्ये उपेत्यव्ययं प्राक्संज्ञं स्यात्। अधिके सप्तमी वक्ष्यते। हीने उप हरिं सुराः। ५५३

---

जपमनु प्रावर्षत् ( ई. ७०, ७४ )—कदा पर्जन्योऽवर्षदिति प्रश्ने उत्तरमिदम्। अत्र 'अनुर्लक्षणे' इति कर्मप्रवचनीसंज्ञायां 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इति द्वितीयायां जपमनु इति वाक्यघटकजमित्यस्य सिद्धिः। सम्बन्धश्चात्र लक्ष्यलक्षणभावः।

---

कर्मप्र—यहां से 'कर्मप्रवचनीयाः' इस पद का अधिकार कर के—आगे के सूत्रों में 'कर्मप्रवचनीय' पद उपस्थित होकर सूत्रस्थ पदों के साथ जुट कर अपना अर्थ बोध कराता है।

अनु—लक्षण बताने के अर्थ में 'अनु' की कर्मप्रचनीय संज्ञा होती है। यह कर्मप्रवचनीय संज्ञा—गतिसंज्ञा और उपसर्गसंज्ञा का बाधक है।

कर्मप्रवचनीय—( अनु, अप, प्रति, परि, अभि, अधि, सु, अति, अपि, उप, आङ्—इन्ही की कर्मप्रचनीय संज्ञा होती है कर्मप्रवचनीय के योग में प्रातिपदिक से द्वितीया विभक्ति होती है।

तृतीयार्थे—तृतीयार्थ के द्योतित होने पर 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

हीने—हीनता के द्योतित होने पर 'अनु' की कर्मप्रचनीय संज्ञा होती है।

उपो—हीनता तथा अधिकता के द्योतित होने पर 'उप' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

लक्षणेत्थम्भूताख्यान-भाग-वीप्सासु प्रति-पर्यनवः १।४।९० एष्वर्थेषु विषय-भूतेषु प्रत्यादय उक्तसंज्ञाः स्युः। लक्षणे—वृक्षं प्रति, परि, अनु वा विद्योतते विद्युत्। इत्थम्भूताख्याने—भक्तो विष्णुं प्रति, परि, अनु वा। भागे—लक्ष्मीर्हरिं प्रति, परि, अनु वा। हरेर्भाग इत्यर्थः। वीप्सायाम्—वृक्षं वृक्षं प्रति, परि, अनु वा

---

लक्षणत्वञ्च (ई. ६८)—'ज्ञानजनकज्ञानविषयत्वम्'। लक्ष्यत्वञ्च—'ज्ञानजन्यज्ञानविषयत्वम्' ज्ञानं वर्षणज्ञानं तज्जनकं ज्ञानं जपज्ञानं तद्विषयता जपे। ज्ञानं जपज्ञानं तज्जन्यं ज्ञानं वर्षणज्ञानं तद्विषयता वर्षणे इति लक्षणसमन्वयः। ननु यदैव ब्राह्मणद्वारा जपो जातस्तदैव देवकर्तृकं वर्षणमपि जातमिति वर्षणे जपो हेतुर्भवति, तथा च 'हेतौ' इति परत्वात् तृतीया स्यादिति चेन्न, 'लक्षणेत्थम्–' इत्यादिना कर्मप्रवचनीयसंज्ञाविधानेन सिद्धे पुनः कर्म-प्रवचनीयसंज्ञाविधानसामर्थ्यान्नेति। नच विजातीयया संज्ञया तृतीयायाः विभक्तेर्बाधः कर्तुं न शक्यः इति वाच्यम्, संज्ञाविधानबोधितद्वितीयाविधान-सामर्थ्यात्।

भक्तो विष्णुं प्रति (ई. ७२, ७४)—अत्र 'लक्षणेत्थम्भूताख्यानं' इति प्रतीत्यस्य कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इति द्वितीया भवति। विष्णुविषयकभक्तिमानित्यर्थः। इत्थम्भूताख्यानस्योदाहरणमेतत्।

लक्ष्मीर्हरिं प्रति (ई. ७३)—अत्र 'लक्षणेत्थम्–' इति प्रतेः कर्मप्रव-चनीयसंज्ञायां 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इति द्वितीया भवति। भागस्योदाहरण-मिदम्। स्वामित्वं द्वितीयार्थः, प्रत्यादिद्योत्यः। तदुक्तं मूले हरेर्भाग इत्यर्थः।

वृक्षं वृक्षं प्रति (ई. ७१, ७४)—अत्र 'लक्षणेत्थम्–' इति वीप्सार्थे प्रतेः कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां तद्योगे द्वितीया भवति। नच सेचने वृक्षस्य कर्मत्वादेव द्वितीयासिद्धेः किमिह कर्मप्रवचनीयसंज्ञयेति चेत् सत्यम्, कर्मप्रवचनीयसंज्ञया उपसर्गसंज्ञायाः बाधात् 'उपसर्गात् सुनोति–' इति षत्ववारणाय तस्यावश्य-

---

लक्षणे—लक्षण, इत्थम्भूताख्यान, भाग (हिस्सा) और वीप्सा के द्योतित होने पर—प्रति, परि तथा अनु की कर्मप्रचनीय संज्ञा होती है।

नोट—**इत्थंभूताख्यानम्**—अयं प्रकारः इत्थम्, तं प्राप्तः इत्थंभूतः, तस्य आख्यानम् (उपपादकम्) इत्थंभूतव्याख्यानम्, अर्थात् विशेष प्रकार को प्राप्त करने के कारण इत्थंभूताख्यान है। **वीप्सा** = व्याप्तुं कार्त्स्न्येन सम्बद्धुम् इच्छा 'वीप्सा', अर्थात् पूर्णरूप से सम्बन्ध करने की इच्छा)।

सिञ्चति । अत्रोपसर्गत्वाभावान्न षत्वम् । 'एषु' किम् ? परिषिञ्चति । ५५४ अभिरभागे १।४।९१ भागवर्जे लक्षणादावभिरुक्तसंज्ञः स्यात् । हरिमभि वर्तते । भक्तो हरिमभि । देवं देवमभिसिञ्चति । 'अभागे' किम् ? यदत्र ममाभिष्यात्तद्दीयताम् । ५५५ अधिपरी अनर्थकौ १।४।९३ उक्तसंज्ञौ स्तः । कुतोऽध्यागच्छति । कुतः पर्यागच्छति । गतिसंज्ञाबाधात् 'गतिर्गतौ' (सू ३९७७) इति निघातो न । ५५६ सुः पूजायाम् १।४।९४ सुसिक्तम् । सुस्तुतम् । अनुपसर्गत्वान्न षः । 'पूजायाम्' किम् ? सुषिक्तं किं तवात्र ? क्षेपोऽयम् । ५५७ अतिरतिक्रमणे च १।४।९५। अतिक्रमणे, पूजायां च अतिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यत् । अति देवान् कृष्णः ।

५५८ । अपिः पदार्थ-सम्भावना-ऽन्ववसर्ग-गर्हा-समुच्चयेषु १।४।९६

---

कत्वात् । द्वित्वन्तु 'नित्यवीप्सयोः' इति बोध्यम् । वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति = कृत्स्नं वृक्षं सिञ्चतीत्यर्थः ।

अति देवान् कृष्णः ( ई. ६५, ६८, ७२ )—लोकसंरक्षणविषये देवेभ्योऽधिकः कृष्णः इत्यर्थः । देवानां पूज्य इति वार्थः । अत्र 'अतिरतिक्रमणे च' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इति द्वितीया ।

---

अभि—( 'लक्षणेत्थं' सूत्रोक्त चार अर्थों में से ) भाग अर्थ को छोड़कर अन्य तीन—लक्षण, इत्थंभूताख्यान और वीप्सा अर्थों में 'अभि' की कर्मप्रचनीय संज्ञा होती है ।

अधिपरी - अधि तथा परि जब किसी विशेष अर्थ को प्रकट नहीं करते हों तब इनकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

सुः पूजा—पूजा ( प्रशंसा ) अर्थ में 'सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

अतिरति—अतिक्रमण ( उचित से अधिक ) तथा पूजा ( प्रशंसा ) के अर्थ में अति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

अपिः पदार्थ—पदार्थ, संभावना, अन्ववसर्ग, गर्हा तथा समुच्चय अर्थों में 'अपि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

नोट—(१) पदार्थ-(**'अप्रयुज्यमानस्य पदान्तरस्यार्थः पदार्थः'**)= किसी अप्रयुक्त पद का अर्थ द्योतित करना पदार्थ माना गया है । उदाहरण है—**'सर्पिषोऽपि स्यात्'** ( सर्पिरवयवबिन्दुरपि स्यात् ) । इस वाक्य में अपि शब्द अप्रयुक्त बिन्दु पद के अर्थ का द्योतन कराता है ।

एषु द्योत्येष्वपिरुक्तसंज्ञः स्यात् । सर्पिषोऽपि स्यात् । अनुपसर्गत्वान्न षः । सम्भावनायां लिङ् । तस्या एव विषयभूते भवने कर्तृदौर्लभ्यप्रयुक्तं दौर्लभ्यं द्योतयन्नपिशब्दः स्यादित्यनेन सम्बध्यते । सर्पिषः' इति षष्ठी तु अपिशब्दबलेन गम्यमानस्य बिन्दोरवयवावयविभावसम्बन्धे । इयमेव ह्यपिशब्दस्य पदार्थद्योतकता नाम । द्वितीया तु नेह प्रवर्तते, सर्पिषो बिन्दुना योगो न त्वपिनेत्युक्तत्वात् । अपि स्तुयाद्विष्णुम् । सम्भावनं शक्त्युत्कर्षमाविष्कर्तुमित्युक्तिः । अपि स्तुहि ।

---

सर्पिषोऽपि स्यात् ( ई. ६५, ६८ )—सर्पिरवयवबिन्दुरपि स्यादित्यर्थः । स्यादिति सम्भावनायां लिङ्, अपिशब्दस्य कर्तृदौर्लभ्यप्रयुक्तदौर्लभ्यत्वसम्बन्धेन स्यात् क्रियया सह सम्बन्धः । अप्रयुज्यमानबिन्दुरूपार्थमपिशब्दो द्योतयतीति बिन्दुना योगे सर्पिषः इत्यवयवावयविभावसम्बन्धे षष्ठी । कर्मप्रवचनीयद्योत्य-सम्बन्धप्रतियोगित्वं कर्मप्रवचनीययुक्तत्वम्' इति लक्षणेन सम्बन्धस्य प्रतियोगी बिन्दुरेव नतु सर्पिरिति सर्पिष्शब्दात् द्वितीया नेति ।

अपि स्तुयाद् विष्णुम् ( ई. ६८ )—सम्भावनद्योतकस्याऽपिशब्दस्यो-दाहरणमेतत् । स्यादित्यत्र 'सम्भावनेऽलमिति चेत् सिद्धाप्रयोगे' इति लिङ् । 'उपसर्गात् सुनोति' इति षत्वन्तु न, 'अपिः पदार्थ–' इति कर्मप्रवचनीयत्वे उपसर्गत्वबाधाद् । अवाङ्मनसगोचरं विष्णुमपि स्तुयादित्यर्थः । अत्युक्तिरियम्, अवाङ्मनसगोचरस्य विष्णोः केनापि स्तोतुमशक्यत्वात् ।

अपि स्तुहि ( ई. ७१ )—अन्ववसर्गद्योतकस्याऽपिशब्दस्योदाहरणमेतद् ।

---

( २ ) 'संभावना = ' शक्ति के उत्कर्ष को प्रकट करने के हेतु की गई अत्युक्ति को 'संभावना' कहते हैं । उदाहरण है—'अपि स्तुयाद् विष्णुम् ( मन तथा वाणी से भी अगोचर विष्णु की भी स्तुति कर सकता है ) ऐसे विष्णु की स्तुति अशक्य होने से यहां यह अत्युक्ति है ।

( ३ ) अन्ववसर्ग = किसी को उसके इच्छानुसार कार्य करने या न करने की अनुमति देना 'अन्ववसर्ग' कहलाता है । उदाहरण है—'अपि स्तुहि' (चाहो तो स्तुति करो ) ।

( ४ ) गर्हा—इसका अर्थ है—निन्दा, धिक्कार । उदाहरण है—'धिग् देवदत्तम् अपि स्तुयाद् वृषलम्' ( देवदत्त को धिक्कार है जो वृषल ( चाण्डाल ) की स्तुति करता है ) ।

**कर्मप्रवचनीय प्रकरण समाप्त ।**

अन्ववसर्गः कामचारानुज्ञा। धिग्देवदत्तम् अपि स्तूयाद् वृषलम्, गर्हा। अपि सिञ्च। अपि स्तुहि—समुच्चये।

५५६ कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे २।३।५ इह द्वितीया स्यात्। मासं कल्याणी। मासमधीते। मासं गुडधानाः। क्रोशं कुटिला नदी। क्रोशमधीते। क्रोशं गिरिः। 'अत्यन्तसंयोगे' किम्? मासस्य द्विरधीते। क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः। इति द्वितीया विभक्तिः। (३. करणम्)

---

अन्ववसर्गः कामचारानुज्ञा। विष्णुं स्तुहि वा, न वा, यथेष्टं कुर्वित्यर्थः। स्तुहीत्यत्र 'प्रैषातिसर्ग—' इति लोट्। 'उपसर्गात् सुनोति—' इति षत्वं तु न 'अपिः पदार्थ—' इति कर्मप्रवचनीयत्वे उपसर्गत्वबाधात्।

मासं कल्याणी (ई. ७२, ७४)—'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इत्यस्य गुणक्रियाद्रव्यैः कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया स्यादित्यर्थः। सा च कालाध्वभ्यामेव भवति श्रुतत्वात्। ततश्च गुणात्यन्तसंयोगस्योदाहरणमेतत्। त्रिंशद्दिनात्मके कालेऽविच्छिन्नमङ्गलवानित्यर्थः।

---

कालाध्वनो—कालवाचक तथा मार्गवाचक शब्दों से द्वितीया विभक्ति होती है, यदि अत्यन्त संयोग (कार्य के नैरन्तर्य) की प्रतीति होता हो।

नोट—स्मरण रहे कि—'कर्म' कारक में द्वितीया विभक्ति का पूर्वकथित निम्नोक्त प्रसंग ८ हैं—

(१) कर्ता के ईप्सिततम (अत्यन्त अभीष्ट), (२) कर्ता के अनीप्सित (अनुक्त) किन्तु सम्बद्ध की कर्मसंज्ञा होने पर, (३) अकथित, अविवक्षित या गौण कर्म होने पर, (४) प्रेरणार्थक में प्रयोज्य कर्ता के कर्म होने पर, (५) आधार की कर्मसंज्ञा होने पर, (६) उभयतः, सर्वतः आदि अव्यय पदों के योग में, (७) अनु, उप, आदि कर्मप्रवचनीय संज्ञक पदों के योग में तथा (८) कालवाची और मार्गवाची शब्दों से अत्यन्त संयोग होने पर।

शुद्धं कुरु—गुरुः बालकः पृच्छति। गोपः गवां दुग्धं दोग्धि। सत्वरो धावति। हा पापिन् धिक् त्वया। ज्ञानात् ऋते न सुखम्। राष्ट्रपतिः इन्द्रप्रस्थे अधितिष्ठति।

इति द्वितीया।

(३) करण—जो क्रिया के व्यापार में कर्ता का सहायक हो अर्थात् क्रिया की सिद्धि में जो अत्यन्त उपकारक हो उसे 'करण' कहते हैं—करण से तृतीया विभक्ति होती है।

५६० स्वतन्त्रः कर्ता १।४।५४ क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात् ।

५६१ साधकतमं करणम् १।४।४२ क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करण-संज्ञं स्यात् । तमब्ग्रहणं किम्? गङ्गायां घोषः । ५६२ कर्तृ-करणयोस्तृतीया

---

तमब्ग्रहणं किं ( ई. ६४, ६६, ६८ )—अयम्भावः, करणमिति महा-संज्ञया साधके लब्धे साधकग्रहणमेव साधकतमार्थं भविष्यतीति 'साधकतमं करणम्' इति सूत्रे तमब्ग्रहणं व्यर्थमिति चेन्न, 'अस्मिन् कारकाधिकारे शब्दसामर्थ्यगम्यः प्रकर्षो नाश्रीयते' इति ज्ञापनार्थत्वात् । तेन 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गौणाधारेऽपि सप्तमी सिद्धा । अन्यथा अधिकरणमिति महासंज्ञयेव आधारे लब्धे आधार-ग्रहणात् सर्वावयवव्याप्त्या य आधारस्तस्यैव ग्रहणापत्तौ तिलेषु तैलम्, दध्नि सर्पिः, इत्यादावेव सप्तमी स्यान्नतु गङ्गायां घोषः इत्यादौ । अत्र गङ्गापदस्य तत्तीरे लक्षणा बोध्या ।

---

स्वतन्त्रः—क्रिया ( कार्य ) में स्वतन्त्रता से विवक्षित अर्थ ( विषय, मनुष्य या पदार्थ ) कर्तृसंज्ञक होता है, अर्थात् उसे कर्ता कहते हैं ।

नोट—क्रिया का जो साक्षात् जनक होता है, उसे कारक ( कर्ता ) कहते हैं ( दे० कारकारंभ ) ।

साधकतमं—क्रिया-फल की सिद्धि में जो अत्यन्त ( सर्वाधिक ) सहायक होता है, उसकी करणसंज्ञा होती है ।

कर्तृ—अनभिहित (अनुक्त) कर्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है।

नोट—क्रिया के करने का जो सर्वाधिक उपाय है, अर्थात् जिसके व्यापार के अव्यवहित उत्तर काल में क्रिया की निष्पत्ति होती है, उसे 'करण' कारक कहते हैं ( उससे तृतीया विभक्ति होती है ) ।

'करण' और वक्ष्यमाण 'हेतु' के लक्षणों में थोड़ा ही अन्तर है—

( १ ) करणत्वं - **क्रियाजनकमात्रवृत्ति—व्यापारवृत्ति च यत् तत् करणत्वम्** । तदुक्तं—

**क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद् व्यापारादनन्तरम् ।**
**विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तत् तदा स्मृतम् ।।**(हरिकारिका)

( २ ) हेतुत्वं—**द्रव्य-गुण—क्रियात्मककार्यत्रयनिरूपित—निर्व्यापार—सव्यापार—वृत्ति च यत् तद् हेतुत्वम्** ।

२।३।१८ अनभिहिते कर्तरि, करणे च तृतीया स्यात् । रामेण बाणेन हतो वाली । १३८ प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्® । प्रकृत्या चारुः प्रायेण याज्ञिकः । गोत्रेण गार्ग्यः । समेनैति । विषमेणैति । द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति । सुखेन वा दुःखेन याति । इत्यादि । ५६३ दिवः कर्म च १।४।४३ दिवः साधकतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्याच्चात् करणसंज्ञम् । अक्षैरक्षान् वा दीव्यति ।

---

रामेण बाणेन हतो वाली (ई. ७०, ७३)—अत्र वालिवधानुकूला धनुराकर्षणादिरूपा क्रिया हन्धात्वर्थः, तत्र स्वातन्त्र्येण विवक्षितत्वाद् रामस्य 'स्वतन्त्रः कर्ता' इति कर्तृसंज्ञा, बाणनिष्ठा क्रिया लक्ष्यवेधनं, तदव्यवधानेन वालिवधसिद्धेर्विवक्षिततया बाणस्य 'साधकतमं करणम्' इति करणसंज्ञा, ततश्च 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इत्यनेनोभयत्र तृतीयायां तत्सिद्धिः ।

अक्षैरक्षान् वा दीव्यति (ई. ७२, ७४)—अत्र 'दिवः कर्म च' इति 'दिवः साधकतमस्याऽक्षस्य कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीयायां सत्याम् 'अक्षान् दीव्यति' इति भवति । चात्करणसंज्ञायां सत्यां तु 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इति तृतीयायाम् 'अक्षैर्दीव्यति' इति च भवति ।

---

(१) करण का उदाहरण—(क) **'रामेण बाणेन हतो वाली'** = यहां बाण के व्यापार होने के अव्यवहित उत्तर काल में ही वाली का हनन होता है, अतः यहाँ 'बाण' करण है । एवं (ख) **'दण्डेन ताडयति'** यहाँ दण्ड व्यापारवान् है और क्रिया का जनक भी है, अतः दण्ड करण है—'हेतु' नहीं ।

(२) हेतु का उदाहरण—(वक्ष्यमाण) (क) **'दण्डेन घटः'** यहां पर जो दण्ड रूप हेतु है, उसमें व्यापार तो है, पर क्रियाजनकत्व का अभाव है, अतः वह हेतु है करण नहीं । एवं (ख) **'पुण्येन दृष्टो हरिः'** यहाँ भी जो पुण्यरूप हेतु है, उसमें हरिदर्शन-जनकत्व रूप क्रियाजनकता तो है, पर वह व्यापारवान् नहीं है, अतः वह हेतु है—करण नहीं ।

प्रकृत्या—('कर्तृकरणयोस्तृतीया' इस सूत्र से विहित) तृतीया विधि में प्रकृति आदि शब्दों का भी ग्रहण करना चाहिए, अर्थात् प्रकृति, प्रायः, गोत्र आदि शब्दों से भी करण में तृतीया होती है ।

दिवः—'दिव' धातु के साधकतम (प्रकृष्ट) कारक की कर्म संज्ञा और करण संज्ञा भी होती है ।

५६४ अपवर्गे तृतीया २।३।६ अपवर्गः = फलप्राप्तिः, तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया स्यात् । अह्ना, क्रोशेन वा अनुवाकोऽधीतः । 'अपवर्गे' किम् ? मासमधीतो नायातः । ५६५ सहयुक्तेऽप्रधाने २।३।१९ सहार्थेन युक्तेऽप्रधाने तृतीया स्यात् । पुत्रेण सहागतः पिता । एवं साकंसार्धं-समंयोगेऽपि । विनापि तद्योगं तृतीया. 'वृद्धो यूना—' ( सू ६३३ ) इत्यादि-निर्देशात् । ५६६ येनाङ्गविकारः २।३।२० येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततस्तृतीया स्यात् । अक्ष्णा काणः । अक्षिसम्बन्धिकाणत्वविशिष्ट

---

पुत्रेण सहागतः पिता ( ई. ७१, ७३ )—'सहयुक्तेऽप्रधाने' इति अत्र तृतीया भवति । पितुरत्रागमनक्रियासम्बन्धः शाब्दः । पुत्रस्य तु तत्साहित्यगम्य आर्थिक इति तस्याप्राधान्यम् ।

अक्ष्णा काणः ( ई. ६१, ६५ )—अत्र 'येनाङ्गविकारः' इति तृतीया भवति । काणशब्दोऽत्र काणत्ववति वर्तते । सम्बन्धश्चात्र तृतीयार्थः । अक्षि-सम्बन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः । अक्षिविकारप्रयुक्तकाणत्वानिति यावत् ।

---

अपवर्गः—अपवर्ग ( फलप्राप्ति या कार्यसिद्धि ) के बाद क्रिया की समाप्ति के गम्यमान होने पर कालवाचक तथा अध्ववाचक शब्दों से अत्यन्त संयोग ( नैरन्तर्य ) की प्रतीति होने पर तृतीया विभक्ति होती है ।

सह युक्ते—सहार्थ अर्थात् सह शब्द तथा उसके समानार्थक साकम्, सार्धम्, समम् आदि शब्दों के योग में अप्रधान से तृतीया होती है ।

नोट—जिसका क्रिया के साथ शब्दतः सम्बन्ध रहता है वह 'प्रधान' और जिसका संबन्ध अर्थतः प्रतीत होता है, वह 'अप्रधान' कहा जाता है ।

विनापि—सहार्थक शब्दों का प्रत्यक्ष योग न रहने पर भी उसके साथ सम्बन्ध रखने वाले अप्रधान से भी तृतीया होती है ।

( वृद्धो यूना ( १।२।६५ ) सूत्रारम्भसामर्थ्यात् । )

येनाङ्ग—जिस विकृति अंग से अंगी ( व्यक्ति ) का विकार लक्षित हो उससे तृतीया विभक्ति होती है ।

अक्षिसंबंधि—'अक्ष्णा काणः ( आँख से काना ) यहाँ कानी तो आँख है किन्तु काणत्वयुक्त कहा जा रहा है व्यक्ति को । इसी बात को मूल में स्पष्ट किया गया है—'अक्षिसम्बन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः ।

इत्यर्थः। 'अङ्गविकारः' किम्? अक्षि काणमस्य। ५६७ इत्थम्भूतलक्षणे २।३।२१ किञ्चित्प्रकारं प्राप्तस्य लक्षणे तृतीया स्यात्। जटाभिस्तापसः। जटाज्ञाप्यतापसत्वविशिष्ट इत्यर्थः। ५६८ संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि २।३।२२ सम्पूर्वस्य जानातेः कर्मणि तृतीया वा स्यात्। पिता पितरं वा सञ्जानीते।

५६९ हेतौ २।३।२३ हेत्वर्थे तृतीया स्यात्। द्रव्यादिसाधारणं निर्व्यापार-साधारणं च हेतुत्वम्। करणत्वं तु क्रियामात्रविषयं व्यापारनियतं च। दण्डेन घटः। पुण्येन दृष्टो हरिः। फलमपीह हेतुः। अध्ययनेन वसति। गम्यमानाऽपि

---

जटाभिस्तापसः (ई. ६०, ६४, ६६)—'इत्थंभूतलक्षणे' इति सूत्रेणाऽत्र तृतीया भवति। लक्ष्यलक्षणभावोऽत्र तृतीयार्थस्तदाह मूले—जटाज्ञाप्यतापसत्व-विशिष्ट इत्यर्थः। न च ज्ञाने करणत्वादेव तृतीया सिद्धेति वाच्यम्, करणत्वाऽ-विवक्षायां लक्ष्यलक्षणभावमात्रविवक्षायां तृतीयार्थत्वादिति।

अध्ययनेन वसति (ई. ६५, ६८)—अत्र 'हेतौ' इति तृतीया भवति। नचात्र अध्ययनस्य गुरुकुलवासम्प्रति न हेतुत्वं प्रत्युत अध्ययनस्यैव वाससाध्यत्व-

---

इत्थंभूत—(किञ्चित्प्रकार) किसी विशेष प्रकार को प्राप्त हुए व्यक्ति या वस्तु के उस अवस्थाविशेष का जो सूचक होता है, उस इत्थम्भूत लक्षण से तृतीया होती है।

संज्ञो—'सम्' पूर्वक 'ज्ञा' धातु के कर्मकारक से द्वितीया के स्थान में विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है।

हेतौ—हेत्वर्थक अर्थात् हेतु का बोध कराने वाले शब्दों से तृतीया होती है।

द्रव्यादि—द्रव्य, गुण और क्रिया इन तीनों का साधक 'हेतु' होता है और वह सव्यापार और निर्व्यापार दोनों में रहता है। किन्तु 'करण' केवल क्रिया का जनक होता है और केवल सव्यापार में ही रहता है। (दे० सूत्र ५६२ का नोट)।

गम्यमानापि—गम्यमान क्रिया भी कारक विभक्ति में प्रयोजक (साधक) होती है, अर्थात् यदि क्रिया का शब्दतः उपादान न भी हुआ हो, किन्तु वाक्य से उसकी प्रतीति हो रही हो तो वह क्रिया भी कारक-विभक्तियों का निमित्त बन जाती है। यथा 'अलं श्रमेण' इस वाक्य में शब्दतः क्रिया का उपादान नहीं है परन्तु साधन क्रिया की प्रतीति हो रही है और इसका अर्थ होता है—'श्रमेण साध्यं नास्ति'।

क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका। अलं श्रमेण। श्रमेण साध्यं नास्तीत्यर्थः। इह साधनक्रियां प्रति श्रमः करणम्। शतेन शतेन वत्सान् पाययति पयः शतेन परिच्छिद्येत्यर्थः। १३९ अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया *। दास्या संयच्छते कामुकः। धर्म्ये तु—भार्यायै संयच्छति। इति तृतीया विभक्तिः। (४. चतुर्थी)

५७० कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् १।४।३२ दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानसंज्ञः स्यात्। ५७१ चतुर्थी सम्प्रदाने २।३।१३

---

मिति चेन्न, 'फलमपि हेतुरि'ति मूले उक्तत्वात्। तादर्थ्यविवक्षायां तु 'अध्ययनाय वसति' इत्यपि भवितुमर्हतीति तत्त्वविदः।

---

अशिष्ट—अशिष्ट (अनैतिक) व्यवहार के विषय में 'दाण्' धातु प्रयोग होने पर चतुर्थी (सम्प्रदान) के अर्थ में तृतीया विभक्ति होती है।

शुद्धं कुरु—दण्डात् ताडयति। कर्णयोः शृणोति। गुरुः सह शिष्यः पठति। कस्याऽपि सार्धं कलहं मा कुरु। पापाद् दृष्टः। बालकेभ्यः समम् अलं विवादेन। विना प्रकाशः कथं पठेत्। अलं विवादात्।

इति तृतीया।

कर्मणा—दान क्रिया के कर्म द्वारा कर्ता जिसकी ओर विशेष रूप से (दान क्रिया की सिद्धि हेतु) जाता है उसे सम्प्रदान कहते हैं।

नोट—'सम्यक् प्रदीयते सम्प्रदानम्' अथवा '**स्वस्वत्व-निवृत्तिपूर्वकं दानं सम्प्रदानम्**' अर्थात् जिसको स्वस्वत्व-निवृत्तिपूर्वक वस्तु दी जाए उसे सम्प्रदान कहते हैं (अत एव दानवाक्य के अन्त में—'न मम' का उपादान असंगत है) जिसकी आकांक्षा से कोई कार्य किया जाय उससे भी सम्प्रदाने चतुर्थी होती है। यथा—'मुक्तये हरिं भजति' 'ब्राह्मणाय दातुम् उत्सृज्ये' इत्यादि।

दान का सामान्य अर्थ—देकर फिर न लेना। अत एव 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' में रजक की सम्प्रदाने चतुर्थी नहीं होती है। भाष्यकार पतंजलि तो सम्प्रदान को अन्वर्थसंज्ञा नहीं मानते, उनके मत से सूत्र में 'दान' क्रियामात्र का उपलक्षण है। इसीलिए उन्होंने स्वोक्त—'शिष्याय चपेटां ददाति' वाक्य में शिष्य की सम्प्रदाने चतुर्थी की है। उनके मत में—'रजकाय वस्त्रं ददाति' भी शुद्ध है।

चतुर्थी—सम्प्रदान में चतुर्थी होती है।

विप्राय गां ददाति। अनभिहित इत्येव। दानीयो विप्रः। १४० क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्*। पत्ये शेते। १४१ यजेः कर्मणः करणसंज्ञा सम्प्रदानस्य च कर्मसंज्ञा*। पशुना रुद्रं यजते। पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः।

५७२ रुच्यर्थानां प्रीयमाणः १।४।३३ रुच्यर्थानां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणोऽर्थः सम्प्रदानं स्यात्। हरये रोचते भक्तिः।

---

विप्राय गां ददाति (ई. ७०)—विप्रमुद्दिश्य गां ददातीत्यर्थः। अत्र 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' इति सम्प्रदानसंज्ञायां 'चतुर्थी सम्प्रदाने' इति चतुर्थी भवति।

पत्ये शेते (ई. ७६)—पतिमुद्दिश्य शेते इत्यर्थः। अत्र 'क्रियया यमभिप्रैति' इति वार्तिकेन सम्प्रदानसंज्ञायां 'चतुर्थी सम्प्रदाने' इति चतुर्थी भवति। नन्वेवम् 'ओदनं पचति' इत्यत्रापि सम्प्रदानत्वात् चतुर्थी कुतो नेति चेन्न, अकर्मकस्थले सावकाशायाः सम्प्रदानसंज्ञायाः सकर्मकस्थले कर्मसंज्ञया बाधात्।

पशुना रुद्रं यजते (ई. ६८, ७०)—पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः। अत्र 'यजेः कर्मणः' इति कर्मणः पशोः करणसंज्ञायां सम्प्रदानस्य रुद्रस्य च कर्मसंज्ञायां क्रमेण तृतीयाद्वितीये भवतः।

हरये रोचते भक्तिः (ई. ७१, ७३)—भक्तिः स्वविषयां प्रीतिं हरौ जनयतीत्यर्थः। अत्र भक्तिगतव्यापारप्रयोज्यप्रीत्याश्रयत्वात् हरेः कर्मत्वं प्राप्तं तत्प्रबाध्य 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति सम्प्रदानत्वात् चतुर्थी भवति। नन्वेवं 'हरिर्भक्तिमभिलष्यती'त्यत्राऽपि रुच्यर्थत्वात् सम्प्रदानत्वं कुतो नेति चेन्न, अभिलष्यतिकर्त्रपेक्षया यदन्यदभिलष्यतिकर्म तत्कर्तृकस्यैव रुच्यर्थकस्य ग्रहणेनादोषात्। अत एवोक्तं मूले हरिनिष्ठप्रीतेर्भक्तिः कर्त्रीति।

---

क्रियया—कर्ता क्रिया द्वारा जिसे उद्देश्य बनाता है वह भी सम्प्रदान होता है।

यजेः—यज्ञार्थक यज् धातु के योग रहने पर (एक ही वाक्यगत) कर्म को करण संज्ञा और सम्प्रदान को कर्मसंज्ञा होती है (कर्म से तृतीया और सम्प्रदान से द्वितीया हो जाती है)।

रुच्यर्था—रुच् तथा तदर्थक अन्य धातुओं के योग में (भी) प्रीयमाण (जिसको अच्छा लगता है और सन्तुष्ट होता है) की सम्प्रदानसंज्ञा होती है।

अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिः, हरिनिष्ठप्रीतेर्भक्तिः कर्त्री। 'प्रीयमाणः' किम्? देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि। ५७३ श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः १।४।३४ एषां प्रयोगे बोधयितुमिष्टः सम्प्रदानं स्यात्। गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लाघते; ह्नुते, तिष्ठते, शपते वा। 'ज्ञीप्स्यमानः' किम्। देवदत्ताय श्लाघते पथि। ५७४ धारेरुत्तमर्णः १।४।३५ धारयतेः प्रयोगे उत्तमर्ण उक्तसंज्ञः स्यात्। भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः। उत्तमर्णः किम्? देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे।

---

अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिः (ई. ७०, ७४, ७६)—'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति सूत्रे 'अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिः'। अर्थात् अन्यो नाम अभिलष्यतिकर्म तत्कर्ता यस्य स अन्यकर्तृकः, एवम्भूतोऽभिलाषो रुच्धात्वर्थः, इत्यर्थः। एवं च 'हरये रोचते भक्तिः, इत्यत्र रुच्धातुयोगे भक्तिपदं कर्तृ भवति। 'हरिर्भक्तिमभिलष्यति' इत्यत्र तु अभिपूर्वकलष्धातुयोगे भक्तिपदं कर्म भवतीति नोभयत्र विरोध इति दिक्।

---

अन्य—'अभि' उपसर्गक लष् धातु के कर्ता से भिन्न कर्ता 'रुच्' धातु का होता है। अत एव—'हरिः भक्तिम् अभिलषति' में 'हरि' से अपादान संज्ञा नहीं हुई। क्योंकि यहाँ अभिपूर्वक लष् धातु का कर्म जो भक्ति है वह 'हरये रोचते भक्तिः' में वच्-धात्वर्थ क्रिया की कर्त्री है।

नोट—रुचि का अर्थ है पसन्द, जो पसन्द हो जाता है वह कर्ता कहलाता है। उक्त प्रयोग में हरि को भक्ति पसन्द है तो भक्ति कर्त्री है और उससे प्रथमा होती है। पसन्द करने वाला प्रीयमाण कहा जाता है यहाँ भक्ति पसन्द करने वाला हरि प्रीयमाण है, अतः उसकी सम्प्रदान-संज्ञा होकर सम्प्रदान में चतुर्थी होती है।

श्लाघ—श्लाघ, ह्नुङ्, स्था तथा शप् धातु के प्रयोग में जो ज्ञीप्स्यमान (समझाये जाने वाले) के रूप में अभिप्रेत हो, उसकी सम्प्रदानसंज्ञा होती है।

नोट—श्लाघते = प्रशंसा करना, ह्नुते = छिपाना, तिष्ठते = रुकना, तथा शपते = उपालम्भ करना। अत एव गोपी स्मरात् (कामपीडनात्) कृष्णाय श्लाघते, ह्नुते, तिष्ठते, शपते वा' यहाँ सम्प्रदानसंज्ञा होती है।

धारेरु—धारि (ऋण धारण करना) धातु के योग में उत्तमर्ण (ऋण देने वाला) की सम्प्रदान संज्ञा होती है।

५७५ स्पृहेरीप्सितः १।४।३६ स्पृहयतेः प्रयोगे इष्टः सम्प्रदानं स्यात्। पुष्पेभ्यः स्पृहयति। 'ईप्सितः' किम्? पुष्पेभ्यो वने स्पृहयति। ईप्सितमात्रे इयं संज्ञा। प्रकर्षविवक्षायां तु परत्वात् कर्मसंज्ञा। पुष्पाणि स्पृहयति। ५७६ क्रुध-द्रुहेर्ष्याऽ-सूयाऽर्थानां यं प्रति कोपः १।४।३७ क्रुधाद्यर्थानां प्रयोगे यं प्रति कोपः स उक्तसंज्ञः स्यात्। हरये क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति। 'यं प्रति कोपः' किम्? भार्यामीर्ष्यति-मैनामन्योऽद्राक्षीदिति। क्रोधोऽमर्षः। द्रोहोऽपकारः। ईर्ष्या अक्षमा। असूया गुणेषु दोषाविष्करणम्। द्रोहादयोऽपि कोपप्रभवा गृह्यन्ते। अतो विशेषणं सामान्येन 'यं प्रति कोपः' इति। ५७७ क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म १।४।३८ सोपसर्गयोरनयोर्यं प्रति कोपस्तत्कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। क्रूरमभिक्रुध्यति। अभिद्रुह्यति। ५७८ राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः १।४।३९ एतयोः कारकं सम्प्रदानं स्यात्। यदीयो विविधः प्रश्नः क्रियते। कृष्णाय राध्यति, ईक्षते वा। पृष्टो गर्गः शुभाशुभं पर्यालोचयतीत्यर्थः। ५७९ प्रत्या-

---

पुष्पेभ्यः स्पृहयति (ई. ७४)—अत्र 'स्पृहेरीप्सितः' इति ईप्सितमात्रे सम्प्रदानसंज्ञायां 'चतुर्थी सम्प्रदाने' इति चतुर्थी। प्रकर्षविवक्षायां तु 'कर्तुरीप्सिततमं कर्मे'ति परत्वात् कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीयायां सत्यां 'पुष्पाणि स्पृहयति' इत्यपि भवति।

क्रूरमभिक्रुद्ध्यति (ई. ७०, ७५)—अत्र 'क्रुधद्रुह' इति प्राप्तसम्प्रदानसंज्ञां प्रबाध्य 'क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म' इति कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया भवति।

---

स्पृहे—स्पृह (चाहना) धातु के योग में जिससे चाहा जाय उसकी सम्प्रदानसंज्ञा होती है।

क्रुध-द्रु—क्रुध्, द्रुह्, ईर्ष्या तथा असूया अर्थवाची धातुओं के योग में जिसके प्रति क्रोध किया जाय अर्थात् जो क्रोध का विषय हो उसकी सम्प्रदानसंज्ञा होती है।

क्रुधद्रुहो—(किन्तु-) उपसर्ग विशिष्ट क्रुध् तथा द्रुह् धातुओं के योग में जिसके प्रति कोप किया जाता हो उसकी कर्मसंज्ञा (ही) होती है।

राधी—राध् और ईक्ष् धातुओं के उस कारक की सम्प्रदान संज्ञा होती है, जिसके विषय में विविध प्रकार के प्रश्न किये जा रहे हों।

प्रत्याङ्—पृथक्-पृथक् प्रति एवं आङ् उपसर्ग 'श्रू' धातु से लगे हों तो प्रेरणारूप व्यापार के कर्ता की सम्प्रदान संज्ञा होती है।

ङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता १।४।४० आभ्यां परस्य शृणोतेर्योगे पूर्वस्य प्रवर्तन-रूपव्यापारस्य कर्ता सम्प्रदानं स्यात् । विप्राय गां प्रतिशृणोति आशृणोति वा । विप्रेण 'मह्यं देहि' इति प्रवर्तितः प्रतिजानीत इत्यर्थः । ५८० अनु-प्रति-गृणश्च १।४।४१ आभ्यां गृणातेः कारकं पूर्वव्यापारस्य कर्तृभूतमुक्तसंज्ञं स्यात् । होत्रेऽनुगृणाति, प्रतिगृणाति । होता प्रथमं शंसति, तमध्वर्युः प्रोत्साहयतीत्यर्थः ।

५८१ परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् १।४।४४ नियतकालं भृत्या स्वीकरणं परिक्रयणम्, तस्मिन् साधकतमं कारकं सम्प्रदानसंज्ञं वा स्यात् । शतेन शताय वा परिक्रीतः । १४२ तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या॥ । मुक्तये हरिं भजति । १४३ क्लृपि सम्पद्यमाने च॥ । भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते, सम्पद्यते, जायते । इत्यादि । १४४ उत्पातेन ज्ञापिते च॥ । वाताय कपिला विद्युत् १४५ हितयोगे च॥ । ब्राह्मणाय हितम् ।

---

विप्राय गां प्रतिशृणोति ( ई. ७१, ७३ )—विप्रेण मह्यं गवादिद्रव्यं देहीति प्रवर्तितस्तत्प्रतिजानीत इत्यर्थः । अत्र 'प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता' इति सम्प्रदानसंज्ञायां 'चतुर्थी सम्प्रदाने' इति चतुर्थी भवति ।

---

अनुप्रति—अनु और प्रति उपसर्गों से विशिष्ट 'गृ' धातु की पूर्व क्रिया के कर्ता की भी सम्प्रदान संज्ञा होती है ।

परिक्रयणे—परिक्रयण अर्थ में जो साधकतम ( सर्वाधिक सहायक ) कारक होता है, उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है । 'परिक्रयण' का अर्थ है—निश्चित समय तक के लिये वेतन पर किसी को भृत्य ( नौकर ) बना कर रखना )

तादर्थ्ये—प्रयोजन के लिये अर्थ में चतुर्थी विभक्ति होती है ।

क्लृपि—उत्पन्नार्थक 'क्लृप्' धातु तथा उसके समानार्थक अन्य धातुओं के प्रयोग में भी सम्पद्यमान ( उत्पन्न होने वाला ) अर्थ में वर्तमान से चतुर्थी विभक्ति होती है ।

उत्पातेन—उत्पात ( प्रकृति के रूप का परिवर्तित होने ) से जिसकी सूचना मिलती है, उससे भी चतुर्थी विभक्ति होती है ।

हित—हित ( भला ) शब्द के योग में भी जिसका हित हो, उससे चतुर्थी विभक्ति होती है ।

५८२ क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः २।३।१४। क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य तस्य स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य तुमुनः कर्मणि चतुर्थी स्यात्। फलेभ्यो याति। फलान्याहर्तुं यातीत्यर्थः। नमस्कुर्मो नृसिंहाय। नृसिंहमनुकूलयितुमित्यर्थः। एवं 'स्वयम्भुवे नमस्कृत्य' इत्यादावपि। ५८३ तुमर्थाच्च भाववचनात् २।३।१५ 'भाववचनाश्च' (सू ३१८२) इति सूत्रेण यो विहितस्तदन्ताच्चतुर्थी स्यात्। यागाय याति यष्टुं यातीत्यर्थः। ५८४ नमः स्वस्ति-स्वाहा-स्वधा-ऽलं-वषड्-योगाच्च २।३।१६ एभिर्योगे चतुर्थी स्यात्।

---

क्रियार्थोपपदस्य च (ई. ७१)—क्रिया अर्थः प्रयोजनं यस्य सा क्रियार्था सा क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य तस्य स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य तुमुनः कर्मणि चतुर्थी स्यादित्यर्थः।

नमस्कुर्मो नृसिंहाय (ई. ७६)—नृसिंहमनुकूलयतुमित्यर्थः। अत्र 'क्रियार्थोपपदस्य चे'ति चतुर्थी। 'नमःस्वस्ति–' इति सूत्रेणात्र चतुर्थी तु न, उप-

---

क्रिया—एक क्रियार्थक अन्य क्रिया हो उपपद में जिसके ऐसे अप्रयुज्यमान धातु के अनभिहित (अप्रयुक्त) तुमुन्नन्त क्रिया के कर्म से चतुर्थी विभक्ति होती है।

तुमर्था—'भाववचनाच्च' सूत्र से विहित–'तुमुन्' प्रत्यय के समानार्थक प्रत्यय से युक्त भाववाचक शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है।

नमःस्वस्ति—नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम् तथा वषट् के योग में भी चतुर्थी विभक्ति होती है।

नोट—नमः, स्वस्ति तथा विना, नाना, ऋते आदि अव्यय शब्दों के योग में भी जो कारक विभक्तियाँ कही गयी हैं, उन विभक्तियों को उपपदविभक्ति कहते हैं (**पदमाश्रित्योत्पन्ना या विभक्तिः सा उपपदविभक्तिः**)। जहां उपपदविभक्ति और कारकविभक्ति (**क्रियामाश्रित्योत्पन्ना विभक्तिः कारकविभक्तिः**) दोनों की प्राप्ति रहती है, वहां कारक-विभक्ति ही होती है। (**उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी**)। अत एव 'मुनित्रयं नमस्कृत्य' यहां 'नमः' के योग में चतुर्थी विभक्ति से बलवती जो नमस्करणरूप क्रिया के योग में द्वितीया विभक्ति है वही होती है। कहा भी है—

**अपादान-सम्प्रदान-करणाऽऽधार-कर्मणाम्।**
**कर्तुश्चोभय-सम्प्राप्तौ परमेव प्रवर्तते॥**

यथा—**'पश्य राष्ट्रपतिः गच्छति'** यहां पर 'पश्य' का कर्म होने पर

हरये नमः। 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' (प १०३)। नमस्करोति देवान्। प्रजाभ्यः स्वस्ति। दैत्येभ्यो हरिरलम्, प्रभुः, समर्थः, शक्त इत्यादि। प्रभ्वादियोगे षष्ठ्यपि साधुः, 'तस्मै प्रभवति—' (सू १७६५) 'स एषां ग्रामणीः' (सू १८७८) इति निर्देशात्। तेन 'प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य' इति सिद्धम्। वषडिन्द्राय। चकारः पुनर्विधानार्थः। तेनाशीर्विवक्षायां परामपि 'चतुर्थी चाशिषि—' (सू. ६३२) इति षष्ठीं बाधित्वा चतुर्थ्येव भवति, स्वस्ति गोभ्यो भूयात्।

५८५ मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु २।३।१७ प्राणिवर्जे 'मन्यतेः' कर्मणि चतुर्थी वा स्यात्तिरस्कारे। न त्वां तृणं मन्ये तृणाय वा। श्यना निर्देशात्तानादिकयोगे न। न त्वां तृणं मन्वे। १४६ अप्राणिष्वित्यपनीय नौ-काकाऽन्न-शुक-शृगालवर्जेष्विति वाच्यम्॥ तेन 'न त्वां नावमन्नं वा

पदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' इति चतुर्थीं प्रबाध्य द्वितीयापत्तेः।

नमस्करोति देवान् (ई. ६८)—करशिरस्संयोगादिना तोषयतीत्यर्थः। अत्र 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' इति। परिभाषाबलात् नमः-स्वस्ति–' इति सूत्रं प्रबाध्य कर्मत्वात् द्वितीयैव भवति, न तु चतुर्थीति।

स्वस्ति गोभ्यो भूयात् (ई. ७६)—अत्र 'नमः स्वस्ति' इति चतुर्थी। नन्वत्र 'चतुर्थीचाशिष्या' इति चतुर्थी, पक्षे षष्ठी च कुतो नेति चेन्न, 'नमः-स्वस्ति–' इति सूत्रे चकारस्य पुनर्वृद्धिविधानार्थत्वेनाश्रयणादत्र आशीर्विवक्षायां परामपि 'चतुर्थी चाशिषी'ति षष्ठीं बाधित्वा चतुर्थ्येव भवतीति दिक्।

राष्ट्रपतिः से कर्म विभक्ति (द्वितीया) की प्राप्ति है और 'गच्छति' का कर्ता होने के कारण उससे कर्तृ-विभक्ति (प्रथमा) की भी प्राप्ति है, पर यहां पर इस पूर्वोक्त (कारिकोक्त) क्रम में पर जो कर्तृविभक्ति (प्रथमा) है, वही होती है।

अलम्—'नमः' सूत्र में पर्याप्त्यर्थक 'अलम्' शब्द का ग्रहण है। (अतः तद्वाचक प्रभु, समर्थ, आदि के योग में भी चतुर्थी होती है)।

मन्य—अनादर के प्रतीयमान होने पर 'मन्' धातु के प्राणिभिन्न कर्म से चतुर्थी विकल्प से होती है।

अप्राणि—(उपर्युक्त) सूत्र में 'अप्राजिषु' इस पद को हटा कर उसके स्थान में—'नौ-काकाऽन्न-शुक-शृगालवर्जेषु' ऐसा कहना चाहिए। तब उक्त सूत्र का अर्थ होगा—नौ (नाव) काक, अन्न, शुक तथा शृगाल को छोड़ कर अन्य यदि 'मन्' धातु के कर्म हों तो विकल्प से चतुर्थी होगी।

मन्ये इत्यत्राप्राणित्वेऽपि चतुर्थी न। 'न त्वां शुने मन्ये' इत्यत्र प्राणित्वेऽपि भवत्येव। ५८६ गत्यर्थकर्मणि द्वितीया-चतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि २।३।१२ अध्वभिन्ने गत्यर्थानां कर्मण्येते स्तश्चेष्टायाम्। ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति। 'चेष्टायाम्' किम्? मनसा हरिं व्रजति। 'अनध्वनि' इति किम्? पन्थानं गच्छति। गन्त्राऽधिष्ठितेऽध्वन्येवायं निषेधः। यदा तूत्पथात् पन्था एवाक्रमितुमिष्यते तदा चतुर्थी भवत्येव, उत्पथेन, पथे गच्छति। इति चतुर्थी विभक्तिः।

## ( ५ पञ्चमी )

५८७ ध्रुवमपायेऽपादानम् १।४।२४ अपायो विश्लेषः, तस्मिन् साध्ये

---

न त्वां शुने मन्ये ( ई. ७२ )—हे देवदत्त! त्वां श्वत्वेनापि न मन्ये इत्यर्थः। अत्र प्राणित्वात् 'मन्यकर्मणि–' इति चतुर्थी विकल्पो न स्यादित्यतिव्याप्तिवारणाय तत्र सूत्रे अप्राणिष्वित्यपनीय 'नौकाकान्नेति' वार्तिकं विहितं तेनात्र प्राणित्वेऽपि चतुर्थी सिद्ध्यति।

उत्पथेन पथे गच्छति ( ई. ७५ )—अयम्भावः, 'गत्यर्थकर्मणि द्वितीया-चतुर्थ्यौ' इति सूत्रे 'अनध्वनि' इत्युक्तम्। तेन 'पन्थानं गच्छति' इत्यादौ चतुर्थी न भवति। अत्र मूले 'गन्त्राऽधिष्ठितेऽध्वन्येवाऽयं निषेधः' इत्युक्तं तेन प्रकृते चतुर्थी भवति। पक्षे द्वितीया चेति। उत्पथेनेत्यन्तरं गन्तुमशक्तः इति शेषः। उत्पथेन काशीं प्राप्तुमशक्तः उत्पथं परित्यज्य काशीमार्गं प्रवेष्टुं तदीयं मार्गमनुसरतीत्यर्थः।

ध्रुवत्वम्—प्रकृतिधात्वर्थ-व्यापाराऽऽश्रयत्वे सति तज्जन्यविभागाश्रयत्वम्।

अपादानत्वं—विभागजनकव्यापाराऽऽनाश्रयत्वे सति विभागाश्रयत्वम्।

---

गत्यर्थं—चेष्टा जिनकी क्रिया हो ऐसे गत्यर्थक धातुओं के मार्ग-भिन्न कर्म-कारक से द्वितीया तथा चतुर्थी दोनों विभक्तियाँ होती हैं।

इति चतुर्थी।

ध्रुवमा—अपाय अर्थात् विश्लेष में जो अवधि के स्थान में आनेवाला हो उस ( ध्रुव ) की अपादान संज्ञा होती है।

नोट—इस सूत्र में 'ध्रुव' का अचल या स्थिर अर्थ न लेकर 'अवधि' अर्थ लिया गया है। अत एव 'धावतोऽश्वात् पतति' में दौड़ता हुआ अश्व भी–

ध्रुवमवधिभूतं कारकमपादानं स्यात् । ५८८ अपादाने पञ्चमी २।३।२८ ग्रामादायाति । धावतोऽश्वात् पतति । 'कारकम्' किम् ? वृक्षस्य पर्णं पतति । १४७ जुगुप्सा-विराम-प्रमादाऽर्थानामुपसङ्ख्यानम्॥ । पापाज्जुगुप्सते, विरमति । धर्मात् प्रमाद्यति । ५८९ भीत्रार्थानां भयहेतुः १।४।२५ भयार्थानां, त्राणार्थानां च प्रयोगे भयहेतुरपादानं स्यात् । चोराद् बिभेति । चोरात् त्रायते । 'भयहेतुः' किम् ? अरण्ये बिभेति, त्रायते वा । ५९० पराजेरसोढः १।४।२६ पराजेः प्रयोगेऽसह्योऽर्थोऽपादानं स्यात् । अध्ययनात् पराजयते । ग्लायतीत्यर्थः ।

---

वस्तुतस्तु—यतो विश्लेषः, तदपादानम्, यस्मात् कस्यापि वस्तुनो विश्लेषो ( विभागो ) भवति स ध्रुवपदार्थः अपादानमुच्यते ।

पापाज्जुगुप्सते विरमति ( ई. ६४, ६६ )—पापविषये 'कुत्सितत्वबुद्धया न रमत इत्यर्थः । विरमतीत्यत्र पापादित्यनुषज्यते । पापविषये न प्रवर्तत इत्यर्थः । अत्र 'जुगुप्सा' इति अपादानात् पञ्चमी बोध्या ।

चोराद् बिभेति ( ई. ७० )—अत्र भयार्थकभीधातुप्रयोगे चोरस्य भयजनकत्वेन 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यपादानसंज्ञायाम् 'अपादाने पञ्चमी' इति पञ्चमी ।

अध्ययनात् पराजयते ( ई. ७२, ७४ )—अत्र 'पराजेरसोढः' इत्यपादानत्वात् पञ्चमी बोध्या । 'पराजयते' इत्यस्य ग्लायतीत्यर्थः । असहनादिति शेषः । यदा असहनान्निवर्तत इत्यर्थं आश्रीयते तदा 'ध्रुवमपाये—' इत्यपादानत्वादेव सिद्धमिति भाष्ये उक्तम् ।

---

जो अचल या स्थिर नहीं है, ध्रुव होकर अपादान कहलाता है—

**अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाऽचलम् ।**
**ध्रुवमेवाऽतदावेशात् तदपादानमुच्यते ॥**
**पततो ध्रुव एवाऽश्वो यस्मादश्वात् पतत्यसौ ॥** ( ह. का. )

आपा—अपादान संज्ञक कारक से पञ्चमी विभक्ति होती है ।

जुगुप्सा—जुगुप्सा ( घृणा ) विराम ( विरति, हटना ) एवं प्रमाद ( अनवधानता ) बोधक धातुओं के कारक की अपादान संज्ञा होती है ।

भीत्रार्था—भयार्थक एवं रक्षार्थक धातुओं के प्रयोग में भय या रक्षा के हेतु की अपादान संज्ञा होती है ।

पराजे—'परा' उपसर्गपूर्वक् 'जि' धातु का प्रयोग यदि असह्य अर्थ में हो तो असह्य कारक से अपादान संज्ञा होती है ।

असोढः' किम् ? शत्रून् पराजयते । अभिभवतीत्यर्थः । ५९१ वारणार्थानामीप्सितः १।४।२७ प्रवृत्तिविघातो वारणम् । वारणार्थानां धातूनां प्रयोगे ईप्सितोऽर्थोऽपादानं स्यात् । यवेभ्यो गां वारयति । 'ईप्सितः' किम् ? यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे । ५९२ अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति १।४।२८ व्यवधाने सति यत्कर्तृकस्यात्मनो दर्शनस्याभावमिच्छति तदपादानं स्यात् । मातुर्निलीयते कृष्णः । 'अन्तर्धौ' किम् ? चौरान्न दिदृक्षते । 'इच्छति' ग्रहणं किम् ? अदर्शनेच्छायां सत्यां सत्यपि दर्शने यथा स्यात् । ५९३ आख्यातोपयोगे १।४।२९ नियमपूर्वकविद्यास्वीकारे वक्ता प्राक्संज्ञः स्यात् । उपाध्यायादधीते । 'उपयोगे' किम् ? नटस्य गाथां शृणोति । ५९४ जनिकर्तुः प्रकृतिः १।४।३० । जायमानस्य हेतुरपादानं स्यात् । ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते । ५९५ भुवः प्रभवः

---

मातुर्निलीयते कृष्णः ( ई. ७१, ७३, ७५ )—कृष्णः मातृकर्तृकत्वविषयकदर्शनविरहाय कुड्यादिना प्रच्छन्नो भवतीत्यर्थः । अत्र व्यवधानमाश्रित्य मातृकर्तृकस्वविषयकदर्शनविरहस्य कृष्णेनेष्यमाणतया 'अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति' इति मातुरपादानत्वात् 'अपादाने' पञ्चमी' इति पञ्चमी ।

उपाध्यायादधीते ( ई. ६२, ६६ )—नियमविशेषपूर्वकमुपाध्यायस्योच्चारणमनुच्चारयतीत्यर्थः । अत्र 'आख्यातोपयोगे' इति अपादानसंज्ञायाम् 'अपादाने पञ्चमी' इति पञ्चमी भवति ।

---

वारणा—वारणार्थक धातुओं के प्रयोग में ईप्सित पदार्थ की अपादान संज्ञा होती है । ( प्रवृत्ति को रोकना 'वारण' है । )

अन्तर्धौ—( व्यवधानम् = अन्तर्धिः, अन्तर्धिः = निमित्तम् ) — जिस व्यक्ति-निमित्तक अपना अदर्शन अभिलषित हो, उसकी अपादान संज्ञा होती है । ( मातुर्निलीयते कृष्णः' = कृष्ण माता से छिपता है । )

आख्या—( आख्याता = प्रतिपादयिता—वक्ता, गुरुः । उपयोगे = नियमपूर्वक—विद्यास्वीकारे )— नियमपूर्वक विद्या-ग्रहण होने पर प्रतिपादक कारक की अपादान संज्ञा होती है ।

जनि—जननार्थक 'जन' धातु के कर्ता ( उत्पद्यमान ) की जो प्रकृति ( कारण ) उसकी अपादान संज्ञा होती है ।

भुवः—'भू' धातु के कर्ता ( होने वाला ) के, जो प्रभव ( उत्पत्तिस्थान ) उसकी अपादान संज्ञा होती है ।

१।४।३१ भवनं भूः। भूकर्तुः प्रभवस्तथा। हिमवतो गङ्गा प्रभवति। तत्र प्रकाशत इत्यर्थः। १४८ ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च॥। प्रासादात् प्रेक्षते। आसानात् प्रेक्षते। प्रासादमारुह्य, आसने उपविश्य प्रेक्षत इत्यर्थः। श्वशुराज्जिह्रेति। श्वशुरं वीक्ष्येत्यर्थः। १४९ गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तीनां निमित्तम्॥। कस्मात्त्वम्? नद्याः। १५० यतश्चाऽध्वकालनिर्माणं तत्र पञ्चमी॥। १५१ तद्युक्तादध्वनः प्रथमासप्तम्यौ॥। १५२ कालात् सप्तमी च वक्तव्या॥। वनाद् ग्रामो योजनं योजने वा। कार्तिक्या आग्रहायणी मासे। ५९६ अन्याऽऽरादितरर्तेदिक्शब्दाऽञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते २।३।२९ एतैर्योगे पञ्चमी स्यात्। 'अन्य'-इत्यर्थग्रहणम्। 'इतर' ग्रहणं प्रपञ्चार्थम्। अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात्। आराद्वनात्। ऋते कृष्णात्। पूर्वो ग्रामात्। दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः। तेन सम्प्रति देशकालवृत्तिना योगेऽपि भवति, चैत्रात् पूर्वः फाल्गुनः। अवयववाचियोगे तु न, 'तस्य परमा-

---

चैत्रात्पूर्वः फाल्गुनः (ई. ६३, ६५, ७०)—अयम्भावः, 'अन्यारादितरर्ते' इति सूत्रे दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः, इति दिक् शब्दस्य व्याख्यायां यः शब्दः कदाचित् दिशायाः वाचकः स्यात्—प्रयोगकाले दिशायाः वाचको भवेन्न भवेत्तथापि तद्योगे पञ्चमी भवत्येव। तथा च 'चैत्रात् पूर्वः फाल्गुनः' इत्यादौ

---

ल्यब्लो—ल्यबन्त के लोप होने पर उसके अधिकरण कारक से भी पंचमी विभक्ति होती है।

गम्य—गम्यमान (अध्याहारित) क्रिया भी कारक विभक्ति की उत्पत्ति में निमित्त = कारण होती है। ('कस्मात् त्वम्' यहाँ अध्याहारित क्रिया 'आगतः' है)

यतश्चा—जिस स्थान से अध्व (मार्ग) तथा काल का अवधि = निर्णय किया जाय उससे पंचमी विभक्ति होती है।

तद्युक्ता—जहाँ से मार्ग तथा काल के निर्माण में पंचमी की गयी है—उससे युक्त मार्गवाची शब्द से प्रथमा और सप्तमी विभक्ति होती है।

कालात्—और उससे युक्त कालवाचक शब्द से केवल सप्तमी होती है।

अन्या—अन्य (भिन्न) अर्थक, आरात् (दूर या समीप), इतर (दूसरा), ऋते (विना), दिग्वाचक शब्द, अञ्चूत्तर पद, आच् तथा आहि के योग में पंचमी विभक्ति होती है।

म्रेडितम्' ( सू. ८३ ) इति निर्देशात् । पूर्वं कायस्य । अञ्चूत्तरपदस्य तु दिक्शब्दत्वेऽपि 'षष्ठ्यतसर्थ'–( सू ६१० ) इति षष्ठीं बाधितुं पृथग्ग्रहणम् । प्राक्, प्रत्यग्वा ग्रामात् । आच् दक्षिणा ग्रामात् । आहि–दक्षिणाहि ग्रामात् । 'अपादाने पञ्चमी' ( सू ५८८ ) इति सूत्रे 'कार्तिक्याः प्रभृति' इति भाष्यप्रयोगात् प्रभृत्यर्थयोगे पञ्चमी । भवात् प्रभृति, आरभ्य वा सेव्यो हरिः । 'अपपरिबहिः'–( सू ६६७ ) इति समासविधानात् ज्ञापकाद् बहिर्योगे पञ्चमी, ग्रामाद् बहिः । ५९७ अपपरी वर्जने १।४।८८ एतौ वर्जने कर्मप्रवचनीयौ स्तः। ५९८ आङ् मर्यादावचने १।४।८९ आङ् मर्यादायामुक्तसंज्ञः स्यात् ।

---

पूर्वशब्दः कालस्य वाचको वर्तते न तु दिशायाः, तथापि तद्योगे चैत्रादिति पञ्चमी सिद्धा ।

प्राक् प्रत्यग् वा ग्रामात् ( ई. ६७, ७० )—अयम्भाव,: 'अन्यारादितरर्ते' इति सूत्रे अञ्चूत्तरपदस्य प्राक् प्रत्यक् इत्यादेरपि दिशावाचकत्वाद् दिक्शब्दत्वेनैव तद्योगे पञ्चम्यां सिद्धायां पुनरञ्चूत्तरपदग्रहणं 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन' इति सूत्रविहितषष्ठ्याः बाधनार्थम् । तथा च 'प्राक्' 'प्रत्यग्' इत्यादौ 'दिक्शब्देभ्यः' इत्यादिसूत्रविहितस्य अस्तातिप्रत्ययस्य 'अञ्चेर्लुक्' इति लुकि तद्योगे षष्ठी न भवति, किन्तु पञ्चम्येव ।

दक्षिणाहि ग्रामात् ( ई. ६६, ७२ )—ग्रामावधिकायां दक्षिणस्यां दिशि दूर इत्यर्थः । अत्र 'आहि च दूरे' इति आहिप्रत्ययः, ततश्च 'अन्यारादितरर्ते' इति आहिप्रत्ययान्तयोगे पञ्चमी सिद्ध्यति ।

ग्रामाद् बहिः ( ई. ७६ )—अयम्भावः, वर्जनार्थयोरपपर्योः कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां तयोर्योगे 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इति पञ्चम्येव भविष्यतीति तयोः साहचर्येण अञ्चूत्तरपदयोगेऽपि पञ्चम्या एव सिद्धत्वेन पञ्चम्यन्तेन समासे सिद्धे 'अपपरिबहि—' इति सूत्रे पञ्चमीपदं व्यर्थं सत् बहिर्योगे पञ्चमी भवतीति ज्ञापयति तेन 'ग्रामाद् बहिः' इति सिद्धम् ।

---

अपपरी—वर्जन के द्योतित होने पर 'अप' तथा 'परि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ( और उसके योग में 'पञ्चम्यपाङ्' सूत्र से पंचमी हो जाती है )।

आङ्—मर्यादा ( अवधि ) तथा अभिविधि ( मर्यादा के किंचित् भेद ) के द्योतित रहने पर 'आङ्' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ( और तद्योग में 'पंचम्यपाङ्' सूत्र से पंचमी हो जाती है ) ।

वचनग्रहणादभिविधावपि। ५९९ पञ्चम्यापाङ्परिभिः ३।३।१० एतैः कर्मप्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी स्यात्। अप हरेः, परि हरेः संसारः। परिरत्र वर्जने। लक्षणादौ तु—हरिं परि। आमुक्तेः संसारः। आसकलाद् ब्रह्म। ६०० प्रतिः प्रतिनिधि-प्रतिदानयोः १।४।९२ एतयोरर्थयोः प्रतिरुक्तसंज्ञः स्यात्। ६०१ प्रतिनिधि-प्रतिदाने च यस्मात् २।३।११ अत्र कर्मप्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी स्यात्। प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति। तिलेभ्यः प्रति यच्छति माषान्। ६०२ अकर्तर्यृणे पञ्चमी २।३।२४ कर्तृवर्जितं यदृणं हेतुभूतं ततः पञ्चमी स्यात्।

---

परि हरेः संसारः ( ई. ६८, ७४ )—हरिं वर्जयित्वा जनिमृतिचक्रात्मकं संसरणमित्यर्थः। अत्र 'आङ्मर्यादावचने' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इति कर्मप्रवचनीययोगे हरिशब्दात् पञ्चमी। अत्र सूत्रे वर्जनार्थकेनापेन साहचर्यात् परिरपि वर्जनार्थक एव गृह्यते। अन्यथा 'वृक्षं प्रति विद्योतते', 'भक्तो हरिं प्रति' इत्यादावपि परत्वादपवादत्वाच्च द्वितीयां बाधित्वा अनेन पञ्चमी दुर्वारा स्यात्। लक्षणादौ तु 'हरिं परि' इति।

आमुक्तेः संसारः ( ई. ६७, ७२ )—मुक्तेः प्रागिति यावत्। अत्र मर्यादावचनस्य आङः 'आङ्मर्यादावचने' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इति कर्मप्रवचनीययोगे मुक्तिशब्दात् पञ्चमी।

तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान् ( ई. ६९, ७३ )—ऋणत्वेन गृहीतान् तिलान् स्वरूपेण मूल्याद्यात्मना वा प्रत्यर्पयतीत्यर्थः। अत्र 'प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां 'प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्' इति पञ्चमी।

---

पञ्चम्यपाङ्—अप, आङ् और परि इन ( पूर्वोक्त ) कर्मप्रवचनीय संज्ञक शब्दों के योग में पंचमी विभक्ति होती है।

प्रतिः—प्रतिनिधि और प्रतिदान ( अदला-बदला ) अर्थ में प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ( और तद्योग में अग्रिम सूत्र से पंचमी हो जाती है )।

प्रतिनिधि—जिसका प्रतिनिधि और जिसका प्रतिदान होता है उससे ( पूर्वोक्त ) कर्मप्रवचनीय के योग में पंचमी विभक्ति हो जाती है।

अकर्त—कर्तृभिन्न ( कर्ता से रहित ) ऋणवाचक शब्द से पंचमी विभक्ति होती है।

शताद् बद्धः। 'अकर्तरि' किम् ? शतेन बन्धितः। ६०३ विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् २।३।२५ गुणे हेतावस्त्रीलिङ्गे पञ्चमी वा स्यात्। जाड्यात्—जाड्येन वा बद्धः। 'गुणे' किम् ? धनेन कुलम्। 'अस्त्रियाम्' किम् ? बुद्ध्या मुक्तः। 'विभाषा' इति योगविभागादगुणे स्त्रियां च क्वचित्, धूमादग्निमान्। नास्ति घटोऽनुपलब्धेः। ६०४ पृथग्-विना-नानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् २।३।३२ एभियोगे तृतीया स्यात्पञ्चमीद्वितीये च। अन्यतरस्यां ग्रहणं समुच्चयार्थम्। पञ्चमी-द्वितीये चानुवर्तेते पृथग् रामेण रामात् रामं वा। एवं विना, नाना। ६०५ करणे च स्तोकाऽल्प-कृच्छ्र-कतिपयस्याऽसत्त्ववचनस्य २।३।३३ एभ्योऽद्रव्यवचनेभ्यः करणे तृतीयापञ्चम्यौ स्तः। स्तोकेन स्तोकाद्वा मुक्तः। द्रव्ये तु स्तोकेन विषेण हतः। ६०६ दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च २।३।३५ एभ्यो द्वितीया स्याच्चात् पञ्चमीतृतीये। प्रातिपदिकार्थमात्रे विधिरयम्। ग्रामस्य दूरम्—दूरात्—दूरेण वा, अन्तिकम्—अन्तिकात्—अन्तिकेन वा। 'असत्त्ववचनस्य' इत्यनुवृत्तेर्नेह—दूरः पन्थाः। इति पञ्चमी विभक्तिः।

## ( ६ षष्ठी )

६०७ षष्ठी शेषे २।३५० कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामि-

---

विभाषा—जब हेतु ( अद्रव्यवाचक ) गुण हो और स्त्रीलिंग न हो तब उस हेतु से विकल्प से पंचमी विभक्ति होती है ( विकल्प पक्ष में तृतीया )।

पृथग्—पृथक्, विना तथा नाना—इन शब्दों के योग में तृतीया तथा पञ्चमी विभक्ति होती है।

करणे—अद्रव्य ( असत्व ) वाची स्तोक ( थोड़ा ), अल्प, कृच्छ्र ( कष्ट ) तथा कतिपय शब्दों से करण में तृतीया और पंचमी विभक्ति होती है।

दूरान्ति—दूर तथा अन्तिक ( समीप ) अर्थवाचक शब्दों से द्वितीया, पंचमी तथा तृतीया विभक्ति होती हैं।

नोट—इस सूत्र को प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्राप्त प्रथमा विभक्ति का अपवाद समझना चाहिए।

( दे० परिशिष्ट में अनुशीलनी कारिका )

इति पंचमी

शेषे षष्ठी—शेष अर्थ में षष्ठी विभक्ति होती है।

नोट—उक्त से अन्य ( अतिरिक्त ) को 'शेष' कहते हैं। प्रातिपदिकार्थ में

भावादिसम्बन्धः शेषः, तत्र षष्ठी स्यात् । राज्ञः पुरुषः । कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव । सतां गतम् । सर्पिषो जानीते । मातुः स्मरति । एधोदकस्योपस्कुरुते । भजे शम्भोश्चरणयोः । फलानां तृप्तः । ६०८ षष्ठी हेतुप्रयोगे २।३।२६ हेतुशब्दप्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी स्यात् । अन्नस्य हेतोर्वसति । ६०९ सर्वनाम्नस्तृतीया च २।३।२७ सर्वनाम्नो हेतुशब्दस्य च प्रयोगे हेतौ द्योत्ये तृतीया स्यात् षष्ठी च ! केन हेतुना वसति । कस्य हेतोः । १५३ निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्*। किं निमित्तं वसति, केन निमित्तेन, कस्मै निमित्ताय, इत्यादि । एवं 'किं कारणम्' 'को हेतुः' 'किं प्रयोजनम्' इत्यादि । प्रायग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमाद्वितीये न स्तः।

---

सर्पिषो जानीते ( ई. ७२ )—करणत्वविवक्षायां सर्पिषा उपायेन प्रवर्तत इत्यर्थः । अत्र ज्ञाधात्वर्थप्रवृत्तौ सर्पिषो वस्तुतः करणत्वेऽपि तदविवक्षायां सम्बन्धमात्रे 'षष्ठी शेषे' इति षष्ठी ।

---

प्रथमा, कर्म में द्वितीया, करण में तृतीया, सम्प्रदान में चतुर्थी, अपादान में पञ्चमी और अधिकरण में सप्तमी उक्त है। उनसे अन्य—स्व-स्वामिभाव, अवयवाऽवयविभाव, आधाराधेयभाव, जन्यजनकभाव, कार्यकारणभाव, आदि सम्बन्धसामान्य में षष्ठी विभक्ति होती है।

( 'षष्ठ्याः कारकत्वं नास्ति' । दे० 'सम्बोधने च' सूत्र ५३४ )

कर्मादीनां—'कर्म' आदि कारकों के साधारण सम्बन्ध मात्र को बताना जब अभीष्ट होता है तब उन से भी षष्ठी विभक्ति ही होती है ( द्वितीयादि नहीं )

षष्ठी हेतु—हेतु शब्द का प्रयोग हो और हेतु ही द्योत्य हो तो हेतुवाचक शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है।

सर्वना—जब हेतुवाचक शब्द सर्वनाम हो और हेतुशब्द का प्रयोग हो तो उस सर्वनाम शब्द से तृतीया और षष्ठी विभक्ति भी होती है।

निमित्त—निमित्तार्थक शब्दों के प्रयोग में हेतुवाचक सर्वनाम शब्दों से प्रायः सभी विभक्तियाँ होती हैं।

प्रायग्रहण–उपर्युक्त वार्तिक में प्रायः शब्द का प्रयोग होने से जो हेतुवाचक शब्द सर्वनाम नहीं होते उन से प्रथमा और द्वितीया विभक्ति नहीं होती हैं ( और अन्य सभी विभक्तियां होती हैं ) ।

ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः। ज्ञानाय निमित्ताय। इत्यादि। ६१० षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन २।३।३० एतद्योगे षष्ठी स्यात्। '-दिक्छब्द-' (सू ५९६) इति पञ्चम्या अपवादः। ग्रामस्य दक्षिणतः, पुरः, पुरस्तात्, उपरि, उपरिष्टात्। ६११ एनपा द्वितीया २।३।३१ एनबतेन योगे द्वितीया स्यात्। 'एनपा' इति योगविभागात् षष्ठ्यपि। दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा। एवम् उत्तरेण। ६१२ दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् २।३।३४ एतैर्योगे षष्ठी स्यात् पञ्चमी च। दूरं, निकटं ग्रामस्य-ग्रामाद्वा। ६१३ ज्ञोऽविदर्थस्य करणे २।३।५१ जानातेर-

---

ज्ञानेन निमित्तेन (ई. ७५)—'निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्' इति वार्तिकम्। निमित्तपर्यायाणां प्रयोगे तेभ्यस्तत्समानाधिकरणेभ्यश्च सर्वासां विभक्तीनां प्रायेण प्रयोगो भवतीत्यर्थः। तेन 'किं निमित्तं, केन निमित्तेन, कस्मै निमित्ताय वा वसति, इत्याद्युपपद्यते। अत्र वार्तिके प्रायग्रहणात् प्रकृतप्रयोगे असर्वनाम्नः प्रथमाद्वितीये न स्तः। तेन 'ज्ञानं निमित्तं हरिः सेव्यः' इति केषाञ्चिन्मतं नोपपन्नम्।

---

षष्ठ्यत—अतसुन् तथा इसी के अर्थ में विहित अन्य प्रत्ययों से अन्त वाले शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति होती है।

नोट—सूत्र में 'अतसर्थप्रत्यय' कहा गया है। दिक्, देश तथा काल अर्थों में 'दक्षिणोत्तराभ्यामतसुन्' सूत्र से 'अतसुन्' प्रत्यय होता है। इसी प्रत्ययार्थ में होने वाले अन्य प्रत्यय 'अतसर्थप्रत्यय' कहलाते हैं। पूर्व में 'अन्यारादित' सूत्र से दिक् शब्द के योग में पंचमी का विधान किया गया है। यह सूत्र उस पंचमी का अपवादक है।

एनपा—'एनप्' प्रत्ययान्त शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है।

नोट—इस सूत्र में 'एनपा' ऐसा पृथक् सूत्रविभाग करके 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन' सूत्र से षष्ठी की अनुवृत्ति आने से—एनप् प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी विभक्ति (भी) होती है।

दूरान्ति—दूर, अन्तिक तथा इनके समानार्थक शब्दों के योग में पञ्चमी और षष्ठी विभक्ति होती है।

ज्ञोऽवि—अज्ञानार्थक 'ज्ञा' धातु के योग में उसके करण शेषत्व (सम्बन्धत्व) विवक्षा में षष्ठी होती है। (**सर्पिषा ज्ञानम् = प्रज्वलनम्**, 'सर्पिषः ज्ञानम्'। इसका 'घृतसम्बन्धि प्रज्वलन' अर्थ होता है)।

ज्ञानार्थस्य करणे शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी स्यात्। सर्पिषो ज्ञानम्। ६१४ अधीगर्थदयेशां कर्मणि २।३।५२ एषां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात्। मातुः स्मरणम्। सर्पिषो दयनम्, ईशनं वा। ६१५ कृञः प्रतियत्ने २।३।५३ कृञः कर्मणि शेषे षष्ठी स्याद् गुणाधाने। एधो दकस्योपस्करणम्। ६१६ रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः २।३।५४ भावकर्तृकाणां ज्वरिवर्जितानां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात्। चौरस्य रोगस्य रुजा। १५४ अज्वरि-सन्ताप्योरिति वाच्यम् ॥। रोगस्य चौरज्वरः, चौरसन्तापो वा। रोगकर्तृकं चौरसम्बन्धि

---

सर्पिषो ज्ञानम् (ई. ७२) – वस्तुतः करणीभूतं यत् सर्पिः तत्सम्बन्धिनी प्रवृत्तिरित्यर्थः। अत्र 'ज्ञोऽविदर्थस्य करणे' इति षष्ठी।

अयम्भावः—'ज्ञोऽविदर्थस्य करणे' इत्याद्यष्टसूत्रीविषये शेषत्वेन विवक्षिते 'षष्ठी शेषे' इति षष्ठ्यां सिद्धायाम् अष्टसूत्री व्यर्था सती—'अष्टसूत्र्या या या षष्ठी विधीयते सा सा षष्ठ्येव स्यान्न तु कैश्चिद् ज्ञानादिभिः सुबन्तैः सह तस्याः समासः' इति ज्ञापयति। तेन 'सर्पिषो ज्ञानम्' इत्याद्यसमस्तान्युदाहरणानि साधूनि भवन्ति। अतः 'प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते' इति वार्तिकमपि फलितम्।

चौरस्य रोगस्य रुजा (ई. ६१, ६४, ६८)—रुजेत्यत्र व्याधिकृतसन्तापादिपीडोच्यते। रोगः चौरं सन्तापादिना पीडयतीति पर्यवसितोऽर्थः। अत्र 'रुजार्थानां भाववचनानामज्वरे' इति शेषत्वविवक्षया षष्ठी।

रोगस्य चौरज्वरः (ई. ७५)—रोगकर्तृकं चौरसम्बन्धिज्वरादिकमित्यर्थः। 'रुजार्थानां भाववचनामज्वरे' इत्यत्र 'अज्वरि सन्तापयोरिति

---

अधीगर्थ—स्मरणार्थक धातु, दय (दानार्थक) तथा ईश् (स्वामी वाचक) धातु के कर्मकारक को शेषत्व की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है।

कृञः—गुणाधान के प्रतीति होने पर 'कृञ्' धातु के कर्मकारक को शेषत्व विवक्षा में षष्ठी हो जाती है।

रुजा—भाववाचक घञादि प्रत्ययान्त शब्द कर्ता हो जिनके ऐसे 'ज्वर' धातु भिन्न रोगार्थक धातुओं के कर्मकारक से शेषत्व की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है।

अज्वरि—केवल 'ज्वर' धातु से ही नहीं, किन्तु उसके साथ-साथ 'सम्' पूर्वक 'तप्' धातु का भी प्रतिषेध में परिगणन करना चाहिए।

ज्वरादिकमित्यर्थः । ६१७ आशिषि नाथः २।३।५५ आशीरर्थस्य नाथतेः शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । सर्पिषो नाथनम् । 'आशिषि' इति कम् ? माणवकनाथनम् । सत्सम्बन्धिनी याच्ञेत्यर्थः । ६१८ जासिनि-प्रहण-नाट-क्राथ-पिषां हिंसायाम् २।३।५६ हिंसार्थानामेषां शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । चौरस्योज्जासनम् । निप्रौ संहतौ विपर्यस्तौ व्यस्तौ वा । चौरस्य निप्रहननम्, प्रणिहननम्, निहननम्, प्रहणनं वा । 'नट अवस्कन्दने' चुरादिः । चोरस्योन्नाटनम् । चौरस्य क्राथनम् ? वृषलस्य पेषणम । 'हिंसायाम्' किम् ? धानापेषणम । ६१९ व्यवहृपणोः समर्थयोः २।३।५७ शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । द्यूते क्रयविक्रयव्यवहारे चानयो-

---

वाच्यम्' इत्युक्तं वार्तिककृता, तेन 'ज्वरिसन्ताप्योः' रुजार्थकत्वाद् रोगात्मकत्वाभावकर्तृकत्वाच्च तत्कर्मणश्चौरस्य शेषत्वविवक्षायां नाऽनेन षष्ठी, किन्तु कृद्योगे, षष्ठी शेषे वा षष्ठी भवति । ततश्च 'चौरज्वरः' इति समासो भवत्येवेति ।

सर्पिषो नाथनम् ( ई. ७०, ७२ )—वस्तुतः कर्मीभूतसर्पिःसम्बन्धि आशासनमित्यर्थः । अत्र ऋकारेत्संज्ञक 'नाथ' धातुः याच्ञोपतापैश्वर्याशिषु वर्तते इति आशिषि अर्थे 'आशिषि नाथः' इति सर्पिरित्यस्य शेषत्वविवक्षायां षष्ठी भवति ।

चौरस्य क्राथनम् ( ई. ६८ )—क्रथ हिंसायामिति घटादौ वर्तत इति हिंसार्थे 'जासिनिप्रहण' इति सूत्रेण चौरस्य शेषत्वविवक्षया षष्ठी । वस्तुतः कर्मीभूतचौरसम्बन्धिहननमित्यर्थः ।

---

आशिष—आशीः ( मंगल कामना ) अर्थक 'नाम' धातु के कर्मकारक से शेषत्व की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है । ( सर्पिषो नाथनम् = घी की मंगल कामना ) ।

जासिनि—हिंसार्थक 'जासि', 'नि' तथा 'प्र' पूर्वक 'हन्', 'नाटि' 'क्राथि' तथा 'पिष्' धातुओं के कर्मकारक से शेषत्व की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है ।

व्यव—समानार्थक 'वि' तथा 'अव' पूर्वक हृ और 'पण्' धातुओं के कर्मकारक से शेषत्व की विवक्षा में षष्ठी होती है ।

नोट—उपर्युक्त 'हृ' तथा 'पण्' ये दोनों धातुएँ द्यूत ( जुआ खेलना ) और क्रय-विक्रय इन दो अर्थों में प्रयुक्त होने पर ही समानार्थक होती हैं ।

स्तुल्यार्थता। रामस्य व्यवहरणं पणनं वा। 'समर्थयोः' किम्? शलाकाव्यवहारः। गणनेत्यर्थः। ब्राह्मणपणनम्। स्तुतिरित्यर्थः। ६२० दिवस्तदर्थस्य २।३।५८ द्यूतार्थस्य क्रयविक्रयरूपव्यवहारार्थस्य च दिवः कर्मणि षष्ठी स्यात्। शतस्य दीव्यति। तदर्थस्य किम्? ब्राह्मणं दीव्यति। स्तौतीत्यर्थः।

६२१ विभाषोपसर्गे २।३।५९ पूर्वयोगापवादः। शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति। ६२२ प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासम्प्रदाने २।३।६१ देवतासम्प्रदानेऽर्थे वर्तमानयोः प्रेष्यब्रुवोः कर्मणो हविर्विशेषस्य वाचकाच्छब्दात् षष्ठी स्यात्। अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदशः प्रेष्य, अनुब्रूहि वा। ६२३ कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे। २।३।६४ कृत्वोऽर्थानां प्रयोगे कालवाचिन्यधिकरणे शेषे षष्ठी स्यात्। पञ्चकृत्वोऽह्नो भोजनम्। द्विरह्नो भोजनम्। 'शेषे' किम्? द्विरहन्यध्ययनम्। ६२४ कर्तृकर्मणोः कृति २।३।६५ कृद्योगे कर्तरि, कर्मणि च षष्ठी स्यात्। कृष्णस्य कृतिः। जगतः कर्ता कृष्णः। १५५ गुणकर्मणि वेष्यते॥। नेता अश्वस्य स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा। 'कृति' किम्? तद्धिते मा भूत्। कृतपूर्वी कटम्। ६२५ उभयप्राप्तौ कर्मणि २।३।६६ उभयोः प्राप्तिर्य-

कृतपूर्वी कटम् (ई. ६३, ६५, ७०)—अयम्भावः, कर्तृकर्मभ्यां क्रियाया आक्षेपात् क्रियावाची च धातुरेव धातोश्च तिङ्कृतोर्विधानेऽपि तिङ्योगे 'न लोके'ति निषेधात् कृद्योगे एव भविष्यतीति व्यर्थं कृद्ग्रहणं—कृदन्तमात्रनिष्ठशक्ति-

दिवस्त—दिव् धातु का प्रयोग जब द्यूत या क्रय-विक्रय रूप व्यवहार में होता है, तब इसके कर्म से शेषत्व की विवक्षा में षष्ठी होती है।

विभाषो—उपर्युक्त 'दिव्' धातु जब उपसर्गपूर्वक होगी तभी उसके कर्म में विकल्प से षष्ठी होगी। (यह सूत्र पूर्वोक्त 'दिवस्तदर्थस्य' सूत्र का अपवादक है)।

प्रेष्य—देवता के सम्प्रदान होने पर (दिवादिगणीय) 'प्र' पूर्वक 'इष्' तथा 'ब्रु' धातु के कर्मकारक से शेषत्व की विवक्षा में षष्ठी होती है।

कृत्वर्थ—कृत्वसुच् और सुच् प्रत्ययान्त शब्दों के प्रयोग होने पर उनके कालवाची अधिकरण से शेषत्व की विवक्षा में षष्ठी होती है।

कर्तृ—'कर्तृ' प्रत्यय के प्रयोग में कर्ता तथा कर्मकारकों से शेषत्व की विवक्षा में षष्ठी होती है।

गुण—गौण (अप्रधान) कर्म में षष्ठी विकल्प से होती है। (पक्षे द्वितीया)।

उभय—यदि 'कृत्' प्रत्यय के योग में कर्ता तथा कर्म—इन दोनों से यदि

स्मिन् कृति तत्र कर्मण्येव षष्ठी स्यात् । आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन । १५६ स्त्री-प्रत्यययोरकाकारयोर्नायं नियमः* । भेदिका, बिभित्सा वा रुद्रस्य जगतः । १५७ शेषे विभाषा* । स्त्रीप्रत्यय इत्येके । विचित्रा जगतः कृतिर्हरेः-र्हरिणा वा । केचिदविशेषेण विभाषामिच्छन्ति । शब्दानामनुशासनमाचार्येण आचार्यस्य वा । ६२६ क्तस्य च वर्तमाने २।३।६७ वर्तमानार्थस्य क्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । 'न लोक—' (सू ६२८) इति निषेधस्यापवादः । राज्ञां मतो,

---

ग्रहप्रयोज्योपस्थितिविषयीभूतक्रियानिरूपितकर्तृकर्मणोर्यथा स्यात्, तद्धितान्तनिष्ठशक्तिग्रहप्रयोज्योपस्थितिविषयीभूतक्रियानिरूपितकर्तृकर्मणोर्माभूदिति ज्ञापयति । तेन 'कृतपूर्वीकटम्' इत्यत्र न । अत्र कर्मणोऽविवक्षया भावे क्ते कृतं पूर्वमनेनेति विग्रहे 'सुप्सुपे'ति समासे 'पूर्वाच्चिवे'ति इनिः पुनः कर्मयोगविवक्षायां 'कृतपूर्वीकटम्' इति बोध्यम् ।

शेषे विभाषा ( ई. ६५ )—'शेषे विभाषे'ति वचनतात्पर्यमित्थम्—एकस्मिन् कृति उभयोः ( कर्तृकर्मणोः ) षष्ठीप्रसक्तौ कर्मण्येव षष्ठी स्यात्, न तु कर्तरीत्यर्थः, 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इति सूत्रे वार्तिककृता 'स्त्रीप्रत्यययोरकाकारनायं नियमः'' इति वार्तिकमुक्त्वा 'शेषे विभाषा' इति वचनान्तरमुक्तम् । अकारप्रत्ययव्यतिरिक्तप्रत्यययोगे 'उभयप्राप्तवि'ति नियमो विकल्प्यत इत्यर्थः ।

राज्ञां मतो, बुद्धः, पूजितो वा ( ई. ७३ )—राजकर्तृकवर्तमानेच्छाविषयः, राजकर्तृकवर्तमानज्ञानविषयः, राजकर्तृकवर्तमानपूजाविषयः इति क्रमेणार्थः । अत्र 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इति विहितवर्तमानार्थस्य क्तस्य योगे राज्ञामित्यत्र षष्ठी ।

---

पूर्वोक्त ( कर्तृकर्मणोः कृतिः' ) सूत्र से षष्ठी प्राप्त होती हो तो केवल कर्मकारक से ही षष्ठी होगी । ( कर्ता से 'कर्तृकरणयोः' सूत्र से तृतीया होगी )

स्त्रीप्रत्यय—'अका' तथा 'आ' इन स्त्रीप्रत्ययों के प्रयोग में उपर्युक्त नियम मान्य नहीं होता है ( अर्थात् कर्ता और कर्म दोनों में षष्ठी होती है ) ।

शेषे—शेष स्त्रीप्रत्ययान्त कृदन्त के प्रसंग में उपर्युक्त व्यवस्था वैकल्पिक होती है ।

क्तस्य च—वर्तमान काल में विहित 'क्त' प्रत्यय से युक्त शब्द के योग में भी षष्ठी होती है ।

बुद्धः, पूजितो वा । ६२७ अधिकरणवाचिनश्च २।३।६८ क्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । इदमेषामानितं, शयितं, गतं, भुक्तं वा । ६२८ न लोकाऽव्यय-निष्ठा-खलर्थतृनाम् २।३।६९ एषां प्रयोगे षष्ठी न स्यात् । लादेशः—कुर्वन् कुर्वाणो वा सृष्टिं हरिः । उः—हरिं दिदृक्षुः, अलङ्करिष्णुर्वा । उक—दैत्यान् घातुको हरिः । १५८ कमेरनिषेधः* । लक्ष्म्याः कामुको हरिः । अव्ययम्—जगत्सृष्ट्वा । सुखं कर्तुम् । निष्ठा—विष्णुना हता दैत्याः । दैत्यान् हतवान् विष्णुः । खलर्थाः—ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा 'तृन्' इति प्रत्याहारः, 'शतृशानचौ' इति तृशब्दादारभ्य आ तृनो नकारात् । शानन्—सोमं पवमानः । चानश्—आत्मानं मण्डयमानः शतृ—वेदमधीयन् । तृन्—कर्ता लोकान् । १५९ द्विषः शतुर्वा* । मुरस्य मुरं वा द्विषन् । सर्वोऽयं कारकषष्ठ्याः प्रतिषेधः । शेषे षष्ठी तु स्यादेव । ब्राह्मणस्य कुर्वन् । नरकस्य जिष्णुः । ६२९ अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः

---

हरिं दिदृक्षुः ( ई. ६७, ६९ )—हरिकर्मकदर्शनेच्छावानित्यर्थः । 'दिदृक्षुः' इति दृशेः सन्नन्तात् 'सनाशंसभिक्ष उः' इति उप्रत्ययान्तनिष्पन्नकृदन्तः । अत एवात्र 'न लोके'ति निषेधात् कर्मणि षष्ठी न ।

सोमं पवमानः ( ई. ७५ )—'न लोकाऽव्य–' इति सूत्रे 'तृन्' इति प्रत्याहारः—'शतृशानचा'विति 'तृ' शब्दारम्य तृनो नकारात् । तेन शानच्प्रत्ययान्तेऽपि परे सोमशब्दादत्र कर्मणि षष्ठी न ।

ब्राह्मणस्य कुर्वन् ( ई. ६६, ६८ )—मुखतो ब्राह्मसम्बन्धिसृष्ट्यनुकूलव्या-

---

अधि—भूतकालिक 'क्त' प्रत्यय जब किसी अधिकरण का बोध कराता है तब अनुक्त ( शेष ) कर्ता और कर्म में षष्ठी होती है ।

न लोका—लडादि लकारों के स्थान में प्रयुक्त—'कृत्' प्रत्यय; 'उ' प्रत्यय, 'उकञ्' प्रत्यय, क्त्व-प्रत्ययान्त अव्यय, निष्ठा ( क्त, क्तवतु ) प्रत्यय, खल् तथा तत्समानार्थक प्रत्यय एवं शानच्, चानश्, शतृ और तृन् प्रत्ययों के योग में अनुक्त कर्ता तथा कर्म में षष्ठी विभक्ति नहीं होती है । ( यह सूत्र 'कर्तृकर्मणोः कृतिः' सूत्र से प्राप्त षष्ठी का निषेधक है ) ।

कमेरनि—'कमु' धातु से 'उकञ्' प्रत्यय से निष्पन्न 'कामुक' शब्द–प्रयोग में अनुक्त कर्म में षष्ठी का निषेध नहीं होता है ।

द्विषः—'द्विष्' धातु से विहित 'शतृ' प्रत्यय के योग में षष्ठी का प्रतिषेध विकल्प से समझना चाहिए ।

अके—'भविष्यत्' अर्थक 'अक्' प्रत्यय तथा भविष्यत् तथा आधमर्ण्य

२।३।७० भविष्यत्यकस्य भविष्यदाधमर्ण्यार्थेनश्च योगे षष्ठी न स्यात् । सतः पालकोऽवतरति । व्रजं गामी । शतं दायी । ६३० कृत्यानां कर्तरि वा २।३।७१ षष्ठी वा स्यात् । मया मम वा सेव्यो हरिः । 'कर्तरि' इति किम् ? गेयो माणवकः साम्नाम् 'भव्यगेय—' ( सू २८९४ ) इति कर्तरि यद्विधानादनभिहितं कर्म । अत्र योगो विभज्यते । 'कृत्यानाम्' । 'उभयप्राप्तौ' इति 'न' इति चानुवर्तते । तेन-नेतव्या व्रजं गावः कृष्णेन । ततः 'कर्तरि वा' । उक्तोऽर्थः । ६३१ तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् २।३।७२ तुल्यार्थैर्योगे

---

पारवानित्यर्थः । अत्र शेषत्वविवक्षायां 'शेषे षष्ठी' इति षष्ठी । कर्मत्वविवक्षायां तु द्वितीयैव । 'न लोकाव्यय' इत्यनेनात्र षष्ठीनिषेधस्तु न, 'अनन्तरस्ये'ति न्यायेन 'कर्तृकर्मणोः कृतिः' इति प्राप्तषष्ठ्या एव तेन प्रतिषेधात् ।

सतः पालकोऽवतरति—सज्जनान् पालयिष्यन् हरिः प्रादुर्भवतीत्यर्थः । अत्र पालधातोः 'तुमुन् ण्वुलौ—' इति भविष्यत्यर्थे ण्वुलो विधानात् यद्योगे 'कर्तृकर्मणोः कृतिः' इति प्राप्तकर्मषष्ठ्याः 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति निषेधे कर्मणि द्वितीया बहुवचनम् ।

व्रजं गामी ( ई. ७० )—गोष्ठं गमिष्यन्नित्यर्थः । अत्र 'गमेरिनिः' इत्यौणादिकसूत्रेण इनिः । स च भविष्यति विहितः । तेनात्र 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति निषेधात् षष्ठी न ।

शतं दायी ( ई. ७८ )—ऋणत्वेन गृहीतं शतं प्रत्यर्पयतीत्यर्थः । अत्र

---

( कर्जदारी ) अर्थ में विहित 'इन्' प्रत्ययों के योग में अनुक्त कर्म से षष्ठी नहीं होती है ।

कृत्यानां—कृत्य प्रत्ययान्त शब्दों के योग में उनके अनुक्त कर्ता से विकल्प से षष्ठी होती है ।

कृत्यानां—'कृत्य' प्रत्यय के योग में कर्ता से विकल्प से षष्ठी होती है—किन्तु कर्म से कभी नहीं ।

नोट—कृत्यप्रत्यय के परे यदि उभय ( कर्ता, कर्म ) से षष्ठी प्राप्त हो तो दोनों से षष्ठी विभक्ति नहीं होती । यथा—'नेतव्या ग्रामम् अजा देवदत्तेन ।

तुल्यार्थे—तुला और उपमा शब्दों से भिन्न तुल्यार्थक शब्दों के योग में तृतीया विकल्प से होती है ( और विकल्प पक्ष में शेषत्वविवक्षा में षष्ठी हो जाती है ।

तृतीया वा स्यात् पक्षे षष्ठी । तुल्यः, सदृशः, समो वा कृष्णस्य-कृष्णेन वा । 'अतुलोपमाभ्यां' किम् ? तुला, उपमा वा कृष्णस्य नास्ति । ६३२ चतुर्थी चाशिष्याऽऽयुष्य-मद्र-भद्र-कुशल-सुखार्थहितैः २।३।७३ एतदर्थैर्योगे चतुर्थी वा स्यात् पक्षे षष्ठी आशिषि । आयुष्यं चिरञ्जीवितं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात् । एवं मद्रं, भद्रं, कुशलम्, निरामयं, सुखं, शम्, अर्थः, प्रयोजनं, हितं, पथ्यं वा भूयात् । आशिषि' किम् ? देवदत्तस्यायुष्यमस्ति । व्याख्यानात् सर्वत्राऽर्थग्रहणम् । मद्रभद्रयोः पर्यायत्वादन्यतरो न पठनीयः । इति षष्ठी विभक्तिः ।

## ( ७—सप्तमी )

६३३ आधारोऽधिकरणम् १।४।४५ कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणसंज्ञः स्यात् । ६३४ सप्तम्यधिकरणे च २।३।३६ अधिकरणे सप्तमी स्यात्, चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यः । औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा । कटे आस्ते, स्थाल्यां पचति । मोक्षे इच्छास्ति । सर्वस्मिन्नात्मास्ति । वनस्य दूरे, अन्तिके वा । 'दूरान्तिकार्थेभ्यः—' ( सू ६०६ )

---

'आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः' इत्याधमर्ण्ये णिनिः । तेनात्र 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति निषेधात् षष्ठी न ।

अनुशीलनी कारिका—

**कर्मादावपि षष्ठी स्यात् सम्बन्धस्य विवक्षया ।**
**सर्वनाम्नस्तु हेतूक्तौ उक्ते हेतौ च केवले ॥**
**कृतिः स्यात् कर्तृ-कर्मभ्यां लादेशादौ तु खण्डिता ।**
**कृत्ये कर्तुर्विकल्पेन तुल्यार्थाच्च तथा मता ॥**

इति षष्ठी

सर्वस्मिन्नात्मास्ति ( ई. ६९ )—अभिव्यापकस्याधारस्योदाहरणमेतत् ।

---

चतुर्थी—आशीर्वाद के प्रतीत होने पर—आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ तथा हित शब्दों के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है ।

आधारो—क्रिया के आधारभूत कर्ता और कर्म की धारण क्रिया के प्रति आधारभूत कारक की अधिकरण संज्ञा होती है ।

नोट—जिस स्थान या आधार पर कर्ता या कर्म द्वारा क्रिया का सम्पादन होता है, उसे अधिकरण कारक कहते हैं ।

सप्त—अधिकरण कारक से तथा दूरार्थक और अन्तिकार्थक शब्दों से सप्तमी विभक्ति होती है ।

इति विभक्तित्रयेण सह चतस्रोऽत्र विभक्तयः फलिताः। १६० क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम्*। अधीती व्याकरणे। अधीतमनेनेति विग्रहे 'इष्टादिभ्यश्च' (सू. १८८८) इति कर्तरीनिः। १६१ साध्वसाधुप्रयोगे च*। साधुः कृष्णो मातरि। असाधुर्मातुले। १६२ निमित्तात् कर्मयोगे*। निमित्तमिह फलम्। योगः संयोगसमवायात्मकः।

**'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्।**
**केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः॥'**

हेतौ तृतीयाऽत्र प्राप्ता तन्निवारणार्थमिदम्। सीमा अण्डकोषः। पुष्कलको गन्धमृगः। 'योगविशेषे' किम्? वेतनेन धान्यं लुनाति। ६३५ यस्य च भावेन भावलक्षणम् २।३।३७ यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः सप्तमी स्यात्। गोषु दुह्यमानासु गतः। १६३ अर्हाणां कर्तृत्वेऽनर्हाणामकर्तृत्वे

---

व्यापकरूपेण सर्वत्र आत्मा वर्तत इत्यर्थः। 'आधारोऽधिकरणम्' इत्यनेनात्र अधिकरणसंज्ञायां 'सप्तम्यधिकरणे च' इति सप्तमी।

अधीती व्याकरणे (ई. ६६, ७०)—पूर्वं कर्माविवक्षया भावे क्तप्रत्यये अधीतशब्दात् कर्तरि 'इष्टादिभ्यश्च' इतीनिप्रत्यये ततः कर्मविशेषजिज्ञासायां कर्मत्वेन सम्बद्धात् व्याकरणात् 'क्तस्येन्विषस्ये'ति वार्तिकेन सप्तमी।

सीम्नि पुष्कलको हतः (ई. ६५)—'निमित्तात् कर्मयोगे' इति वार्तिके निमित्तं फलम्। योगः संयोगसमवायात्मकः। प्रकृतप्रयोगे हेतौ तृतीया, तादर्थ्ये चतुर्थी च प्राप्ता ते प्रबाध्य अनेन सप्तमी। सीमा = अण्डकोशः। पुष्कलकः = गन्धमृगः। अत्र पुष्कलकेन कर्मणा सीम्नः समवाय एव।

गोषु दुह्यमानासु गतः (ई. ६१, ६९)—देवदत्तः कदा गतः, इति

---

क्तस्येन्वि—सप्तमी विधि के प्रसंग में—'इन्' विषयक 'क्त' प्रत्ययान्त के कर्मकारक से भी सप्तमी विभक्ति समझनी चाहिए।

साध्वसाधु—साधु तथा असाधु शब्दों के प्रयोग होने पर भी सप्तमी विभक्ति का विधान समझना चाहिए।

निमित्तात्—कर्मकारक के प्रयुज्यमान होने पर निमित्तभूत पदार्थवाचक शब्दों से (भी) सप्तमी विभक्ति समझनी चाहिए।

यस्य च—जिसकी एक क्रिया से दूसरी क्रिया लक्षित हो, उस क्रियावान् से सप्तमी विभक्ति होती है।

अर्हाणां—क्रिया के सम्बन्ध में योग्य के कर्तृत्व को बताने में, अयोग्य के

तद्वैपरीत्ये च॥ । सत्सु तरत्सु असन्त आसते । असत्सु तिष्ठत्सु सन्तस्तरन्ति । सत्सु तिष्ठत्सु असन्तस्तरन्ति । असत्सु तरत्सु सन्तस्तिष्ठन्ति । ६३६ षष्ठी चानादरे २।३।३८ अनादराधिक्ये भावलक्षणे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत् । रुदन्तं पुत्रादिकमनादृत्य संन्यस्तवानित्यर्थः । ६३७ स्वामीश्वराऽधिपति-दायादसाऽक्षि-प्रति-भू-प्रसूतैश्च २।३।३९ एतैः सप्तभि-र्योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । षष्ठ्यामेव प्राप्तायां पाक्षिकसप्तम्यर्थं वचनम् । गवां-गोषु वा स्वामी । गवां-गोषु वा प्रसूतः । गा एवानुभवितुं जात इत्यर्थः। ६३८ आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम् २।३।४० आभ्यां योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तस्तात्पर्येऽर्थे । आयुक्तो व्यापारितः । आयुक्तः—कुशलो वा हरिपूजने—हरिपूजनस्य वा । 'आसेवायाम्' किम् ? आयुक्तो गौः शकटे । ईषद्युक्त इत्यर्थः । ६३९ यतश्च निर्धारणम् २।३।४१ जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदायादेक-

---

प्रश्ने उत्तरमिदम् । अत्र 'यस्य च भावेन' इति सप्तमी । गोदोहनदशायां गतः इत्युत्तरम् ।

रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत् ( ई. ६४, ६८ )—कदा संन्यस्तवानिति प्रश्ने उत्तरमिदम् । अत्र 'षष्ठी चानादरे' इति षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । रुदन्तं पुत्रादि-कमनादृत्य संन्यस्तवानित्यर्थः ।

---

अकर्तृत्व को बताने में तथा इसके विपरीत दशा में भी अर्थात् अयोग्य के कर्तृत्व तथा योग्य के अकर्तृत्व को बताने में भी सप्तमी विभक्ति होती है ।

षष्ठी चा—( परन्तु ) अनादर की प्रतीति होने पर जिसकी एक क्रिया से दूसरी क्रिया लक्षित होती हो उस क्रियावान् से षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति विकल्प से होती है ।

स्वामी—स्वामी, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षी, प्रतिभू तथा प्रसूत इन सातों शब्दों के योग में षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति ( विकल्प से ) होती हैं ।

षष्ठ्या—सम्बन्ध अर्थ में 'शेषे षष्ठी' प्राप्त थी ही पक्ष में सप्तमी भी हो—इसी के लिये यह सूत्र कहा गया है ।

आयुक्त—तात्पर्य के गम्यमान होने पर आयुक्त ( नियुक्त ) तथा कुशल शब्दों के योग में षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति विकल्प से होती है ।

यतश्च—जहाँ से निर्धारण हो उससे षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति होती है । ( जाति, गुण, क्रिया या संज्ञा के आधार पर समुदाय से किसी अंश को पृथक् करना 'निर्धारण' कहलाता है ।

देशस्य पृथक्करणं निर्धारणं यतस्ततः षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। नृणां-नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः। गवां—गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा। गच्छतां गच्छत्सु वा धावञ्छीघ्रः। छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः। ६४० पञ्चमी विभक्ते: २।३।४२ विभागो विभक्तम्। निर्धार्यमाणस्य यत्र भेद एव तत्र पञ्चमी स्यात्। माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः। ६४१ साधु-निपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः २।३।४३ आभ्यां योगे सप्तमी स्यादर्चायाम्, न तु प्रतेः प्रयोगे। मातरि साधुः, निपुणो वा। 'अर्चायाम्' किम्? निपुणो राज्ञो भृत्यः। इह तत्त्वकथने तात्पर्यम्। १६४ अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम्*। साधुः, निपुणो वा मातरं प्रति, परि, अनु वा।

६४२ प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च २।३।४४ आभ्यां योगे तृतीया स्याच्चात् सप्तमी। प्रसित उत्सुको वा हरिणा—हरौ वा। ६४३ नक्षत्रे च लुपि २।३।४५ नक्षत्रे प्रकृत्यर्थे यो लुप्संज्ञया लुप्यमानस्य प्रत्ययस्यार्थस्य वर्तमानात्तृतीयासप्तम्यौ स्तोऽधिकरणे। 'मूलेनावाहयेद् देवीं श्रवणेन विसर्जयेत्'। मूले श्रवणे इति वा। 'लुपि' किम्? पुष्ये शनिः। ६४४

---

छात्राणां छात्रेषु वा (ई. ६२, ६४)—छात्रसमुदायैकदेशभूतो मैत्रनामा स्वेतरव्यावृत्तपटुत्वधर्मकः इत्यर्थः। अत्र 'यतश्च निर्धारणम्' इति षष्ठी-सप्तम्यौ स्तः।

---

पञ्चमी—जिस निर्धारण के आश्रय में विभाग (भेद या अन्तर) हो उससे पञ्चमी विभक्ति होती है।

साधु—अर्चा (प्रशंसा या आदर) के गम्यमान होने पर साधु तथा निपुण शब्दों के योग में सप्तमी विभक्ति होती है — यदि प्रति का प्रयोग न हुआ हो।

अप्रत्या—(सूत्र में) 'प्रति' का प्रयोग न होने का अर्थ 'प्रति आदि का प्रयोग न होना' समझना चाहिए।

प्रसितो—प्रसित तथा उत्सुक शब्दों के योग में तृतीया तथा चकारात् सप्तमी विभक्ति भी होती हैं।

नक्षत्रे—लुबन्त नक्षत्रवाचक शब्दों से अधिकरण अर्थ में तृतीया तथा सप्तमी विभक्ति होती हैं।

सप्तमी-पञ्चम्यौ कारकमध्ये २।३।७ शक्तिद्वयमध्ये यौ कालाध्वानौ ताभ्यामेते स्तः। अद्य भुक्त्वाऽयं द्व्यहे द्व्यहाद्वा भोक्ता। कर्तृशक्त्योर्मध्येऽयं कालः। इहस्थोऽयं क्रोशे—क्रोशाद्वा लक्ष्यं विध्येत्। कर्तृकर्मशक्त्योर्मध्येऽयं देशः। अधिकशब्देन योगे सप्तमीपञ्चम्याविष्येते, 'तदस्मिन्नधिकम्'— (सू १८४६) इति 'यस्मादधिकम्'—(सू ६४६) इति च सूत्रनिर्देशात्। लोके—लोकाद्वा अधिको हरिः। ६४५ अधिरीश्वरे १।४।९७ स्वस्वामिसम्बन्धे अधिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात्। ६४६ यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी २।३।९ अत्र कर्मप्रवचीययुक्ते सप्तमी स्यात्। उप परार्धे हरेर्गुणाः। परार्धादधिका इत्यर्थः। ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिभ्यां पर्यायेण सप्तमी, अधि भुवि रामः—अधि रामे भूः। 'सप्तमी शौण्डैः' (सू ७१८) इति समासपक्षे तु 'रामाधीना'।

---

यस्मादिति (ई. ७२)—अत्र ईश्वरवचनमित्यत्र ईश्वरशब्दो भावप्रधानः। तथा च ईश्वरत्वमुच्यते इति विग्रहः। यस्येति षष्ठ्याश्च निरूपितत्वं निष्ठत्वञ्चार्थः। एवं च यन्निरूपितमीश्वरत्वमुच्यते तद्वाचकात् सप्तमी। अथ च यन्निष्ठमीश्वरत्वमुच्यते तद्वाचकात् सप्तमीत्यर्थद्वयं जायते। तथा च—यन्निरूपितमीश्वरत्वमुच्यते इति व्याख्याने भूशब्दात् सप्तमी सिद्ध्यति। यन्निष्ठमीश्वरत्वमुच्यते इति व्याख्याने तु रामशब्दात् सप्तमी। तथा च 'अधि भुवि रामः' 'अधि रामे भूः' इति प्रयोगद्वयं सिद्धं भवति।

अधि भुवि रामः, अधि रामे भूः (ई. ६६, ७१, ७३)—'यस्मादधिकम्' इत्यस्य व्याख्यानादर्थद्वयं विवक्षितं भवति—यन्निरूपितमीश्वरत्वमुच्यते तद्वाचकात् सप्तमी, अथ च—यन्निष्ठत्वमीश्वरत्वमुच्यते तद्वाचकात् सप्तमीति। तथा च यन्निरूपितमिति व्याख्याने भूतशब्दात् सप्तमी सिद्ध्यति। यन्निष्ठमिति व्याख्याने तु रामशब्दात् सप्तमी सिद्ध्यतीति।

---

सप्तमी—दो कारकों के मध्य में वर्तमान कालवाचक तथा अध्ववाचक शब्दों से सप्तमी तथा पञ्चमी विभक्ति होती हैं।

अधि—स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध अर्थ में प्रयुक्त 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

यस्मा—कर्मप्रवचनीय से युक्त होने पर जिससे अधिक और जिसका सामर्थ्य (स्व-स्वामिभाव संबन्ध) बताया जाय उससे सप्तमी विभक्ति होती है।

'अषडक्ष'–( सू २०७९ ) इत्यादिना खः। ६४७ विभाषा कृञि १।४।९८ अधिः करोतौ प्राक्संज्ञो वा स्यादीश्वरेऽर्थे। यदत्र मामधिकरिष्यति। विनियोक्ष्यत इत्यर्थः। इह विनियोक्तुरीश्वरत्वं गम्यते। अगतित्वात् 'तिङि चोदात्तवति' ( सू ३९७८ ) इति निघातो न। इति सप्तमी विभक्तिः।

इति कारकप्रकरणम्।

—:※:—

---

यदत्र मामधिकरिष्यति ( ई. ७५ )—अस्मिन् विषये मामधिकरिष्यतीति यत्तद्युक्तमित्यर्थः। अत्र 'विभाषा कृञि' इति कर्मप्रचनीयसंज्ञायां 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इति द्वितीया भवति। अधिकरिष्यतीत्यस्य 'विनियोक्ष्यते' इत्यर्थः। ननु तर्हि कर्मत्वादेवात्र द्वितीया सिद्धौ किं कर्मप्रवचनीयत्वेनेति चेन्न, गतिसंज्ञाबाधनार्थत्वेन तस्यावश्यकत्वात्।

अनुशीलनी कारिका

सप्तमी त्रिविधाधाराद् दूरान्तिकाऽर्थतोऽपि च।
भावान्तरं यतो लक्ष्यं कर्मयोगे निमित्ततः॥
नित्यैव सा मता सद्भिरथ निर्धारणं यतः।
भृशाऽनादरभावे च षष्ठी स्यात् सप्तमी तथा॥

इति 'मिथिला' महीमण्डलान्तर्गत 'तरौनी' ग्रामवासिना सर्वश्री-विद्या-भारती-प्रदीप-सरस्वती-सन्ततिचतुष्टयजनकेन प० रामचन्द्रझाव्याकरणाचार्येण रचितया 'इन्दुमती' व्याख्यया सहितं कारकप्रकरणं समाप्तम्।

—:※※:—

---

विभाषा—स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध अर्थ में 'अधि' के बाद 'कृ' धातु के आने पर विकल्प से अधि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

षट्कारकोदाहरणानि

रामो राजमणिः सदा विजयते रामं रमेशं भजे।
रामेणाऽभिहता निशाचरचमू रामाय तस्मै नमः॥
रामान्नाऽस्ति परायणं परतरं रामस्य दासोऽस्म्यहं।
रामे चित्तलयः सदा भवतु मे हे राम! मामुद्धर॥

इस प्रकार 'इन्दुमती' हिन्दी टीका में कारकप्रकरण समाप्त।

श्रीकाशीपतिः पातु वः।

—※※—

# परिशिष्टम्—१

## सन्धिसमीक्षा

दो या दो से अधिक वर्ण परस्पर अत्यन्त निकटवर्ती होने से जो मिल कर एक हो जाते हैं, उस मिलन का नाम सन्धि है।

वह सन्धि ( १ ) एक पद में, ( २ ) धातु—उपसर्ग में तथा ( ३ ) समस्त पद में नित्य होती है और ( ४ ) वाक्य में वक्ता की इच्छा पर निर्भर रहती है। यथा—

( १ ) सुधी + उपास्यः = सुध्युपास्यः। ( २ ) प्रति + उवाच = प्रत्युवाच, + । ( ३ ) विद्यालय + उद्यानम् = विद्यालयोद्यानम्। ( ४ ) इन्दुमती + उवाच = इन्दुमत्युवाच अथवा इन्दुमती उवाच।

सन्धि-भेद—मुख्यतः सन्धि तीन प्रकार की होती है—( १ ) अच् ( स्वर ) सन्धि, ( २ ) हल्-( व्यञ्जन ) सन्धि और ( ३ ) विसर्ग-सन्धि।

# [ क ] अच्-सन्धिविमर्शः

अच्-सन्धि—'अच्' (स्वर) वर्ण के साथ 'अच्' वर्ण की जो सन्धि होती है, उसे 'अच्-सन्धि' कहते हैं। अच्-सन्धि सात प्रकार की है—( १ ) यण्-सन्धि, ( २ ) गुण-सन्धि, ( ३ ) वृद्धि-सन्धि, ( ४ ) दीर्घ-सन्धि, ( ५ ) अयादि-सन्धि, ( ६ ) पूर्वरूप-सन्धि, और ( ७ ) प्रकृतिभाव-सन्धि।

## ( १ ) यण्-सन्धि—

इको यणचि—इक् ( ह्रस्व या दीर्घ—इ, उ, ऋ, ऌ ) के बाद कोई भी असमान ( तद्भिन्न ) अच् वर्ण हो तो इवर्ण ( इ—ई ) को य् उवर्ण ( उ—ऊ ) को व्, ऋवर्ण ( ऋ-ॠ ) को र् और ऌ को ल् हो जाता है। यथा—

प्रति + अर्चा = प्रत्यर्चा। मधु + अरिः = मध्वरिः।

इति + आह = इत्याह। पितृ + आज्ञा = पित्राज्ञा।

देवी + आकृतिः = देव्याकृतिः। ऌ + आकृतिः = लाकृतिः।

## ( २ ) गुण-सन्धि—

आद्गुणः—अवर्ण ( अ या आ ) के बाद अच् ( ह्रस्व या दीर्घ इ, उ, ऋ या ऌ ) वर्ण रहे तो–( १ ) अ–इ मिल कर ए, ( २ ) अ–उ मिलकर ओ, (३) अ–ऋ मिलकर अर् और (४) अ–ऌ मिलकर अल् हो जाता है। यथा—

( १ ) देव + इन्द्रः = देवेन्द्रः
महा + इन्द्रः = महेन्द्रः
नर + ईशः = नरेशः
रमा + ईशः = रमेशः

( २ ) सूर्य + उदयः = सूर्योदयः
नव + उढा = नवोढा
गङ्गा+उदकम्=गङ्गोदकम्
रम्भा + ऊरू = रम्भोरू

( ३ ) देव + ऋषिः = देवर्षिः
महा + ऋषिः = महर्षिः

( ४ ) तव + ऌकारः = तवल्कारः

नोट—कहीं ( १ ) पररूप से और कहीं ( २ ) वृद्धि से भी गुण का बाध हो जाता है। यथा—

( १ ) हल + ईषा = हलीषा[१] ।
लाङ्गल + ईषा = लाङ्गलीषा ।

( २ ) स्व + ईरः = स्वैरः[२] ।
अक्ष + ऊहनी = अक्षौहिणी[३] ।
प्र + ऊढः = प्रौढः[४] ।
प्रष्ठ + ऊहः = प्रष्ठौहः[५] ।
सुख + अर्तः = सुखार्तः[६] ।
दुःख + ऋतः = दुःखार्तः ।
प्र + ऋणम् = प्रार्णम्[७] ।
प्र + ऋच्छति = प्रार्च्छति[८] ।

## ( ३ ) वृद्धि–सन्धि—

वृद्धिरेचि—( १ ) अवर्ण ( अ या आ ) के बाद ( ए या ऐ ) रहे तो दोनों मिल कर 'ऐ' तथा ( २ ) अवर्ण के बाद ओ या औ रहे तो दोनों मिल कर 'औ' हो जाता है। यथा—

---

१. सकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम् ( वा० ) २. स्वादीरेणिणोः ( वा० )
३. अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम् ( वा० ) ४. प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु ( वा० )
५. एतेधत्यूठ्सु ( वा० ) ६. ऋते च तृतीयासमासे ( वा० )
७. प्रवत्सतरकम्बलवसनार्ण० ( वा० ) ८. उपसर्गाः क्रियायोगे ( वा० )

(१) अद्य + एव = अद्यैव । (२) उष्ण + ओदनम् = उष्णौदनम् ।
सदा + एव = सदैव । गङ्गा + ओघः = गङ्गौघः ।
देव + ऐश्वर्यम् = देवैश्वर्यम् । पुत्र + औत्कण्ठ्यम् = पुत्रौत्कण्ठ्यम्
महा + ऐश्वर्यम् = महैश्वर्यम् । महा + औषधम् = महौषधम् ।

नोट—एङि पररूपम् (सू.) अवर्णान्त उपसर्ग से पर यदि एकारादि या ओकारादि धातु हो तो वृद्धि नहीं होती किन्तु पररूप याने दोनों मिल कर एक हो जाते हैं (उपसर्ग के अन्तिम अकार का लोप हो जाता है) यथा—

प्र + एजते = प्रेजते । उप + ओषति = उपोषति ।

स्मरण रहे—जहाँ वृद्धि की प्राप्ति होती है, वहाँ गुण की भी होती है, ऐसी स्थिति में यदि सर्वत्र गुण ही हो जायगा तो 'वृद्धिरेचि' सूत्र ही व्यर्थ हो जायगा—'आद्गुणः' सूत्र तो उप + इन्द्रः = 'उपेन्द्रः' में चरितार्थ है, वहाँ 'वृद्धिरेचि' सूत्र की प्राप्ति ही नहीं है, अतः 'आद्गुणः' सूत्र का अपवाद 'वृद्धिरेचि' सूत्र है—'निरवकाशो विधिरपवादः' परि० ।

## (४) दीर्घ-सन्धि—

अकः सवर्णे दीर्घः—अक् (अ इ उ ऋ ऌ) के बाद क्रमशः ह्रस्व या दीर्घ अ, ई, उ, ऋ, ऌ वर्ण रहे तो दोनों के स्थान पर यथाक्रम (१) आ, (२) ई, (३) ऊ, (४) ॠ हो जाते हैं । यथा—

(१) त्रिपुर + अरिः = त्रिपुरारिः । गौरी + ईशः = गौरीशः ।
देव + आलयः = देवालयः । (३) भानु + उदयः = भानूदयः ।
विद्या + अर्थी = विद्यार्थी । लघु + ऊर्मिः = लघूर्मिः ।
विद्या + आलयः = विद्यालयः । वधू + उत्सवः = वधूत्सवः ।
(२) कवि + इन्द्रः = कवीन्द्रः । भू + ऊर्ध्वम् = भूर्ध्वम् ।
गिरि + ईशः = गिरीशः । (४) पितृ + ऋणम् = पितॄणम् ।
इन्दुमती + इयम् = इन्दुमतीयम् । गम्ऌ + ऌकारः = गम्ऌकारः[1] ।

नोट—'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्—कहीं 'अ' के बाद 'अ' रहने पर भी दीर्घ न होकर पररूप याने दोनों मिलकर एक हो जाता है (पूर्व अकार का लोप हो जाता है) यथा—

---

१. ऌ दीर्घ नहीं होता ।

शक + अन्धुः = शकन्धुः । मृत + अण्डः = मृतण्डः ।
सम + अर्थः = समर्थः । मार्त + अण्डः = मार्तण्डः ।

## ( ५ ) अयादि-सन्धि—

एचोऽयवायावः—यदि एच् ( ए ओ ऐ औ ) के बाद कोई भी स्वर वर्ण रहे तो 'ए' के स्थान में 'अय्' ऐ के स्थान में आय्, ओ के स्थान में अव् और औ के स्थान में आव् आदेश होता है। ( अयादि होने पर अयादि का अवर्ण पूर्व वर्ण से और अन्तिम य् या व् पर वर्ण से मिल जाता है ) यथा—

ने + अनम् = नयनम् । पो + इत्रः = पवित्रः ।
नै + अकः = नायकः । पौ + अकः = पावकः ।

नोट—( क ) यकारादि प्रत्यय के परे रहने पर भी गोशब्दावयव ओकार के स्थान में अव्[1] हो जाता है। यथा— गो + यूतिः = गव्यूतिः ।

( ख ) अच् के परे पदान्त गोशब्दावयव 'ओ' के स्थान में अवङ्[2] ( अव ) आदेश हो जाता है। यथा—

गो + अग्रम् = गवाग्रम् । गो + इन्द्रः = गवेन्द्रः ।

( ग ) यदि पद के अन्त में एच् ( ए ओ, ऐ औ ) का कोई भी वर्ण हो और बाद में कोई भी स्वर हो तो यथाक्रम अयादि सन्धि होने पर—अय् आय् तथा अव्, आव् के अन्तिम य् व् का विकल्प से लोप हो जाता है[3] और लोप होने पर पुनः सन्धि नहीं होती। यथा—

हरे + इह = हर इह, हरयिह ।
शारदायै + अयच्छत् = शारदा अयच्छत्, शारदाययच्छत् ।
विष्णो + इति = विष्ण इति, विष्णविति ।
तौ + उचतुः = ता उचतुः, तावुचतुः ।

## ( ६ ) पूर्वरूप-सन्धि—

एङः पदान्तादति—यदि 'ए' अथवा 'ओ' पद के अन्त में हो और उसके बाद ह्रस्व 'अ' हो तो उस 'अ' का पूर्वरूप हो जाता है। पूर्वरूप का चिह्न ( ऽ ) लगाया भी जाता है। यथा—हरे + अव = हरेऽव ।

---

१. वान्तो यि प्रत्यये । २. 'अवङ् स्फोटायनस्य । इन्द्रे च ।
३. 'लोपः शाकल्यस्य'।

## ( ७ ) प्रकृतिभाव-सन्धि—

( १ ) यदि किसी शब्द या धातु के द्विवचन के रूप के अन्त में दीर्घ ई, ऊ अथवा ए हो और उसके बाद स्वर वर्ण हो तो कोई भी सन्धि नहीं होती—इसी को प्रकृतिभाव कहते हैं[१]। यथा—

हरी + इमौ = हरी इमौ ( दीर्घ-निषेध )

वधू + उद्गच्छतः = वधू उद्गच्छतः–( दीर्घ-निषेध )

गङ्गे + अमू = गङ्गे अमू ( अय्-निषेध )

बालिके = इमे = बालिके इमे ( अय्-निषेध )

( २ ) ओकारान्त तथा एकस्वरमात्र अव्यय की सन्धि नहीं होती[२]। यथा—

( क ) अहो + ईशाः = अहो ईशाः। अहो + अम्बे = अहो अम्बे।

( ख ) आ + एवं नु मन्यसे = आ एवं नु मन्यसे।

नोट—सीमा ( मर्यादा ) व्याप्ति ( मर्यादा का प्रभेद ), तथा ईषत् ( किञ्चत् ) अर्थ के बोध होने पर या क्रिया के योग में एकाक्षरी आ की सन्धि हो जाती है। यथा—

१. सीमा—आ + अध्ययनात् = आध्ययनात् ( दीर्घ )

२. व्याप्ति—आ + एकदेशात्=ऐकदेशात् ( वृद्धि )

३. ईषत्—आ + उष्णम् = ओष्णम् ( गुण )

( ३ ) प्लुत स्वर की सन्धि नहीं होती[३]। यथा-एहि, कृष्ण ३ + अत्र + एहि, कृष्ण ३ अत्र ( दीर्घ-निषेध )।

( ४ ) एकारान्त और ऊकारान्त अदस् शब्द के पदों की सन्धि नहीं होती[४]। यथा—

अमी + अर्भकाः = अमी अर्भकाः। अमू + अत्तः = अमू अत्तः।

### अभ्यास—

सन्धिं कुरु-

( १ ) दधि + अत्र। साधु + आगमनम्। पितृ + अनुरोधः।

( २ ) देव + इन्द्रः। मिथिला + ईशः। सर्व + उदयः। राज + ऋषिः।

---

१. 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्। तथा प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्।

२. ओत्। ३. दूराद्धूते च। ४. अदसो मात्।

(३) छात्र + एकता । जल + ओघः । चित्त + औदार्यम् । अपक्व + ओदन।
(४) शश + अङ्कः । रत्न + आकरः । कवि + ईश्वरः । पितृ + ऋणम् ।
(५) हरे + ए । शे + ऐ । वने + ओ । नौ + औ ।

सन्धिविच्छेदं कुरु–

(१) दध्यानय । सत्यागता । मात्राकृतिः ।
(२) गङ्गेशः । प्रसादोर्ध्वम् । देवर्षिः । तवल्कारः ।
(३) जनैकमत्यम् । शुद्धैरावती । तवैश्वर्यम् । तवौदनः ।
(४) स्वार्थम् । देवागारम् । मुनीश्वरः । विधूदयः ।
(५) शयनम् । विनायकः । भवनम् । भावुकः ।

शुद्धं कुरु–

(१) दध्यिदम् । कव्यीश्वरः । गौर्यीशः । वध्वूत्सवः । कवेश्वरः ।
(२) दिगेशः । स्वेरः । उपरोक्तम् । उपच्छंति । गङ्गौदकम् ।
(३) प्रैजते । उपेति । तवेव । ममेश्वर्यम् । महोघः ।
(४) कव्यिन्द्रः । वध्वुत्सवः । मृताण्डः ।
(५) रयीशः । गविन्द्रः गव्यीशः । गवायुतिः ।

इत्यच्सन्धिविमर्शः

—:※※:—

# [ ख ] हल्-सन्धिविमर्शः

व्यञ्जन ( हल् ) वर्ण के साथ अच् या व्यञ्जन वर्ण की सन्धि को व्यञ्जन सन्धि कहते हैं।

## ( १ ) श्चुत्व-सन्धि—

स्तोः श्चुना श्चुः—सकार और तवर्ग से पहले या बाद में शकार या चवर्ग कोई भी हो तो स् को श् और तवर्ग को चवर्ग हो जाता है। यथा—

हरिस् + शेते = हरिश्शेते।
तपस् + चिनोति = तपश्चिनोति।
तरोस + छाया = तरोश्छाया।
सत् + चरित्रम् = सच्चरित्रम्।
तत् + शिवः = तच्छिवः।

उत् + ज्वलम् = उज्ज्वलम्।
तत् + झणत्कारः = तज्झणत्कारः।
श्रीमान् + जयतु = श्रीमाञ्जयतु।
याच् + ना = याच्ञा।
शार्ङ्गिन् + जय = शार्ङ्गिञ्जय।

नोट—श् के बाद तवर्ग रहे तो तवर्ग को चवर्ग नहीं होता है। ( दे. 'शात्' सू. ) यथा—विश् + नः = विश्नः। प्रश् + नः = प्रश्नः।

## ( २ ) ष्टुत्व-सन्धि—

ष्टुना ष्टुः—सकार अथवा तवर्ग से पहले या पीछे षकार या टवर्ग कोई भी हो तो स् को ष् और तवर्ग को टवर्ग हो जाता है। यथा—

धनुस् + टङ्कारः = धनुष्टङ्कारः
मन्नस् + ठकुरः = मन्नष्ठक्कुरः
रामस् + षष्ठः = रामष्षष्ठः।
तत् + टीका = तट्टीका।
सत् + ठक्कुरः = सट्ठक्कुरः।
उत् + डीनः = उड्डीनः।

त्वत् + ढक्का = त्वड्ढक्का।
भवान् + ठक्कुरः = भवाण्ठक्कुरः।
महान् + डामरः = महाण्डामरः।
चक्रिन् + ढौकसे = चक्रिण्ढौकसे।
पृष् + तस् = पृष्टस्।
अधिष् + थाता = अधिष्ठाता।

नोट—पद के अन्त में टवर्ग हो और उसके बाद ( नाम, नवति,

नगरी भिन्न[1] ) स् या तवर्ग हो तो ष्टुत्व ( स् को ष् और तवर्ग को टवर्ग ) नहीं होता है[2] । यथा—षट् + सन्तः = षट्सन्तः । षट् + ते = षट्ते ।

( २ ) तवर्ग के बाद षकार हो तो तवर्ग को टवर्ग नहीं होता है[3] । यथा—
सन् + षष्ठः + सन्षष्ठः ।

## ( ३ ) जश्त्व-सन्धि—

जश्त्व सन्धि दो प्रकार की होती है—(क) पदान्त और (ख) अपदान्त ।

( क ) पदान्त—

( १ ) झलां जशोऽन्ते—पद के अन्त में झल् ( वर्ग के प्र०, द्वि०, तृ० या चतुर्थ ) वर्ण तथा उष्म[4] ( श, ष, स, ह ) वर्ण विद्यमान हो तो जश्त्व ( अपने वर्ग का तृ० अक्षर ) हो जाता है । यथा—

| | |
|---|---|
| दिक् + अन्तः = दिगन्तः | द्विषत् + अन्तः = द्विषदन्तः । |
| दिक् + गजः = दिग्गजः । | तत् + गहनम्=तद्गहनम् । |
| धिक् + याचकम्=धिग्याचकम् । | त्वत् + यानम् = त्वद्यानम् । |
| अच् + अन्तः = अजन्तः । | दिक् + अम्बरः = दिगम्बरः । |

( ख ) अपदान्त—

( २ ) झलां जस् झसि—अपदान्त में भी झल् ( वर्ग के प्र०, द्वि०, तृ० या चतुर्थ ) वर्ण तथा उष्म ( श, ष, स, ह ) वर्ण विद्यमान हो तो उसे जश् ( अपने वर्ग का तृ० या चतुर्थ अक्षर ) हो जाता है । यथा—

| | |
|---|---|
| लभ् + धः = लब्धः । | बुध् + धिः = बुद्धिः । |
| दुघ् + धम् = दुग्धम् । | जक् + धः = जग्धः । |

## ( ४ ) चर्त्व-सन्धि—

( १ ) खरि च—खर् ( ख, फ, छ, ठ; थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स )

---

१. अनाम्नवति-नगरीणामिति वाच्यम् = नाम, नवति अथवा नगरी शब्द के परे रहते ष्टुत्व सन्धि हो जाती है । यथा—
षट् + नाम्=षण्णाम् । षट् + नवति=षण्णवति । षट् + नगर्यः=षण्णगर्यः

२. न पदान्ताट्टोरनाम् । ३. तोः षि ।

४. शषसहा उष्माणः ।

वर्ण के परे रहते ग्, ज्, ड्, द्, ब् के स्थान में यथाक्रम क् च् ट् त् प् हो जाते हैं।[1] ( इस सूत्र से पदान्त और अपदान्त दोनों में चर्त्व होता है )। यथा—

( क ) पदान्ते—

दिग् + पालः = दिक्पालः। षड् + सन्तः = षट्सन्तः।
प्राग् + शेते = प्राक्शेते। सम्पद् + कामः = सम्पत्कामः।
अज् + सन्धिः = अच्सन्धिः। उद् + थानम् = उत्थानम्।
विराड् + पुरुषः = विराट्पुरुषः। त्रिष्टुब् + छन्दः = त्रिष्टुप्छन्दः।

( ख ) अपदान्ते—

अग् + स्यति = अक्स्यति। पद् + त्रम् = पत्त्रम्।
लिड् + सु = लिट्सु। लभ् + स्यते = लप्स्यते।

( २ ) वाऽवसाने—पदान्त में ( किसी वर्ण के आगे नहीं रहने पर ) झल् ( ग्, ज्, ड्, द्, ब् ) के स्थान में विकल्प से चर् ( क् च् ट् त् प् ) हो जाता है। यथा—

वाक्-वाग्, राट्, राड्। इत्यादि।

## ( ५ ) अनुस्वार-सन्धि—

( १ ) मोऽनुस्वारः—पदान्त 'म्' के बाद कोई भी व्यंजन वर्ण हो तो म् को अनुस्वार ( ं ) हो जाता है। यथा—

धनम् + याचते = धनं याचते। गृहम् + गच्छति = गृहं गच्छति।
पुस्तकम् + पठति = पुस्तकं पठति। देवम् + नमति = देवं नमति।
शत्रुम् + हन्ति = शत्रुं हन्ति। त्वम् + पठसि = त्वं पठसि।

नोट—( क ) पदान्त 'म्' के बाद कोई भी स्वर वर्ण हो तो 'म्' को अनुस्वार नहीं होता, किन्तु 'म्' आगे वाले स्वर वर्ण से मिल जाता है। यथा—

देवम् + अर्चय = देवमर्चय।
पुस्तकम् + आनय = पुस्तकमानय।

---

१. इसी लिए 'खर्' के परे रहते 'झलां जशोऽन्ते' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती—वहाँ इस चर्त्व से उस जश्त्व का बाध हो जाता है।

( ख ) स्वर या व्यञ्जन किसी भी वर्ण के आगे नहीं रहने पर पदान्त 'म्' को अनुस्वार नहीं होता। यथा—पश्य रामम्। गच्छ गृहम्। पठ पुस्तकम्।

( ग ) कवर्गादि व्यंजन वर्ण के परे रहते पदान्त अनुस्वार के स्थान में अग्रिम वर्ण का पंचम वर्ण विकल्प से हो जाता है। यथा—

त्वं + करोषि = त्वङ्करोषि। ग्रामं + गच्छति = ग्रामङ्गच्छति।

पुष्पं + चिनोति = पुष्पञ्चिनोति। पुस्तकं + पठति = पुस्तकम्पठति।

( २ ) नश्चाऽपदान्तस्य झलि—उष्म ( श, ष, स, ह ) अथवा कवर्ग, टवर्ग, पवर्ग के परे पद के मध्यस्थ 'म्' और 'न्' के स्थान में अनुस्वार हो जाता है। यथा—

दम् + शनम् = दंशनम्। धनून् + षि = धनूंषि।

सम् + शयः = संशयः। हिन् + सकः = हिंसकः।

पुम् + षण्ढः = पुंषण्ढः। सिन् + हः = सिंहः।

## ( ६ ) परसवर्ण-सन्धि—

अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः—पदमध्यस्थ अनुस्वार के बाद वर्ग का कोई अक्षर अथवा य्, र्, ल्, व् हो तो अनुस्वार को परसवर्ण ( वर्ग का पंचम वर्ण ) हो जाता है। यथा—

आशं + कते = आशङ्कते। वां + छति = वाञ्छति।

गं + गा = गङ्गा। शां + तः = शान्तः।

उत्कं + ठते = उत्कण्ठते। गुं + फितः = गुम्फितः।

नोट—पदान्त में यह परसवर्ण (पंचम वर्ण) विकल्प से होता है। यथा—

त्वं + करोषि = त्वङ्करोषि, त्वं करोषि।

फलं + चिनोति = फलञ्चिनोति, फलं चिनोति।

सं + वत्सरः = संवत्सरः, संवत्सरः।

## ( ७ ) छत्व-सन्धि—

शश्छोऽटि—वर्ग के पदान्त प्रथम चार वर्णों के परे यदि 'श्' हो और उस 'श्' के बाद अट् ( स्वर तथा ह, य, व, र ) हो तो 'श्' को विकल्प से छ् हो जाता है और छ् होने पर पूर्ववर्ती त् रहे तो 'त्' को श्चुत्व 'च्' हो जाता है। यथा—

तत् + शिवः = तच्छिवः, तत्शिवः ।

तत् + शास्त्रम् = तच्छास्त्रम्, तत्शास्त्रम् ।

जगत् + शरण्यः = जगच्छरण्यः, जगत्शरण्यः ।

वाक् + शूरः = वाक्छूरः, वाग्शूरः ।

## ( ८ ) लत्व-सन्धि—

तोर्लिः—तवर्ग त् के बाद ल् आवे तो तवर्ग के स्थान में ल् हो जाता है ।

यथा—तत् + लयः = तल्लयः । महत् + लावण्यम् = महल्लावण्यम् ।

तत् + लीनः = तल्लीनः । तत् + लीला = तल्लीला ।

विद्युत् + लता = विद्युल्लता । यत् + लिखति = यल्लिखति ।

नोट—यदि 'न्' के बाद 'ल्' रहता हैं तो 'न्' के स्थान में सानुनासिक 'लँ्' हो जाता है । यथा—

विद्वान् + लिखति = विद्वाँल्लिखति । महान् + लाभः = महाँल्लाभः ।

गुणवान् + लपति = गुणवाल्लँपति ।

## ( ९ ) ङमुट्-सन्धि—

ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्—ह्रस्व स्वर वर्ण के बाद ङ्, ण् या न् रहे और उसके बाद स्वर वर्ण रहे तो ङ् के स्थान में 'ङ्ङ्' ण् के स्थान में 'ण्ण्' तथा न् के स्थान में 'न्न्' हो जाता है । यथा—

प्रत्यङ् + आत्मा = प्रत्यङ्ङात्मा । धावन् + अश्वः = धावन्नश्वः ।

सुगण् + ईशः = सुगण्णीशः । भवन् + अत्र = भवन्नत्र ।

### अभ्यास

ससूत्रं सन्धि कुरु—

( १ ) यशस् + चिनोति । भवत् + छलनम् । उत् + ज्वलनम् । विपद् + जालम् । तद् + झणत्कारः । महान् + जयः ।

( २ ) शिशुस् + टीकते । स्थिरस् + ठक्कुरः । किञ्चित् + टीकते । तद्+डिण्डिभः । जगद् + ढक्का । महान् + डमरुः । नष् + तम् ।

( ३ ) सम्यक् + उक्तम् । दिक् + उक्तम् । दिक् + गजम् । धिक् + वदति । जगत् + ईशः । महत् + धनम् । अप् + जलम् ।

(४) दिग् + रक्षकः । वाग् + पटुत्वम् । ऋत्विग् + जुहोति । तत्—श्लाध्यः । त्विड् + म्लानम् । विड् + धूर्तः । सम्पद् + प्रभावः । पद + त्रम् ।

(५) सकरुणम् + रुदति । भारम् + वहति । कष्टम् + सहते ।

(६) अम् + कितः, अम् + चितः । लुन् + ठितः । मं + तव्यम् ! क्षं + तव्यम् ।

(७) दिक् + शूलः । षट् + शरण्याः । सत्यम् + शान्तिः ।

(८) जगत् + लीला । बृहत् + ललाटम् । महान् + लेखकः ।

ससूत्रं सन्धि-विच्छेदं कुरु—

(१) रामश्चलति । मेघच्छन्नः । शिशुश्शेते ।

(२) मनष्टीकते । देवष्षष्ठः । अग्निचिट्टीकते ।

(३) दिगम्बरः । वाग्जालम् । वाग्दानम् । दिग्भागः ।

(४) दिक्पतिः । प्राक्कथितम् । दिक्सरति । पत्त्रम् ।

(५) सूर्यं प्रणमति । धनं ददाति । हरिं नमति ।

(६) सञ्चितः । क्षन्तव्यम् । गन्तव्यम् । शम्भुः ।

(७) सत्याच्छान्तिः । यावच्छक्यम् । मच्छरीरम् ।

(८) उल्लेखः । महल्लिप्सा । अस्मल्लेखः । लालयेल्लघुबालम् ।

शुद्धं कुरु—

(१) बालो चलति । चन्द्रच्छन्नः । वृक्षच्छिद्यते । शिष्यस्शेते ।

(२) बालस्टीकते । चत्वारश्षट्षदाः । त्वत्ट्टीका । भवद्डमरुः ।

(३) प्राक्दर्शनम् । दिक्पालः । षट्गावः । जगत्राजा ।

(४) दिग्पतिः । दिग्पूज्यः । सम्पद्कामः । लभ्स्यते । पत्रम् । क्षत्रम् ।

(५) भोजनम्करोति । कुटिलङ्चलति । शङ्खम्धमति ।

(६) अंचितः । गंगेशः । पंडितः । सम्वत्सरः ।

(७) वाच्छूरः । प्राक्च्छयम् । षट्शोभते । भवत्श्वशुरः ।

(८) महद्लावण्यम् । भवत्ललाटः । बृहद्लता ।

इति व्यञ्जनसन्धि-विमर्शः ।

—❀:०:❀—

# [ ३ ] विसर्ग-सन्धिविमर्शः

( विसर्ग के साथ स्वर या व्यंजन वर्ण की जो सन्धि होती है, उसे विसर्ग सन्धि कहते हैं। ( दे० पृ० २९६ 'विसर्ग-विमर्श )

## ( १ ) विसर्ग-सन्धि—

( १ ) यदि विसर्ग के बाद त या थ रहे तो विसर्ग के स्थान में 'स्' हो जाता है[१]। यथा—

नमः + ते = नमस्ते। इतः + ततः = इतस्ततः।

गावः + तिष्ठन्ति = गावस्तिष्ठन्ति। दुः + थितिः = दुस्थितिः।

( २ ) यदि विसर्ग के बाद च या छ रहे तो विसर्ग के स्थान में स् होकर श् हो जाता है[२]। यथा—

निः + चलः = निश्चलः। दुः + चलः = दुश्चलः।

( ३ ) यदि विसर्ग के बाद क, ख, प या फ रहे तो विसर्ग ही रह जाता है[३]। यथा—

देवः + करोति = देवः करोति। श्यामः + पठति = श्यामः पठति।

बालः + खादति = बालः खादति। वृक्षः + फलति = वृक्षः फलति।

( ४ ) यदि विसर्ग के बाद ट या ठ रहे तो विसर्ग के स्थान में (स् होकर) ष् हो जाता है[४]। यथा—

धनुः + टङ्कारः = धनुष्टङ्कारः। वृद्धः + ठगति = वृद्धष्ठगति।

( ५ ) यदि विसर्ग के बाद श, ष अथवा स रहे तो विसर्ग के स्थान में श्, ष्, स् अथवा विसर्ग ही रह जाता है[५]। यथा—

हरिः + शेते = हरिश्शेते, हरिः शेते।

देवाः + षट् = देवाष्षट्, देवाः षट्।

मनः + सन्तोषम् = मनस्सन्तोषम्, मनः सन्तोषम्।

---

१. 'विसर्जनीयस्य सः' सू० २. 'स्तोः श्चुनाश्चुः' सू० ३. कुप्वो ≍क ≍पौ च' सू० ४. 'ष्टुना ष्टुः' सू०। ५. 'वा शरि' सू०।

## ( २ ) रुत्व-सन्धि—

( १ ) ससजुषोः रुः—स्वर वर्ण के परे अ, आ से भिन्न स्वर वर्ण के परस्थित विसर्ग रहे तो विसर्ग के स्थान में र् हो जाता है और वह र् अग्रिम स्वर वर्ण से मिल जाता है। यथा—

हरिः + अयम् = हरिरयम्। वधूः + एषा = वधूरेषा।
श्रीः + असौ = श्रीरसौ। रवेः + उदयः = रवेरुदयः।
गुरुः + उवाच = गुरुरुवाच। देवैः + उक्तम् = देवैरुक्तम्।

( २ ) वर्ग का तृ०, च० या पंचम अथवा य, ल, व या ह पर रहे तो अ, आ से भिन्न स्वर वर्ण के परस्थित विसर्ग के स्थान में र् हो जाता है और वह र् पर वर्ण के माथे पर चला जाता है। यथा—

हरिः + गच्छति = हरिर्गच्छति। गुरुः + जयति = गुरुर्जयति।
ऋषिः + घटयति = ऋषिर्घटयति। गौः + ढौकते = गौर्ढौकते।

## ( ३ ) उत्व-सन्धि—

अतो रोरप्लुतादप्लुते—( उपनियम )—यदि ह्रस्व अ के बाद विसर्ग और विसर्ग के बाद अ रहे तो अकार और विसर्ग के स्थान में ओ हो जाता है और उसके बाद के अ का पूर्वरूप होने से उसके स्थान पर लुप्ताकार ( ऽ ) का चिह्न भी लगाया जाता है। यथा—

शिवः + अर्च्यः = शिवोऽर्च्यः। यशः + अभिलाषी = यशोऽभिलाषी।
कः + अयम् = कोऽयम्। धावतः + अश्वः = धावतोऽश्वः।
रामः + अयम् = रामोऽयम्। कुतः + अत्र = कुतोऽत्र।

नोट—( १ ) उपर्युक्त स्थल में विसर्ग के स्थान में रु को उ करने के बाद उ को पूर्ववर्ती अ के साथ 'आद्गुणः' से गुण होकर ओ हो जाता है और उत्तरवर्ती अ को 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप हो जाता है।

( २ ) यदि ह्रस्व अ, इ, उ के बाद र-जात विसर्ग ( दे० पृ० २९६ 'विसर्ग-विमर्श ) और विसर्ग के बाद स्वर अथवा वर्ग के तृ०, च०, पं० अथवा य, ल, व या ह रहे तो र-जात विसर्ग के स्थान में रेफ हो जाता है (उत्व नहीं होता)। यथा—

| | |
|---|---|
| पुनः + गच्छ = पुनर्गच्छ । | मातः + वन्दे = मातर्वन्दे । |
| भ्रातः + युध्यस्व = भ्रातर्युध्यस्व । | पुनः + हसति = पुनर्हसति । |

## ( ४ ) यत्व-सन्धि—

भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य योऽशि—भोः, भगोः, अघोः और अवर्ण (अ-आ) के बाद विसर्ग स्थानिक रु को य् हो जाता है यदि बाद में अश् (स्वर वर्ण अथवा वर्ग के तृ०, च०, पं० या य, र, ल, व, ह वर्ण हों ) और रु को य् होने पर बाद में यदि स्वर वर्ण हो तो 'लोपः शाकल्यस्य' सू० से और व्यञ्जन वर्ण हो तो 'हलि सर्वेषाम्' सू० से 'य्' का लोप हो जाता है। यथा—

### लोपः शाकल्यस्य—

### ( अ )

| | |
|---|---|
| (१) कुतः + आगतः=कुत आगतः । | गतः + लृतकः = गत लृतकः । |
| बालः + इव = बाल इव । | कः + एषः = क एषः । |
| कः + ईहते = क ईहते । | कुतः + ऐक्यम् = कुत ऐक्यम् । |
| सूर्यः + उदेति = सूर्य उदेति । | पीतः + ओष्ठः = पीत ओष्ठः । |
| ततः + ऊर्ध्वम् = तत ऊर्ध्वम् । | राज्ञः + औदार्यम्=राज्ञ औदार्यम् । |
| बालः + ऋषिः = बाल ऋषिः । | धीमतः + औत्सुक्यम्=धीमत औत्सुक्यम् । |

### ( आ )

| | |
|---|---|
| बालकाः + अमी=बालका अमी । | आगताः + ऋषयः=आगता ऋषयः । |
| बालिकाः + इमाः=बालिका इमाः । | ग्रन्थाः + एते=ग्रन्था एते । |
| ताराः + उदिताः=तारा उदिताः । | गताः + ओघाः=गता ओघाः । |

### हलि सर्वेषाम्[१]—

| | |
|---|---|
| (२) बालकाः + गताः = बालका गताः । | सन्तुष्टाः + बुधाः=सन्तुष्टा बुधाः । |
| नष्टाः + घटाः = नष्टा घटाः । | गताः + भीताः=गता भीताः । |
| पुत्राः + जाताः = पुत्रा जाताः । | अतीताः + मासाः=अतीता मासाः । |
| मधुराः + झंकाराः = मधुरा झंकाराः । | देवाः + यजन्ते = देवा यजन्ते । |

---

१. भोः, भगोः, अघोः का उदाहरण—भो + देवाः = भो देवाः । भगोः + नमस्ते = भगो नमस्ते । अघोः + याहि = अघो याहि ।

नवीनाः + डमरवः = नवीना डमरवः ।
गर्दभाः + ढौकन्ते = गर्दभा ढौकन्ते ।
आगताः + देवाः = आगता देवाः ।
अश्वाः + धावन्ति = अश्वा धावन्ति ।
उन्नताः + नगाः = उन्नता नगाः ।
एताः + रुग्णाः = एता रुग्णाः ।
शान्ताः + लभन्ते = शान्ता लभन्ते ।
नराः + वदन्ति = नरा वदन्ति ।
बालाः + हसन्ति = बाला हसन्ति ।

## विसर्ग-विमर्श

विसर्ग दो प्रकार के होते हैं—१ सजात ('स्' से उत्पन्न) और २ रजात 'र्' से उत्पन्न )।

( क ) ( १ ) शब्द, ( २ ) विभक्ति और ( ३ ) प्रत्यय-सम्बन्धी—'स्' के स्थान में जो विसर्ग होता है, उसे सजात विसर्ग कहते हैं। यथा—

( १ ) शब्दसम्बन्धी—निस् = निः, दुस् = दुः, शनैस् = शनैः ।
( २ ) विभक्तिसम्बन्धी—रामस् = रामः, पठामस् = पठामः ।
( ३ ) प्रत्ययसम्बन्धी—एकशस् = एकशः, बहुशस् = बहुशः ।

( ख ) ( १ ) स्वाभाविक ( शब्दसम्बन्धी र् के स्थान में ) और ऋकारस्थानिक—('र्' के स्थान में) जो विसर्ग होता है, उसे रजात विसर्ग कहते हैं।

( १ ) स्वाभाविक—स्वर् = स्वः । अन्तर् = अन्तः । प्रातर् = प्रातः ।
( २ ) ऋकारस्थानिक—गीर् = गीः । पूर् = पूः । भ्रातर् = भ्रातः ।

नोट—( १ ) क्वचित् 'ष्' के स्थान में भी 'र्' होकर विसर्ग होता है। यथा—सजुष् = सजूः ( दे. 'ससजुषो रुः । सू. ) क्वचित् 'न्' के स्थान में भी विसर्ग हो जाता है। यथा—

अहन् = अहः । ( दे. 'अहन्' सू. हलन्तनपुंसक ) ।

## अभ्यास

सन्धि कुरु—( १ ) वायुः + चलति । तरोः + छाया । बालः + टीकते ।
( २ ) कविः + अयम् । गतिः + इयम् । रविः + उदेति । धीः + असौ ।
भानुः + गच्छति । हरेः + ज्येष्ठः । निः + दयः ।
( ३ ) नवः + अंकुरः । मनः + अभिलाषा । कः + अहम् ।

( ४ ) शोभनः + घटः । रामः + जयति । कृतः + यत्नः । शान्तः + रोगः ।

( ५ ) रामः + उवाच । नरः + एषः । रक्तः+ओदनः । ब्राह्मणः + आगतः ।

सन्धिविच्छेदं कुरु—

( १ ) तपश्चिनोति । दुश्चिन्ता । खगाश्चञ्चलाः । मग्नष्ठक्कुरः ।

( २ ) हरिरयम् । बन्धुरागतः । ऋषिर्गच्छति ।

( ३ ) रामाऽधीशः । कुतोऽधीतः । कोऽयम् । पुनर्गच्छति । मातर्गच्छ ।

( ४ ) श्यामो गतः । कुतो झनत्कारः । दुष्टो हतः ।

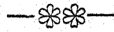
शुद्ध कुरु—( १ ) पूर्णो चन्द्रः । मनोकामना । मत्तो ठक्कुरः ।

( २ ) भान्वसौ । बन्ध्वागतः । निरदयः ।

( ३ ) पयाऽभिलाषो । देवाऽहम् ।

( ४ ) कृष्णोवाच । कुतो आगतो ऋषयः । ततोर्ध्वम् । देवो पठति ।

इति विसर्गसन्धिविमर्शः ।



# परिशिष्टम्–२

## सुबन्त–प्रकरणम्—

सु, औ, जस् आदि २१ विभक्तियों को 'सुप्' कहते हैं और 'सुप्' जिसके अन्त में हो वह 'सुबन्त' कहा जाता है। सुप् और तिङ् घटित पदसमूह को वाक्य कहते हैं।

**अनुशीलनी कारिका—**

सुबन्तं च तिङन्तं च पदमित्यभिधीयते।
सुप्-तिङ्-चयो वाक्य क्रिया वा कारकान्विता॥

## ( क ) स्त्रीप्रत्यय-विमर्शः

जिन प्रत्ययों के लगाने से पुंल्लिग शब्द स्त्रीलिंग हो जाते हैं, उन प्रत्ययों को स्त्रीप्रत्यय कहते हैं। स्त्रीप्रत्यय पाँच हैं—ङीप्, ङीष् ङीन्, टाप् और चाप्। ( मुख्य स्त्री प्रत्यय टाप् और ङीप् ही है )। टाप्, चाप् का शेष 'आ' और ङीप्, ङीष्, ङीन् का शेष 'ई' रहता है।

नोट—आप्रत्ययान्त स्त्रीलिंग शब्दों के रूप 'लता' के समान और ईप्रत्ययान्त स्त्रीलिंग शब्दों के रूप 'गौरी' के समान होते हैं।

### ( १ ) प्रमुख आबन्त स्त्री० शब्दों के स्वरूप ( रूप 'लता' शब्दवत् )

| | | | |
|---|---|---|---|
| अचल = अचला | चतुर = चतुरा | धर्मज्ञ = धर्मज्ञा | मूर्ख = मूर्खा |
| अज = अजा | चपल = चपला | निपुण = निपुणा | रम = रमा |
| अपेय = अपेया | जलद = जलदा | पठनीय=पठनीया | रमणीय=रमणीया |
| आत्मज=आत्मजा | तरल = तरला | पूर्व = पूर्वा | लघुतर = लघुतरा |
| आर्य = आर्या | त्याज्य=त्याज्या | पेय = पेया | वरद = वरदा |
| उत्तम = उत्तमा | त्वदीय=त्वदीया | प्रथम = प्रथमा | शिष्य = शिष्या |
| कामदुघ=कामदुघा | दक्षिण = दक्षिणा | प्रबल =प्रबला | शील = शीला |
| कृपण = कृपणा | दीन = दीना | फलद = फलदा | सरल = सरला |
| कृश = कृशा | दुर्गम = दुर्गमा | भवदीय=भवदीया | सुशील = सुशीला |
| खट्व = खट्वा | देय = देया | मध्यम = मध्यमा | हसित = हसिता |
| गम्भीर=गम्भीरा | द्वितीय=द्वितीया | मनोरम=मनोरमा | हेय = हेया |

## ( २ ) प्रमुख ईबन्त स्त्री० शब्दों के स्वरूप ( रूप गौरी शब्दवत् )

| | | | |
|---|---|---|---|
| आभीर = आभीरी | गर्दभ = गर्दभी | तट = तटी | मृग = मृगी |
| औपगव=औपगवी | गोप = गोपी | दूत = दूती | बिडाल = बिडली |
| कपाल = कपाली | गौर = गौरी | निशाचर=निशाचरी | व्याघ्र = व्याघ्री |
| कुमार = कुमारी | घोटक = घोटकी | पिशाच = पिशाची | शूद्र = शूद्री |
| काक = काकी | चक्रवाक=चक्रवाकी | ब्राह्मण=ब्राह्मणी | शूकर = शूकरी |
| कुक्कुर = कुक्कुरी | चन्द्रमुख=चन्द्रमुखी | मराल = मराली | शृगाल = शृगाली |
| कुरङ्ग = कुरङ्गी | चाण्डाल=चाण्डाली | महिष = महिषी | सुन्दर = सुन्दरी |
| किशोर = किशोरी | जम्बूक = जम्बूकी | महाशूद्र=महाशूद्री | हंस = हंसी |

## ( ३ ) प्रमुख ऋकारान्त ईबन्त स्त्री० शब्द ( रूप गौरी वत् )

| | | | |
|---|---|---|---|
| कर्तृ = कर्त्री | त्वष्टृ = त्वष्ट्री | नप्तृ = नप्त्री | भवितृ = भवित्री |
| कवयितृ=कवयित्री | दातृ = दात्री | प्रसवितृ=प्रसवित्री | भोक्तृ = भोक्त्री |
| क्रोष्टृ = क्रोष्ट्री | धातृ = धात्री | प्रसास्तृ = प्रसास्त्री | होतृ = होत्री |

## ( ४ ) प्रमुख नान्त इबन्त स्त्री० शब्द ( रूप गौरी शब्दवत् )

| | | |
|---|---|---|
| अनुरागिन् = अनुरागिणी | पयस्विन् = पयस्विनी | भामिन् = भामिनी |
| अधिकारिन्=अधिकारिणी | प्रियवादिन् = प्रियवादिनी | भोगिन् = भोगिनी |
| अपकारिन्=अपकारिणी | मनःस्विन् = मनःस्विनी | विलासिन् = विलासिनी |
| उपकारिन्=उपकारिणी | मनोहारिन्=मनोहारिणी | विद्यार्थिन् = विद्यार्थिनी |
| गुणिन् = गुणिनी | मानिन् = मानिनी | भिखारिन् = भिखारिणी |
| तपस्विन् = तपस्विनी | मालिन् = मालिनी | व्यभिचारिन्=व्यभिचारिणी |
| दण्डिन् = दण्डिनी | मेधाविन् = मेधाविनी | हस्तिन् = हस्तिनी |

## अभ्यास

( १ ) स्त्रीप्रत्ययान्त—कक्ष, छात्र, पुत्र, निपुण, नप्तृ, कर्तृ, करिन् तथा हरिण शब्दों के रूप प्रथमा बहुवचन में लिखिये ।

( २ ) अजा–ऽश्वा मूषिका बाला एडका चटका तथा ।
बाला होडा विलाता च साला च चतुरा तथा ॥

उपर्युक्त पद्यघटित शब्दों के षष्ठी विभक्ति में रूप लिखिये ।

# ( ख ) कारक-विमर्शः

## कारक-लणक्ष—

'क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्' = क्रिया के जनक ( सम्पादक ) को कारक कहते हैं। अथवा—'करोति क्रियां निर्वर्तयति इति कारकम्' = जो क्रिया या व्यापार का निर्वर्तक या किसी न किसी रूप में साधक हो उसे कारक कहते हैं। यथा—'अन्तेवासी गुरुकुले उपाध्यायात् ज्ञानाय मनसा पुस्तकं पठति' यहाँ पठनरूप व्यापार का जनक किसी न किसी रूप में सभी हैं। क्योंकि अन्तेवासी कर्ता होकर, गुरुकुल आधार होकर, उपाध्याय अपादान रूप में, ज्ञान उद्देश्यत्वेन सम्प्रदान होकर, मन प्रकृष्ट उपकारक तथा करण रूप से और पुस्तक कर्म रूप से एक ही पठन क्रिया का निष्पादन करते हैं ( याने क्रिया के जनक होते हैं )।

जो क्रिया का जनक नहीं है, उसे कारक नहीं कहते। इसीलिये सम्बन्ध ( षष्ठी ) और सम्बोधन संस्कृत में कारक नहीं माने जाते हैं। उदाहरण यथा—'हे बालक! त्वम् रामस्य वस्त्रं पश्य' यहाँ 'पश्य' इस व्यापार का कर्ता 'त्वम्' है, न कि बालक। तथा 'राम' तो केवल वस्त्र का सम्बन्ध बतलाया है, न कि क्रिया ( व्यापार ) का जनक है, अतः सम्बन्ध और सम्बोधन कारक नहीं है।

## कारक के भेद—

'कर्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च।
अपादानाऽधिकरणं चेत्याहुः कारकाणि षट्'॥'

कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ये छै प्रकार के कारक होते हैं।

## ( १ ) कर्ता

स्वतन्त्रः कर्ता—( क्रियासम्पादकः ( स्वतन्त्रः ) कर्ता )

कर्तृलक्षण—'कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे प्रधानीभूतधात्वर्थव्यापाराश्रयत्वं कर्तृत्वम्' अर्थात् क्रियासम्पादन के विषय में जो प्रधान ( स्वतन्त्र ) भाव से विवक्षित रहता है, उसे कर्ता कहते हैं।

नोट—सकर्मक धातु से कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य ( उभय ) में तथा अकर्मक धातु से केवल भाववाच्य में प्रयोग होता है ।

( १ ) कर्तृवाच्य में—कर्ता प्रथमान्त, कर्म द्वितीयान्त तथा तिङन्त क्रिया के पुरुष-वचन कर्ता के अनुसार प्रयुक्त होते हैं । यथा—'इन्दुमती पुष्पं चिनोति' ।

( २ ) कर्मवाच्य में—कर्ता तृतीयान्त, कर्म प्रथमान्त तथा क्रिया 'यक्' प्रत्ययघटित आत्मनेपदी तथा उनके पुरुष-वचन कर्मानुसार ही एक० द्वि०, बहुवचनान्त होते हैं । यथा—'रामेण-पठ्यते, वेदौ पठ्येते, वेदाः पठ्यन्ते ।

( ३ ) भाववाच्य में—कर्ता कर्मवाच्यवत् तृतीयान्त ही होता है पर विशेषता यह होती है कि कर्म नहीं होता और अकर्मक क्रिया सदैव प्रथम पुरुष की यक्प्रत्ययघटित आत्मनेपदी तथा एकवचनान्त ही होती है । यथा—'मया, आवाभ्याम्, अस्माभिर्वा स्थीयते' ।

अनुशीलनी कारिका—

( १ ) 'कर्तुर्हि प्रथमा बोध्या क्रिया कर्त्रनुसारिणी ।
कर्मणस्तु द्वितीया स्याद् वचनं कर्तृवन्मतम् ॥'

( २ ) 'कर्मणः प्रथमा बोध्या क्रिया कर्मानुसारिणी ।
स्यात् सार्वधातुके यक् च धातोरप्यात्मने पदम् ॥
कर्तुः स्थाने तृतीया स्यात् कर्मवाच्यस्य संस्थितिः ॥'

( ३ ) 'भाववाच्येऽन्यपुरुषे वचनं चैकमीरितम् ।
कर्तुः स्थाने तृतीया स्यात् सर्वत्रैष क्रमो मतः ॥'

## ( २ ) कर्म

कर्तुरीप्सिततमं कर्म—( कर्ता क्रिया द्वारा यत् किञ्चित् प्राप्तुमिष्टतमं मन्यते तत् कर्मकारकं भवति । ) अर्थात्—क्रियाद्वारा जो आक्रान्तः हो, याने कर्ता अपनी क्रिया ( व्यापार ) द्वारा जिसको प्राप्त करता हो उसे कर्मकारक कहते हैं । कर्मकारक से द्वितीया विभक्ति होती है ।

नोट—कहीं अनीप्सित कारक की भी कर्मसंज्ञा होती है । जैसे—'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति, ओदनं भुञ्जानो विषं भुंक्ते । इत्यादि ।

## ( क ) द्विकर्मक—

अकथितं च—( अपाद [illegible]दिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् ) अपादानादि कारकों की अवि[illegible] से कर्मत्व रूप में वक्ता की इच्छा होने पर अपादानादि भी कर्म हो [illegible] ( इसीको अकथित, अविवदित या अप्रधान ( गौण ) कर्म कहते [illegible] धातू सूत्र में परिगणित हैं—दे० 'दुह्—याच्—पच्' इत्यादि [illegible] '-गां दुग्धं दोग्धि' ) ।

कर्मलक्षण—कर्तृ[illegible]ारप्रयोज्य-फलवत्वप्रकारकेच्छानिरूपित-विषयताश्रयत्वम् । अ[illegible]ा के जिस रूप पर क्रिया के व्यापार का फल पड़ता है, उसे 'कर्म' कहते [illegible] कर्म से द्वितीया विभक्ति होती है ।

अनुशीलनी कारिका—

'कर्तृवाच्यप्रयोगे तु द्वितीया कर्तृकारके ।
धिक्-प्रतीत्यादिभिर्योगे क्रियायाश्च विशेषणे ।।
ऋते विनादिभिश्चैव द्वितीया समता मता ।।'

नोट—'विवक्षाधीनानि कारकाणि भवन्ति' ( इति न विस्मर्तव्यम् ) अत एव-विवक्षा होने पर-'गोपः गां दुग्धं दोग्धि' की जगह—गोपः गोः दुग्धं दोग्धि । इत्यादि अपादान कारक भी हो सकता है ।

## ( ३ ) करणम्

( करणे तृतीया = करण में तृतीया विभक्ति होती है )

साधकतमं करणम्—( यद्व्यापाराऽन्तरं क्रियायाः निष्पत्तिः तत् करणम् ) अर्थात् जिसके व्यापार के अव्यवहित उत्तर काल में क्रिया की निष्पत्ति होती है, उसे करण कारक कहते हैं । कहा भी है—

'क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्-व्यापारादनन्तरम् ।
विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तत् तदा स्मृतम् ।।' (हरि का.)

उ[illegible]०—'रामेण बाणेन हतो बाली' यहाँ बाण के व्यापार होने के अव्यवहितो[illegible] काल में ही वाली का हनन होता है, अतः यहाँ बाण करण है ।

'क[illegible]' और 'हेतु' में थोड़ा भेद है (दे. साधकतमं करणम्' मूल ग्रन्थ टी०)।

अनुशीलनी कारिका—

'भावे कर्मणि वाच्ये च तृतीया कर्तृकारके।
करणे च तथा हेतौ प्रकृत्यादेः प्रयोगतः॥
विना-हीनादिभिर्योगे सहार्थैश्च विशेषणे।
विकृताङ्गे तृतीया स्याद् योगे तुल्यार्थकैरपि॥'

## (४) सम्प्रदान

(यस्मै सम्यक् प्रदीयते स सम्प्रदानम्)

चतुर्थी सम्प्रदाने—सम्प्रदान कारक में चतुर्थी विभक्ति होती है।

तदुक्तम्—

'सम्प्रदाने चतुर्थी स्यात् तादर्थ्ये च क्रियायुते।
रुच्यर्थानां प्रीयमाणे नमो योगे च सा भवेत्॥'

अथवा— सम्प्रदाने निमित्तार्थे क्रियायोगे च कुत्रचित्।
शब्दैः शक्तसमर्थाद्यैर्नमः–स्वस्तिहितादिभिः॥
रुचादिधातुयोगे च चतुर्थी विहिता भवेत्॥

उदा० १–सम्प्रदाने–विप्राय गां ददाति। २–निमित्तार्थे-परोपकाराय सतां विभूतयः। ३—क्रियायोगे–सर्वस्मै सत्पथं दर्शयेत्। ४—शक्तादियोगे–अलं मल्लः (शक्तः) मल्लाय, गुरवे नमः, प्रजाभ्यः स्वस्ति, अग्नये स्वाहा, पितृभ्यः स्वधा, छात्त्राय हितम्, तृणाय मन्ये, धनिने सुखम्, यज्ञदत्ताय शतं धारयति, भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः, गोपी कृष्णाय श्लाघते, पुष्पेभ्यः स्पृहयति। ५—रुच्यादियोगे—गुरवे रोचते दधि, मित्राय क्रुध्यति, इत्यादि।

(क) जिसको स्वाधिकार निवृत्तिपूर्वक कुछ दिया[1] जाय अर्थात् दान क्रिया के कर्म के साथ जिसका सम्बन्ध स्थापित किया जाय उसे सम्प्रदान कारक कहते हैं। यथा—'विप्राय गां ददाति'।

---

१. स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक–परस्वत्वोत्पादनानुकुलव्यापारो दाधात्वर्थः। अत एव 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' इत्यत्र न चतुर्थी।

परस्वत्वोत्पत्तिजनकव्यापारमात्रस्य दाधात्वर्थवादिनां मते तु 'विष्णवे नमः' इत्यादौ 'इदं न मम' इत्यन्ते योज्यम्।

यहाँ दान क्रिया का कर्म गौ है, उस गौ के साथ विप्र का स्वत्व ( अधिकार ) स्थापित किया जाता है, अतः यहाँ विप्र सम्प्रदान कारक है।

( ख ) जिसकी आकांक्षा से कोई कार्य किया जाय अर्थात् जो क्रिया की प्रवृत्ति का फल हो भाष्यकार उसे भी सम्प्रदान कारक कहते हैं, जैसे—'भुक्तये हरिं भजति'।

अनुशीलनी कारिका—

'क्रिययाऽभीप्सिताच्चैव धारि-रुचि-स्पृहादिषु।
तादर्थ्ये क्लिपि-योगे चोत्पादकज्ञापन एव च॥
हितयोगे तुमुन्योगे नम आदिप्रयोगतः।
आशीर्वादे चतुर्थी स्यात् क्रुधादेः कर्मतः तथा॥'

अन्यच्च—

'सम्प्रदाने चतुर्थी स्यात् तादर्थ्ये च क्रियायुते।
रुच्यर्थानां प्रीयमाणे नमो योगे च सा भवेत्॥'

## ( ५ ) अपादान

( यतो विश्लेषः तदपादानम् )

'अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाऽचलम्।
ध्रुवमेवाऽतदादेशात् तदपादान[1]मुच्यते॥
पततो ध्रुव[2] एवाऽश्वो यस्मादश्वात् पतत्यसौ।
तस्याप्यश्वस्य पतने कुडचादि ध्रुवमिष्यते'॥ ( ह. का. )

ध्रुवमपायेऽपादानम्—अर्थात् जिससे कोई वस्तु अलग हो याने प्रस्तुत धात्वर्थव्यापार का जो आश्रय नहीं हो, किन्तु विगलाव में अवधि होता हो उसे अपादान ( ध्रुव ) कहते हैं। ( अपादान कारक में पञ्चमी होती है। ) यथा—'वृक्षात् पर्णं पतति'।

नोट—पञ्चमी भी अनुक्त अपादान में ही होती है। इसीलिये 'बिभेति' अस्माद् इति भीमः' यहाँ 'म' प्रत्यय से अपादान उक्त है अतः 'भीम' से पञ्चमी नहीं होती।

---

१. अपादानत्व–विभागजनकव्यापाराऽनाश्रयत्वे सति विभागाश्रयत्वम्।
२. ध्रुवत्वं–प्रकृतधात्वर्थव्यापाराश्रयत्वे सति तज्जन्यविभागाश्रयत्वम्।

अनुशीलनी कारिका—

'अपादाने ल्यबर्थे च योगे पूर्वादिभिस्तथा ।
उत्कर्षे पञ्चमी ज्ञेया हेत्वर्थे तु विभाषया ॥
ऋते विनादिभिर्योगे पञ्चमी च स्मृता बुधैः ।'

## षष्ठी = षष्ठ्याः (सम्बन्धस्य)कारकत्वं नास्ति

(सम्बन्धस्य क्रियाजनकत्वाऽभावात्) । अर्थात् सम्बन्धषष्ठी को कारक नहीं माना जाता, इसलिये कि सम्बन्ध में क्रियाजनकत्व रूप कारक नहीं है । जैसे—

"माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति' इस वाक्य में पिता से ही प्रश्नादि क्रिया की उत्पत्ति हो जाने के कारण उनके प्रति माणवक अन्यथा सिद्ध हो जाता है । ( दे० पृ० २३२ )

अनुशीलनी कारिका—

'षष्ठी भवति सम्बन्धे कृदन्ते कर्तृकर्मणोः ।
तृतीया स्यात् तथा षष्ठी कृत्यानां कर्तृकारके ॥
तुल्यार्थयोगे षष्ठी स्यात् तृतीया च विभाषया ।'

## ( ७ ) अधिकरणम्

आधारोऽधिकरणम्—कर्ता और कर्म के आधार (आश्रय) को अधिकरण कारक कहते हैं । अनुक्त अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति होती है ।

आधार तीन प्रकार का होता है—१. ऐकदेशिक, २. वैषयिक, ३. अभिव्यापक । उदाहरण—१. कटे आस्ते, २. मोक्षे इच्छाऽस्ति, ३. तिलेषु तैलम् ।

अनुशीलनी कारिका—

'आधारे च तथा भावे विभक्तिः सप्तमी भवेत् ।
अनादरे च निर्धारे षष्ठी स्यात् सप्तमी तथा ॥'

अन्यच्च—

'सप्तमी त्रिविधाधाराद् दूरान्तिकार्थतोऽपि च ।
भावान्तरं यतो लक्ष्यं कर्मयोगे निमित्ततः ॥
नित्यैव सा मता सद्भिरथ निर्धारणे यतः ।
भृशाऽनादरभावे च षष्ठी स्यात् सप्तमी तथा ॥'

कारकविमर्श समाप्त ।

—❀❀—

# परिशिष्टम्—३

## लिङ्गानुशासनम्[1]

### ( १ ) अकारान्ताः नित्यपुंल्लिगशब्दाः—

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| अंशः | कुम्भः | दैत्यः | मठः | व्रातः |
| अङ्कुरः | कुसूलः | धूर्तः | मन्त्रः | शरः |
| अक्षतः (नि.ब.) | केशः | ध्वजः | महानसः | शुकः |
| अन्तः | क्षुरः | नखः | मुञ्जः | शेफः |
| अभ्रः | गजः | नितम्बः | मुहूर्तः | सङ्गः |
| अमित्रः | गणः | निर्व्यूहः | मृदङ्गः | समयः |
| असुरः | गणेशः | पङ्कः | मेघः | समुद्रः |
| इनः | गन्धः | पटः | मेढ्रः | सर्पः |
| उपलः | गुल्फः | पल्वलः | यज्ञः | सुरः |
| उष्ट्रः | घटः | पाकः | यूथः | सूत्रः |
| कंसः | चयः | पुंखः | रथः | सोमः |
| कटाहः | तरङ्गः | पुञ्जः | रामः | स्कन्धः |
| कण्ठः | तालः | पुत्रः | रेफः | स्तनः |
| कन्दः | तुरंगः | पुरुषः | लाजः (नि.ब.) | स्तवकः |
| कपोलः | तूलः | पुरोडाशः | वंशः | स्तम्बः |
| कपः | दन्तः | पूगः | वायसः | स्वर्गः |
| कम्बलः | दारः (नि.ब.) | बान्धवः | वारिवाहः | हयः |
| करः | दीपः | बुद्बुदः | वृक्षः | हर्षः |
| कल्पः | दूतः | भीमः | वृषः | हस्तः |
| कुन्तः | देवलः | भुजः | वृषलः | ह्रदः |

१. 'लिंगानुशासन' में बहु प्रचलित व्यावहारिक शब्दों का ही संकलन किया गया है ।

### ( २ ) इकारान्ताः नित्यपुंल्लिगशब्दाः—

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| अञ्जलिः | कविः | निधिः | ध्वनिः | सन्धिः |
| अतिथिः | कृमिः | पाणिः | मौलिः | सारथिः |
| आधिः | गिरिः | वस्तिः | रविः | |
| ऋषिः | ग्रन्थिः | मणिः | शशिः | |
| कपिः | दूतिः | मुनिः | विधिः | |

### ( ३ ) उकारान्ताः नित्यपुंलिंगशब्दाः—

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| असुः | गुरुः | पलाण्डुः | भिक्षुः | विधुः |
| अणुः | चरुः | पशुः | मनुः | विष्णुः |
| अनुसन्धित्सुः | चित्रभानुः | पांशुः | मन्युः | वेणुः |
| असुः | जन्तुः | प्रभुः | मरुः | वेपथुः |
| इन्दुः | जिघत्सुः | फल्गुः | मृत्युः | शत्रुः |
| ऊरुः | जिष्णुः | बन्धुः | मृदुः | शम्भुः |
| ऋतुः | तन्तुः | बटुः | मेरुः | सहस्रांशुः |
| कृपालुः | दस्युः | बाहुः | राहुः | सिन्धुः |
| कृशानुः | धूमकेतुः | बिन्दुः | रिपुः | सुधांशुः |
| केतुः | पटुः | भविष्णुः | लज्जालुः | सूनुः |
| क्रतुः | परशुः | भानुः | वायुः | सेतुः |
| | | | | हेतुः |

### ( ४ ) आकारान्ताः नित्यस्त्रीलिंगशब्दाः—

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| अजा | घटिका | दशा | माला | शुभाशंसा |
| अध्यापिका | चिता | दिशा | यात्रा | शोभा |
| आज्ञा | चिन्ता | धारा | रमा | सिकता |
| इच्छा | छाया | पत्रिका | रेखा | सीता |
| उमा | जनता | प्रभा | लज्जा | सेना |
| कन्या | याच्ञा | बाला | लता | आशा |
| कामना | ज्योत्स्ना | बालिका | विभा | कान्ता |
| गङ्गा | तारा | भाषा | शारदा | हेला |

नोट—कुछ आकारान्त शब्द भी नित्यपुंल्लिग होते हैं। यथा—विश्वपा, गोपा, धनपा, शङ्खध्मा तथा हाहा।

## ( ५ ) इकारान्ताः नित्यस्त्रीलिंगशब्दाः—

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| अशनिः | कृतिः | त्रुटिः | भ्रूकुटिः | वलिः |
| अवनिः | गतिः | पंक्तिः | मतिः | व्रतिः |
| कीर्तिः | ग्लानिः | भूमिः | राजिः | शष्कुलिः |

## ( ६ ) ईकारान्ताः नित्यस्त्रीलिंगशब्दाः—

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| अटवी | गौरी | धात्री | भगवती | लेखनी |
| अवीः | जननी | नर्तकी | महती | वाणी |
| उर्वी | जगती | नारी | महिषी | श्रेणी |
| कुटी | तन्त्रीः | पत्नी | युवती | सखी |
| कुमारी | तरीः | पृथिवी | राज्ञी | स्त्री |
| गृहिणी | धरित्री | भगिनी | लक्ष्मीः | हंसी |

नोट—अवी, तन्त्री, तरी, लक्ष्मी ( दे० पृ० ११३ )।

## ( ७ ) अकारान्ताः नित्यनपुंसकलिंगशब्दाः—

| | | | |
|---|---|---|---|
| अजिनम् | ऋजीषं (ताबा) | रुक्मम् | शतम् |
| अध्यात्मम् | कल्मषम् | रुधिरम् | शराशनम् |
| अन्नम् | काननम् | रूपम् | शिल्पम् |
| अन्तरीपम् | कार्मुकम् | रोकं (बिल) | शुक्रं (वीर्यं) |
| अभ्रम् | किल्विषम् | लक्ष्मम् | शोणितम् |
| अमृतम् | कुशलम् | लपनम् | श्मशानम् |
| अम्बरीषम् | कोदण्डम् | लवणम् | श्वभ्रं (बिल) |
| अरण्यम् | क्षीरं (जल) | लाङ्गलम् | समीपम् |
| अशनम् | जीवनम् | लिङ्गम् | सरिलं ( जल ) |
| आननम् | मांसम् | लोचनम् | सलिलम् |
| आस्यम् | मिथुनम् | लौहम् | साहसम् |
| उडुपम् | मुखम् | वक्त्रम् | सोपानम् |
| उत्तरीयम् | मेघपुष्पं (विद्युत्) | वनम् | हलम् |
| उदकम् | रक्तम् | वित्तम् | हसनम् |
| उष्णम् | रन्ध्रम् | विपिनम् | हिरण्यम् |
| इन्द्रियम् | रत्नम् | वेतनम् | हृदयम् |
| ऋक्थम् | रिक्थम् | शंवरं (जल) | |

## ( ८ ) इकारान्ताः नित्यनपुंसकलिङ्गशब्दाः—

१. वारि २. अस्थि ३. दधि ४. सक्थि ५. अक्षि ६. सुधि

## ( ९ ) उकारान्ताः नित्यनपुंसकलिङ्गशब्दाः—

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| अम्बु | ऊरु | तालु | मरु | श्मश्रु (दाढ़ी) |
| अश्रु | जतु (लोह) | दारु | वसु | सानु |
| अस्रु | जानु | मधु | वस्तु | |

# उभयलिङ्गी--शब्दाः

## ( १० ) अकारान्ताः पुंलिङ्ग–नपुंसक–शब्दाः—

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| अंकुश | ऐरावत | क्ष्वलित (गर्जन) | निदाघ | मेह (रोग) |
| अघ | औषध | खण्ड (भाग) | पटह | लोहित |
| अभ्र | ककुद | गृह | पट्ट | वज्र |
| अम्बुद | कबन्ध | घृत | पार्श्व | शल्य |
| अर्घ | काश | दण्ड | पुच्छ | शव |
| अर्घ्य | कुञ्ज | दर्प | पुस्तक | शृङ्ग |
| अष्टापद | कुथ | दर्भ | प्रस्थ | सैन्धव |
| आयुध | कुलिश | दृढ | बुस्त (कलिया) | |
| उद्यम | कूर्च | देह | मुस्त (माथा) | |

## ( ११ ) पुंलिंग–स्त्रीलिङ्ग–शब्दाः—

| | | | |
|---|---|---|---|
| कण्डु (खुजली) | त्रुटि | मरीचि | यष्टि ( छड़ी ) |
| कर्कन्धु (बेर) | पाटलि (वृक्ष) | मसि (स्याही) | रेणु |
| किष्कु (हाथभर) | बस्ति (मूत्राशय) | मुष्टि | शाल्मलि |
| गो ( बैल, गौ ) | मणि | मृत्यु | सीधु ( मेघ ) |

नोट—( १ ) युष्मद्, अस्मद् तथा कति शब्द तीनों लिंगों में समान होते हैं।

( २ ) अश्विनीकुमार शब्द तथा पति-पत्नी अर्थक दम्पति और जम्पति शब्द द्विवचनान्त ही प्रयुक्त होते हैं।

( ३ ) दार (स्त्रीवाची), अक्षत, लाज ( लावा ), असु तथा प्राण शब्द नित्य बहुवचनान्त ही प्रयुक्त होते हैं।

लिंगानुशासन समाप्त।

—:※※:—

# संख्यानां गणनाक्रमः

१ = एकः
२ = द्वौ
३ = त्रीणि
४ = चत्वारि
५ = पञ्च
६ = षट्
७ = सप्त
८ = अष्ट
९ = नव
१० = दश
११ = एकादश
१२ = द्वादश
१३ = त्रयोदश
१४ = चतुर्दश
१५ = पञ्चदश
१६ = षोडश
१७ = सप्तदश
१८ = अष्टादश
१९ = एकोनविंशतिः
२० = विंशतिः
२१ = एकविंशतिः
२२ = द्वाविंशतिः
२३ = त्रयोविंशतिः
२४ = चतुर्विंशतिः
२५ = पञ्चविंशतिः

२६ = षड्विंशतिः
२७ = सप्तविंशतिः
२८ = अष्टाविंशतिः
२९ = एकोनत्रिंशत्
३० = त्रिंशत्
३१ = एकत्रिंशत्
३२ = द्वात्रिंशत्
३३ = त्रयस्त्रिंशत्
३४ = चतुस्त्रिंशत्
३५ = पञ्चत्रिंशत्
३६ = षट्त्रिंशत्
३७ = सप्तत्रिंशत्
३८ = अष्टात्रिंशत्
३९ = एकोनचत्वारिंशत्
४० = चत्वारिंशत्
४१ = एकचत्वारिंशत्
४२ = द्विचत्वारिंशत्
४३ = त्रिचत्वारिंशत्
४४ = चतुश्चत्वारिंशत्
४५ = पञ्चचत्वारिंशत्
४६ = षट्चत्वारिंशत्
४७ = सप्तचत्वारिंशत्
४८ = अष्टचत्वारिंशत्
४९ = एकोनपञ्चाशत्
५० = पञ्चाशत

५१ = एकपञ्चाशत्
५२ = द्विपञ्चाशत्
५३ = त्रिपञ्चाशत्
५४ = चतुःपञ्चाशत्
५५ = पञ्चपञ्चाशत्
५६ = षट्पञ्चाशत्
५७ = सप्तपञ्चाशत्
५८ = अष्टपञ्चाशत्
५९ = एकोनषष्टिः
६० = षष्टिः
६१ = एकषष्टिः
६२ = द्विषष्टिः
६३ = त्रिषष्टिः
६४ = चतुःषष्टिः
६५ = पञ्चषष्टिः
६६ = षट्षष्टिः
६७ = सप्तषष्टिः
६८ = अष्टषष्टिः
६९ = एकोनसप्ततिः
७० = सप्ततिः
७१ = एकसप्ततिः
७२ = द्विसप्ततिः
७३ = त्रिसप्ततिः
७४ = चतुःसप्ततिः
७५ = पञ्चसप्ततिः

७६ = षट्सप्तति।
७७ = सप्तसप्ततिः
७८ = अष्टसप्ततिः
७९ = एकोनशीतिः
८० = अशीतिः
८१ = एकाशीतिः
८२ = द्व्यशीतिः
८३ = त्र्यशीतिः
८४ = चतुरशीतिः
८५ = पञ्चाशीतिः
८६ = षडशीतिः
८७ = सप्ताशीतिः
८८ = अष्टाशीतिः
८९ = एकोननवतिः
९० = नवतिः
९१ = एकनवतिः
९२ = द्विनवतिः
९३ = त्रिनवतिः
९४ = चतुर्णवतिः
९५ = पञ्चनवतिः
९६ = षण्णवतिः
९७ = सप्तनवतिः
९८ = अष्टनवतिः
९९ = एकोनशतम्
१०० = शतम्
१००० = सहस्रम्

नोट—(१) संख्यावाचक 'एक' शब्द नित्य एकवचनान्त है। 'द्वि' शब्द नित्य द्विवचनान्त तथा 'त्रि' शब्द से लेकर अष्टादश ( १८ ) शब्द पर्यन्त शब्द नित्य बहुवचनान्त हैं। एकोनविंशति ( १९ ) से आगे सभी संख्यावाचक शब्द एक-वचनान्त ही होते हैं।

( २ ) इनमें एक से लेकर अष्टादश ( १८ ) पर्यन्त संख्या केवल संख्येय ( विशेषण ) रूप में प्रयुक्त होती हैं। यथा—एकः मनुष्यः, दश मनुष्याः। न कि—मनुष्यस्य एकः, मनुष्याणां दश।

किन्तु एकोनविंशति ( १९ ) से लेकर आगे की संख्याएँ संख्या ( विशेष्य ) और संख्येय ( विशेषण ) दोनों में प्रयुक्त होती हैं। यथा—विंशतिः बालकाः, बालकानां विंशतिः।

अनुशीलनी कारिका—

अष्टादशान्ता एकाद्याः संख्याः संख्येयगोचराः।
विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येयसंख्ययोः॥

(३) एक से अष्टादश पर्यन्त संख्याएँ तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होती हैं और 'ऊनविंशति' से लेकर 'नवनवति' पर्यन्त संख्याएँ स्त्रीलिंग ही हैं। जैसे—ऊनविंशतिः विंशतिर्वा छात्राः, विंशतिः बालिकाः, विंशतिः फलानि इत्यादि।

(४) ऊनविंशति आदि संख्याएँ जब संख्या ( विशेष्य ) अर्थ में प्रयुक्त होती हैं तब उनसे एकवचन, द्विवचन, बहुवचन, तीनों होते हैं। यथा—बालकानां विंशतिः, बालकानां विंशती, बालकानां विंशतयः, इत्यादि।

—❀:०:❀—

# परिशिष्टम्-४

## स्त्रीप्रत्ययान्तभागस्य प्रश्नपत्राणि

( १ )

१—वृद्धिगुणसंज्ञयोर्विषयव्यवस्थार्थमावश्यकत्वे कथम् ऐऔजिति सूत्रारम्भस्य सावर्ण्याभावज्ञापकत्वमिति समाधाय म, थ, ट, प, र वर्णेषु कयोरपि द्वयोः बाह्यप्रयत्ना लेख्याः। ( दे० शुरु का टेबिल ) १०

अथवा—नाज्झलावित्यत्राकारप्रश्लेषे फलं मानञ्च प्रदर्श्य "इको गुणवृद्धी" इति सूत्रं सोदाहरणं व्याख्येयम्।

२—दध्यत्र, अवश्यलाव्यम्, सुश्लोकेति, मामकी तनू इति, वाग्घरिः, सन्त्सः, सञ्च्छम्भुः, एतेषु त्रयाणामेव साधुत्वं विधाय 'कथन्तर्हि मदोदग्राः ककुद्मन्तः' इत्याद्युक्तेराशयं विशदीकुरुत ? १०

अथवा—कृष्णर्द्धिः, उपार्च्छति, होतृकारः, उत्थानम्, संस्कर्ता, चक्रिस्त्रायस्व, आविष्कृतम्, शिवोऽर्च्यः, स उ एकाग्निः, घूर्पतिः, एतेषु पञ्चैव साधनीयाः।

३—रामाय, हरौ, सख्युः, माभ्याम्, द्वयह्नि, गाम्, एतेषु त्रयाणां साधुत्वं विधाय क्रोष्टुशब्दस्य सर्वविभक्तिषु रूपाणि लिखत। १०

४—"जरसी" इत्यत्र शीभावमाशङ्क्य परमतप्रदर्शनपूर्वकं दीक्षितोक्तदिशा समाधाय च आस्ना, प्रीणां, ध्रुक्षु, राज्ञः, प्रियपञ्चाम्, अस्माकम्, अमुमुईचा, षण्णाम्, एतेषु त्रयाणामेव साधुत्वं विधेयम्। १०

५—स्वाम्पि, बहुराज्ञी, अजिका, चिरण्टी, इन्द्राणी, ब्रह्माणी, एतेषु त्रयाणामेव साधुत्वं विधाय स्वाङ्गलक्षणं ग्रन्थकारोक्तं सोदाहरणं वक्तव्यम्।

( २ )

१—सवर्ण-संहिता-संज्ञाविधायकानि सूत्राणि सोदाहरणानि लिखित्वा "अष्टाभ्य औश्, इत्यादावादेः परस्येत्येतदपि" इति पङ्क्तेराशयं स्पष्टं प्रतिपादयत।

२—तवल्कारः, प्रार्षभीयति, शिवेहि, रामकृष्णावमू आसाते, सञ्छम्भुः, कांस्कान्, मातुः कृपा, भो देवाः, एषु केचन पञ्चैव प्रयोगाः साधु साध्याः।

३—रामाणाम्, जरसौ, सखा, लून्युः, श्रीणाम्, हे वर्षाभु, ज्ञानानि, दध्ना, एषां केषाञ्चित् पञ्चानां सिद्धिः कार्या।

अथवा—सम्बुद्ध्याक्षिप्तस्याङ्गस्यैङ्ह्रस्वाभ्यां विशेषणान्नेहेति पङ्क्तेराशयं प्रतिपाद्य पितरावित्यत्र दीर्घाभावे कारणं लिखत।

४—अनड्वान्, यूनः, राज्ञः, अग्ने तेजस्विन्, तादृक्, विदुषः, अमूः, चेच्छिदि, विसृपः, एषु केचन पञ्चप्रयोगाः साधनीयाः। १०

अथवा—समस्यमाने द्व्येकत्ववाचिनी युष्मदस्मदीत्यादि कारिकार्थः सोदाहरणं स्फोरणीयः।

५—निर्भस्त्रिका, अतिधीवरी, गार्गी, कन्या, सपत्नी, ब्रह्माणी, तटी, नारी, एतेषां पञ्चानामेव सिद्धिः साधु कार्या। १०

( ३ )

१—प्रत्याहार-गुण-स्वरितसंज्ञाविधायकानि सूत्राणि विलिख्य, 'अकृतव्यूहाः पाणिनीया' इति परिभाषाफलं वदत।

२—प्राच्छेति, गव्यूतिः, पतञ्जलिः, देवदत्त, किम्बुक्तम्, उत्थानम्, संस्कर्ता, रामस्थाता, देवायिह, एषु केचन पञ्चैव साधु समाधेयाः। १०

३—रामाः, सर्वेषाम्, सुसखिना, यूष्णः, सुद्यावौ, मत्यै, पुनर्भूणाम्, सुधीनि, प्रीणाम्, एषु केषाञ्चित् पञ्चानामेव, सिद्धिः कार्या। १०

अथवा—कथं तर्हि दुर्धियः वृश्चिकभिय इत्यादिपङ्क्तेराशयं सम्यक् प्रतिपाद्य, अद्ड्डतरादिभ्य इति सूत्रे अद्डादेशे डकाराकारयोः प्रयोजनं वदत।

४—चतुर्षु, मववान्, अष्टौ, अतिमयि, प्राचा, सुवः, अमू, गवाक्षु, केचित् पञ्चैव प्रयोगाः साध्याः। १०

५—तत्र शालायाम्, सीमे, आसुरायणी, कुण्डी, शफोरूः, एषु त्रीन् प्रयोगान् संसाध्य शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिरित्यत्रामहत्पूर्वाग्रहणफलं प्रदर्शयत। १०

( ४ )

१—ह्रस्व-वृद्धि-संज्ञाविधायकानि प्रमाणानि लिखित्वा परनित्यान्तरङ्गेतिपरिभाषाफलं स्पष्टं प्रदर्शयत।

२—लव्यम्, प्रोधीयति, गवेन्द्रः, रामकृष्णावमू आसाते, तच्छिवः, नॄः पाहि, सर्पिष्कुण्डिका, शिबोऽर्च्यः, एतेषु केचन पञ्चैव प्रयोगाः साध्याः।

अथवा—चतुर्मुख इत्यत्र णत्वाभावं स्पष्टं प्रतिपाद्य, ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण इति सूत्रस्थपूर्वग्रहणफलं लिखत ।

३—सर्वेषाम्, सख्यौ, बहुश्रेयस्यै, धाता, निज्भिः, क्रोष्ट्री, हृन्दि, एषां केषांचित् पञ्चानामेव साधनं साधु कार्यम् । १०

४—विश्वौहः, मघोनः, ऋत्विक्, प्राचः, पुमान्, अमुना, अमूषाम्, स्रग्वीणि, एषु केचित् पञ्चैव साधनीयाः । १०

५—अधिहरि, गार्गी, एनी, कटी, पञ्चाजी, एतान् साधयत ।

( ५ )

१—तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् । अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः । इत्यनयोः कार्यवैलक्षण्यं सोदाहरणं प्रदर्श्य, अष्टाभ्य औशित्यादावादेः परस्येत्येतदपि परत्वादनेन बाध्यते, इति ग्रन्थस्याशयः सम्यक् प्रदर्शनीयः । १०

२—एङि पररूपम् इत्यत्र वा सुपीत्यनुवृत्तौ वाक्यभेदस्वरूपं तत् फलञ्च प्रदर्श्य प्राच्र्छति, लव्यम्, पटत्पटेति, अमी ईशाः । त्वङ्करोषि, पुँस्कोकिलः, निष्प्रत्यूहम्, शिवो वन्द्यः, मनोरथः, एष विष्णुः, एषु काँश्चिदपि चतुरः प्रयोगान् साधयत । १०

३—सर्वेषाम्, यूष्णि, नियाम्, मत्याम्, क्रोष्ट्री, श्रीपाय, अत्र चतुर्णां प्रयोगाणां सिद्धिं विधाय, नेयङुवङ्स्थानावस्त्री, इति सूत्रं सोदाहरणं व्याख्येयम् । १०

४—अनड्वान्, पथः, प्राचा, अद्भिः, धनूंषि, अमूनि, अत्र चतुर्णां सिद्धौ यत्नं विधाय क्रुन्मेजन्त इति सूत्रं सोदाहरणं व्याख्यायताम् । १०

५—ऐन्द्री, गार्गी, द्वचूध्नी, एनी, कठी, वैदी, विग्रहप्रदर्शनपूर्वकम् एषु चतुर्णां सिद्धिविधौ यत्नं विधाय, बहुव्रीहेर्भाषितपुँस्कत्वात्ततो विहितस्य नित्यम् । शैषिके कपि तु विकल्प एवेति देभे युक्तिः प्रदर्शनीया । १०

( ६ )

१—अ, इ, उ, ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादशभेदान् सयुक्तिकं प्रदर्श्य विश्वपाभिरित्यत्र होढ इति ढत्वं न भवति, इति ग्रन्थस्याशयः सम्यक् प्रदर्शनीयः । ८

२—गव्यूतिः, तवल्कारः, अवेहि, वाप्यश्वः, अमुकेऽत्र, चतुर्मुखः, तच्छिवः, सञ्छम्भुः, शिवच्छाया, मातुःकृपा, देवाः सन्ति, सैष दाशरथी रामः, एषु विशेषसूत्रनिर्देशपुरस्सरं षट्प्रयोगाः, साधु साधनीयाः । १२

३—रामाः, सर्वे, त्वत्कपितृकः, पूष्णः, सुसखिना, क्रोष्टुः, गमुल्, निज्भ्याम्, श्रियाम्, अजरसम्, प्रीणाम्, एषु केषाञ्चित्-पञ्चानामेव साधुत्वं प्रतिपादयत । १०

४—विश्वौहः, आभ्याम्, राज्ञः, वृत्रघ्नः, प्रियाष्टाभ्याम्, अतिवयम्, प्रतीचः, धीमान्, तक्, अमूषाम्, विमलदिवी, बेभिदि, एषु केवलं पञ्चानामेव साधुत्वं प्रतिपाद्य, 'अदसोऽद्रेः पृथङ्मुत्वं केचिदिच्छन्ति लत्ववत् । केचिदन्त्यसदेशस्य, नेत्यकेऽसेर्हिदृश्यते' इति कारिका सोदाहरणं व्याख्येया । १०

अथवा—सुद्यौः, अनेन, प्रतिदीव्नः, मघवान्, अष्टौ, युष्माकम् विविट्, अमुना, दृक्, असृक्, स्वाम्पि, अत्र केवलं पञ्चानामेव साधुत्वं विधाय, वष्टिभागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः, आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा, इति कारिका साधु व्याख्येया । १०

५—पञ्चाजी, निर्भस्त्रका, वक्ष्यमाणा, मनावी, दंष्ट्रा, उपाध्याया, सुस्वेदा, युवतिः, विग्रहप्रदर्शनपूर्वकम्—एषु चतुर्णां सिद्धिं विधाय, 'आकृतिग्रहणा जातिः, लिङ्गानां च न सर्वभाक्, सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या, गोत्रं च चरणैः सह' इति, अयम् सन्दर्भः सोदाहरणं व्याख्येयः ।

१९७४

१—हलन्त्यमिति सूत्रस्यावृत्तिप्रयोजनं सोपपत्तिकमुपवर्ण्यताम् । ८

२—नायकः, कृष्णर्द्धिः, शिवेहि, अमी ईशाः, पुंस्कोकिलः, कस्कः, यशस्कल्पम्, सर्पिष्कुण्डिका, भो देवाः, एतेषां प्रयोगाणां केवलं पञ्च-प्रयोगेषु सूत्रनिर्देशपूर्वकं सन्धिकार्याणि लिख्यन्ताम् १२

३—रामाय, पूर्वस्मिन्, मासः, बहुश्रेयस्यै, सख्युः, दध्ना, वारिणे, मधूनि, धात्रा, एषु, पञ्चप्रयोगाणां सूत्रनिर्देशपूर्वकं सिद्धिर्विधीयताम् । १०

४—लिहा, चत्वारः, कान्, राज्ञः, एभिः, मघोनः, पन्थाः, अष्टानाम्, आवाम्, अमुना, एतेषु पञ्चप्रयोगाणां सिद्धिर्विधीयताम् । १०

५—अजा, बहुयज्वा, उपत्यका, ऐन्द्री, आसुरायणी, त्रिहायणी, मामकी, वीरपत्नी, हिमानी, चन्द्रमुखी, एषु पञ्चैव विग्रहप्रदर्शनपूर्वकं प्राधान्येन स्त्रीप्रत्ययकार्यविधायकसूत्रनिर्देशपुरस्सरं साधनीयाः । अजाद्यतष्टाप् इत्यस्यार्थो लेख्यः । १०

अथवा

षिद्गौरादिभ्यश्च, वोतो गुणवचनात्, वसोः सम्प्रसारणम् एतेषां सूत्राणां सोदाहरणा व्याख्या विधेया ।

१९७५

१—"लण्" सूत्रेऽकारस्येत्संज्ञायाः प्रयोजनमुपवर्ण्यताम् । १०

अथवा

"कृत्तद्धितसमासाश्चेति" सूत्रे समासग्रहणस्य प्रयोजनं साधूपपाद्यताम् ।

२—आदित्यम्, प्रार्च्छति, चक्रि अत्र, वागीशः, शिवच्छाया, दुष्कृतम्, शिरस्पदम्, देवा इह, सैष दाशरथी रामः, एतेषां यथेच्छं पञ्चसु सन्धिकार्याणि सूत्रनिर्देशपुरस्सरं लिख्यन्ताम् । १०

३—रामाणाम्, द्वितये, द्व्यह्नि, हरौ, सुसखिना, त्रयाणाम्, क्रोष्टूनाम्, सर्वस्यै, प्रराभ्याम्, एषु पञ्चानां साधुत्वं विधीयताम् । १०

४—विश्वौहः, राजभ्याम्, वृत्रघ्नः, यूनः, युष्माकम्, प्राचः, अमी, अनया, अमूनि, एतेषु पञ्चानां संसिद्धिः क्रियताम् । १०

५—भवती, सर्विका, कुरुचरी, त्रिलोकी, सुराज्ञी, सपत्नी, मृद्वी, दित्यौही, युवतिः, एषु पञ्च प्रयोगाः साधु साधनीयाः । १०

१९७६

१—ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतमित्यत्र प्रमाणमुपन्यस्य, नाज्झलाविति सूत्रे आकारप्रश्लेषे मानं फलञ्चाभिधीयताम् । १०

२—सुद्ध्युपास्यः, लव्यम्, चिनुहि इति, आच्छादयति, चिद्रूपम्, पुरस्करोति, भो अच्युत, एषु त्रयाणां सन्धिकार्यं प्रतिपाद्य, "मातुः कृपा" इत्यत्र षत्वाभावं प्रतिपादयत । १०

३—रामाय, पूर्वस्मिन्, माभ्याम्, कुमार्यौ, गमुल्, निजभ्याम्, पुनर्भ्वाम्, अजरांसि, एषु पञ्चानां साधुत्वं ब्रूत । १०

४—धुक्षु, प्रियचत्वाः, एभिः, वृत्रघ्नः प्रियाष्टनः, प्राचः, असकौ, अद्भिः, भान्ती, एषु पञ्चानां सिद्धिं प्रदर्शयत । १०

अथवा

"समस्यमाने द्व्यर्थैकवाचिनी०" इत्येताः कारिकाः सोदाहरणं व्याख्येयाः ।

५—अतिसुन्दरी, देवदत्तिका, गङ्गाका, द्विपुरुषी, रोहिणी, भाजी, स्वङ्गी, शफोरूः, एषु चतुरः प्रयोगान् संसाध्य, वक्ष्यमाणा इत्यत्र ङीष् कथं नेति विलिख्यताम् । १०

—:❋❋:—

# कारकप्रश्नपत्राणि

( १ )

जपमनु प्रावर्षत् । क्रूरमभिक्रुध्यति । ग्रामस्य दूरात् । अधीती व्याकरणे । एते प्रयोगा विभक्त्यर्थनिर्देशपुरःसरं संसाध्य रुच्यभिलाषयोर्धात्वर्थयोर्भेदो दीक्षितोक्तरीत्या सम्यगुपपादनीयः । १२

( २ )

ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते । लक्ष्मीर्हरिं प्रति । अध्ययनेन वसति । विप्राय गां प्रतिशृणोति । मातुर्निलीयते । अधि भुवि रामः । एतेषु सूत्रनिर्देशं विशेषकार्यं प्रदर्शनीयम् ।

'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इति सूत्रस्यार्थमभिधाय, व्रजं गावः कृष्णेन इति कस्य सूत्रस्योदाहरणमिति स्पष्टं लिखत । १०

( ३ )

अविनीतं विनयं याचते । लक्ष्मीर्हरिं प्रति । अक्षान् दीव्यति । फलेभ्यो याति । दक्षिणा ग्रामात् । आयुष्यं कृष्णाय । गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः । उपपरार्धे हरेर्गुणाः। एतेषु प्रयोगेषु प्रत्येकं सूत्रेण साकं कारकविभक्तिं दर्शयत । ६

परिमाणमात्रे द्रोणो व्रीहिः । इति फक्किका व्याख्येया । ५

( ४ )

भक्तो विष्णुं प्रति । अक्षान् दीव्यति । कृष्णाय ईक्षते । चैत्रात् पूर्वः । अधि राज्यम् । अत्र विभक्तिविधायकानि विलिख्य 'कर्तृकर्मणोरि'ति सूत्रे कृद्ग्रहणं सफलयत । १०

( ५ )

ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति । अविनीतं विनयं याचते । मासमासयति चैत्रम् । अह्नानुवाकोऽधीतः । पुष्पेभ्यः स्पृहयति । अध्ययनात् पराजयते । चर्मणि द्वीपिनं हन्ति । उपपरार्धे हरेर्गुणाः । एषु यथेच्छं पञ्चसु विशिष्टविभक्तिविधायकानि सूत्राणि लिखत । १०

कर्तुः किं माषेष्वश्वं बध्नाति इत्यस्य कृति किं कृतपूर्वीकटमित्यस्य वा ग्रन्थस्याशयो वर्णनीयः। ५

( ६ )

बलिं भिक्षते वसुधाम्। जपमनुप्रावर्षत्। अध्ययनेन वसति। उत्पथेन पथे गच्छति। चैत्रात्पूर्वं फाल्गुनः। रोगस्य चौरज्वरः। सोमं पवमानः। यदत्र मामधिकरिष्यति। एषु पञ्चैव साध्याः। १०

साधकतमं करणमिति सूत्रस्थतमब्ग्रहणस्य फलं स्पष्टं प्रदर्श्य, शेषे विभाषेति वचनस्य तात्पर्यं लिखत। १०

( ७ )

दर्शयति हरिं भक्तान्। अक्ष्णा काणः। नमस्कुर्मो नृसिंहाय। स्वस्ति गोभ्यो भूयात्। ग्रामाद्बहिः। ब्राह्मणस्य कुर्वन्। अधिरामे भूः। एषु केचन पञ्च विशिष्टविभक्तिविधायकशास्त्रनिर्देशपुरःसरं साध्याः। १०

( ८ )

शत्रूनगमयत्स्वर्गम्, ग्रामं समया, जटाभिस्तापसः, क्रूरमभिक्रुध्यति, न त्वां शुने मन्ये, प्राक् प्रत्यग् वा ग्रामात्, हरिं दिदृक्षुः, उपपरार्धे हरेर्गुणाः, एषु केचन पञ्चैव प्रयोगाः साधु साधनीयाः। १०

कर्तुरीप्सिततमं कर्मेति सूत्रस्य तमब्ग्रहणस्य कर्तृकर्मणोः कृतीति सूत्रस्थकृतिग्रहणस्य वा प्रयोजनं सुस्पष्टं लेखनीयम्। ७

( ९ )

हरिं भजति। माणवकं धर्मं ब्रूते। धिक् कृष्णाभक्तम्। अक्ष्णा काणः। पशुना रुद्रं यजते। नमस्करोति देवान्। अप हरेः संसारः। सर्पिषो नाथनम्। शतं दायी। एषु केषाञ्चित्पञ्चानाम्प्रयोगाणां साधुत्वम्प्रदर्श्य प्रातिपदिकार्थसूत्रे परिमाणग्रहणस्य फलं ब्रूत। १०

अथवा—ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते। गां गोग्धि पयः। वेदमध्यापयद्विविधिम्। अपि स्तुयाद् विष्णुम्। अध्ययनेन वसति। ग्रामाय ग्रामं वा गच्छति। मातुः स्मरति। मातरि साधुः। एषु केषाञ्चित्पञ्चानां साधुत्वम्प्रदर्श्य मन्यकर्मणीतिसूत्रे तमब्ग्रहणस्य फलम्प्रदर्शयत।

साधकतममिति सूत्रे तमब्ग्रहणस्य फलं प्रदर्शयत। १०

कर्तुरीप्सिततमं कर्मेति सूत्रे कर्तृग्रहणस्य प्रयोजनं साधु प्रदर्शयत । ६

( १० )

हे राम । अविनीतं विनयं याचते । क्रोशमास्ते । सर्वतः कृष्णं गोपाः । हरये रोचते भक्तिः । फलेभ्यो याति । ग्रामादायाति । शतस्य दीव्यति । एषां साधुत्वम्प्रदर्श्य कर्तृकर्मणोः कृति-इति सूत्रे कृति-इति पदस्य फलमुपपादयत । १०

अथवा—नीचैः । वृक्षमवचिनोति फलानि । शत्रूनगमयत्स्वर्गम् । यागाय याति । अन्तरा त्वां मां वा हरिः । विप्राय गां ददाति । हरिं दिदृक्षुः एषां साधुत्वम्प्रतिपाद्य पारे मध्ये षष्ट्या वा इति सूत्रे वाग्रहणस्य प्रयोजनमुपदर्शयत ।

( ११ )

हरिं भजति, ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते, आसयत्सलिले पृथ्वीम्, मासं कल्याणि, अग्नये स्वाहा, चौराद्बिभेति, व्रजं गामी, गवां स्वामी, एषु केषाञ्चित्सप्तानां साधुत्वम्प्रदर्श्य प्रातिपदिकार्थसूत्रे परिमाणग्रहणं सफलयत । १०

श्रीः, व्रजमवरुणद्धि गाम्, अक्ष्णा काणः, नाययति भारं भृत्येन, सुसिक्तम्, जटाभिस्तापसः, मातुः स्मरणम्, एषु सप्तानां सिद्धिं विधाय साधकतममिति सूत्रे तमप्प्रयोजनं प्रदर्शनीयम् ।

( १२ )

बलिं याचते वसुधाम् । वेदमध्यापयद्विधिम् । अधिवसति वैकुण्ठं हरिः । अक्ष्णा काणः । हरये रोचते भक्तिः । विप्राय गां प्रतिशृणोति । मातुर्निलीयते कृष्णः । चौरस्य रोगस्य रुजा । गोषु दुह्यमानासु गतः । अधिभुविरामः । एषु केषांचित् षण्णां साधुत्वमभिधाय कर्तुरीप्सिततममिति सूत्रे कर्तृग्रहणस्य प्रयोजनं ब्रूत । १०

अथवा—कुरून् स्वपीति । उपर्युपरि लोकं हरिः । पुत्रेण सहागतः पिता । होत्रे अनुगृणाति । धावतोऽश्वात् पतति । ग्रामस्य पुरः पुरस्तात् । छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः । एषु केषांचित् सप्तानां सिद्धिप्रकारं सम्यगुपपाद्यताम् ।

( १३ )

माणवकं धर्मं भाषते, सर्वतः कृष्णम्, अह्ना क्रोशेन वानुवाकोऽधीतः, विप्राय गां प्रतिशृणोति, यवेभ्यो गां वारयति, ग्रामस्य दक्षिणतः, शतस्य व्यवहरणम्, केशेषु चमरीं हन्ति, माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्यः आढ्यतराः, एषु केषांचित् सप्तानां साधुत्वमभिधीयताम् ।

अथवा—कर्तुः किं माषेष्वश्वं बध्नाति, गतिबुद्धीत्यादिसूत्रे गतित्यादिमित्यनयोराशयमक्तिकालं निरुच्य कृष्णाय शपते, आरात् वनात्, दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा, शतं दायी, सदृशः कृष्णेन वा, गोषु दुह्यमानासु गतः—एषु केचिच्चत्वारः प्रयोगाः साधु साधनीयाः ।

( १४ )

ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति, अविनीतं विनयं याचते, अभिनिविशते सन्मार्गम्, जटाभिस्तापसः, फलेभ्यो याति, दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य, आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन, अधिरामे भूः, गोषु गवां वा प्रसूतः, एषु केचित् पञ्च प्रयोगाः तत्तत्कार्यविधायकशास्त्रनिर्देशपुरस्सरं साधनीयाः । १०

( १५ )

अधितिष्ठति वैकुण्ठं हरिः, सर्पिषोऽपि स्यात्, अक्ष्णा काणः, पशुना रुद्रं यजते, मातुर्निलीयते कृष्णः, पञ्चकृत्वोऽह्नो भोजनम्, सीम्नि पुष्कलतो हतः, एषां केष्वपि पञ्चसु विभक्तिविधायकानि सार्थसूत्राणि लेख्यानि । १०

( १६ )

अभिनिविशते सन्मार्गम्, जटाभिस्तापसः, हरये क्रुध्यति, उपाध्यायादधीते, प्रासादात्प्रेक्षते, सर्पिषो नाथनम्, नृणां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः, एषु पञ्चसु विशेषसूत्राणि प्रदर्श्यापवर्गोपयोगनिर्धारणशब्देषु द्वयोरर्थो लेख्यः । १०

( १७ )

गां दोग्धि पयः, उभयतः कृष्णं गोपाः, दण्डेन घटः, यागाय याति, प्रद्युम्नः कृष्णात्प्रति, कृष्णस्य कृतिः, अधिभुवि रामः, अत्र पञ्चसु विशेषसूत्राणि प्रदर्श्य हेतुकरणयोर्लक्षणोदाहरणानि लिख । १०

( १८ )

परिमाणग्रहणसाफल्यं प्रदर्श्य वृक्षं सिञ्चति, मासं कल्याणी, होत्रे

ऽनुगृह्णासि, ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते, चौरस्य रोगस्य रुजा, रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत्—एषु विभक्तिविधायकानि सूत्राण्यर्थनिर्देशपुरस्सरमुल्लेख्यानि । १०

अथवा—'गतिबुद्धि' सूत्रप्रयोजनं विलिख्य, पापेऽभिनिवेशः, सर्पिषोऽपि स्यात्, प्राग् प्रत्यग् वा ग्रामात्, ब्राह्मणस्य कुर्वन्,—एषु विभक्तिविधायकानिसूत्राणि निर्दिश्य, ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिभ्यां पर्यायेण सप्तमी' अस्याः पंक्तेराशयो व्याख्येयः ।

( १९ )

कारकशब्दस्य कोऽर्थं इति सप्रमाणं विलिख्य पापेऽभिनिवेशः, जपमनुप्रावर्षत्, चैत्रात्पूर्वः फाल्गुनः, गोषु दुह्यमानासु गतः, एषु यथासम्भवं विभक्तिविधायकसूत्राणि निर्दिश्यन्ताम् । १०

कारकशब्दस्य कोऽर्थं इति विविच्य सूत्रे ज्ञानसामान्यार्थानामेव ग्रहणमित्यस्य फलञ्च प्रदर्श्य श्यना निर्देशात्तानादिकयोगे न इत्यस्याशयो वर्णनीयः । १०

( २० )

शत्रूनगमयत्स्वर्गमित्यारभ्य यः स मे श्री हरिर्गतिरित्यन्तं सार्थकारिका व्याख्याय 'येषां देशकालादिभिन्नं कर्म न सम्भवति तेऽत्राकर्मकाः' इति प्रघट्टकस्याशयं प्रस्फोटयत । १०

अभिवादयते देवं भक्तं भक्तेन वा, ग्रामं समया, जपमनु प्रावर्षत्, अह्ना क्रोशेन वानुवाकोऽधीतः; गोपी स्मरात्कृष्णाय श्लाघते, पापाज्जुगुप्सते, चर्मणि द्वीपिनं हन्तीति प्रयोगान् संसाध्य 'तमब्ग्रहणं किम् ? गङ्गायां घोषः' इत्यस्याः फक्किकाया आशयं लिखत । १०

( २१ )

प्रातिपदिकार्थसूत्रे परिमाणग्रहणस्य फलं प्रदर्श्य, कारकपदार्थस्य लक्षणं विलिख्य च हरिं भजति, ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति, क्रोशमास्ते इति प्रयोगान् सूत्रोल्लेखपुरःसरं साधयत ।

अथवा—"तमब् ग्रहणं किं पयसा ओदनं भुङ्क्ते' इति पङ्क्तेराशयमुपपाद्यासाधारणफलञ्च तमस्योपवर्ण्य—अभिनिविशते सन्मार्गम्, जपमनु प्रावर्षत्, सर्पिषोऽपि स्यात्, एते प्रयोगाः साधु साध्यन्ताम् ।

( २२ )

प्रातिपदिकार्थस्वरूपमुदाहरणञ्च प्रतिपाद्य, कुरून् स्वपिति, अधिवसति वैकुण्ठं हरिः, अतिदेवान् कृष्णः, जटाभिस्तापसः, क्रूरमभिक्रुद्ध्यति, फलेभ्यो याति एतेषु चतुरः प्रयोगान् साधयत ।

( २३ )

कृष्णः माणवकं धर्मंब्रूते, दर्शयति हरिं भक्तान्, अक्षैः अक्षान् वा दीव्यति, हरये रोचते भक्तिः, ग्रामस्य दूरं दूरात्, दूरेण वा, मया मम वा सेव्यो हरिः, अधि भुवि रामः, एषु विशेषसूत्रनिर्देशपुरस्सरं पञ्च प्रयोगाः साधनीयाः ।

तमब् ग्रहणं किम् ? गङ्गायां घोषः, इति पङ्क्तेराशयो वर्णनीयः ।

( २४ )

श्रीः, माणवकं धर्मं ब्रूते, भक्ष्यति अन्नं बटुना, सुसिक्तम्, यागाय याति, चैत्रात् पूर्वः फाल्गुनः, मया मम वा सेव्यो हरिः, यदत्र मामधिकरिष्यति—एषु पञ्च प्रयोगाः तत्तत्संज्ञाविभक्तिविधायकसूत्रनिर्देशपुरस्सरं लेखनीयाः ।

सर्पिषोऽपि स्यादिति प्रयोगः शङ्कासमाधानविवेचनद्वारा लेख्यः ।

( २५ )

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा इति सूत्रस्याशयः नव्यप्राच्यमतेन प्रातिपदिकार्थत्वं निरूपणपुरस्सरम् वर्णनीयः । १०

अथवा—साधकतमं करणम् इति सूत्रे तमब्ग्रहणस्य किम् फलमिति विवेचनीयम् ।

हरिः वैकुण्ठमध्यास्ते, हरिमभिवर्तते, पुण्येन दृष्टो हरिः, हरये रोचते भक्तिः, हरये द्रुह्यति, परि हरेः संसारः, विचित्रा जगतः कृतिर्हरेः, आयुक्तो हरिपूजने; इत्येषु प्रयोगेषु पञ्च प्रयोगाः तत्तत्संज्ञाविभक्तिविधायकशास्त्रनिर्देशपुरस्सरं लेखनीयाः । १०

—*०*—

# कारकान्त-सूत्रसूची

सूत्रांक



सूत्रांक



सूत्रांक



